(गोविन्द माधव)

गीता–ज्ञान

तृतीयोऽध्यायः

कर्मयोग

(चौथा खण्ड)

विनयावनत–

ब्रह्मशंकर शास्त्री

(पुस्तक संख्या–04)

➢ प्रकाशक की ओर से–

श्रीमद्भगवद्गीता के 21 खण्डों के भाष्य **'गीताज्ञान'** का यह चौथा खण्ड है। इस खण्ड में श्री गीता जी के तीसरे अध्याय की व्याख्या विस्तृत रूप से प्रस्तुत की गई है। श्री गीता जी का तीसरा अध्याय **'कर्मयोग'** विषयक है। इस अध्याय में श्री भगवान ने कर्म की विशिष्ट स्थितियों का निरूपण किया है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में कर्मो का सम्पादन करना पड़ता है। मनुष्य जो भी कर्मो का सम्पादन करता है उसका परिणाम भी होता है। कोई भी कर्म परिणामविहीन नहीं होता और यदि मनुष्य के कर्म परिणामविहीन होने लगे तो यह विशिष्ट स्थिति है। जिसके लिए श्री भगवान आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट जैसी स्थितियों का निरूपण करते हैं। वस्तुतः कर्म की गति गहन है। अर्थात् कर्मो के सम्पादन की प्रक्रिया बहुत जटिल है। इसलिए मनुष्य को बहुत प्रयास से यह जानना चाहिए कि शास्त्रसम्मत कर्म क्या हैं ? और शास्त्र के प्रतिकूल कर्म क्या हैं ? शास्त्रसंगत कर्म और शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो के अंतर का जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं होता तब तक वह शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो का परित्याग नहीं करता और शास्त्रसंगत कर्मो की ओर उन्मुख नहीं होता। इसलिए शास्त्रसंगत कर्मो का ज्ञान होना अनिवार्य है तभी मनुष्य नियत कर्म का सम्पादन कर सकता है। जब मनुष्य नियत कर्मो का सम्पादन करने लगता है तब वह समस्त कर्मो का संसार में अर्पण नहीं करता। वरन् उसका अर्पण परमात्मा की ओर होने लगता है। यही विशिष्ट तथ्य है जो इस गीता ज्ञान के 21 खण्डों के भाष्य में चौथे खण्ड के रूप में निरूपित किया गया है। आशा है सभी साधक कर्मयोग की व्याख्या से लाभान्वित होंगे।

➢प्रकाशक

➢समर्पण

मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य भगवान की प्राप्ति है। जिस प्रकार हम संसार में किसी वस्तु और स्थिति को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयास करते हैं उसी प्रकार हमें सम्पूर्ण शक्ति लगाकर श्री भगवान की प्राप्ति का कर्म करना चाहिए। क्योंकि इसीलिए हम सभी को श्री भगवान ने यह अमूल्य जीवन प्रदान किया है और यदि हम भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होते तथा प्रयत्नशीलता के अभाव में श्री भगवान की प्राप्ति नहीं हो पाती तो यह हमारे मानव जीवन की निरर्थकता है अर्थात् हमने अपना मानव जीवन निरर्थक कर दिया है और अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति में उसे व्यर्थ कर दिया।

श्री भगवान ने मानव को कर्म करने का अधिकार दिया है। इस तथ्य को श्री भगवान ने दूसरे अध्याय में निरूपित किया था। परन्तु कर्म करने का जो अधिकार श्री भगवान ने मनुष्य को दिया तो यह मनुष्य पर उसने विशेष कृपा दिखाई है। इस भगवद्कृपा का हम सदुपयोग अपने जीवन में किस प्रकार करके भगवान की सान्निध्यता प्राप्त कर सकते हैं। इस तथ्य का निरूपण कर्मयोग नामक गीता जी के तीसरे अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। चूंकि कर्मयोग के सम्बंध में श्री भगवान ने विशिष्ट तथ्यों का प्रकटीकरण किया है। इसलिए यह गीताज्ञान रूपी कर्मयोग की व्याख्या का **चौथा खण्ड** भगवान श्री गोविन्द के चरणों में सादर समर्पित है। क्योंकि वे ही मनुष्य को ऐसे कर्मो का सम्पादन करने की प्रेरणा देते हैं जिससे श्री भगवान की सान्निध्यता प्राप्त होती है। अंततः श्री भगवान के चरणों में इस गीता ज्ञान रूपी गीता जी की व्याख्या को समर्पित किया जा रहा है।

○ ब्रह्मशंकर शास्त्री

➢एक विचार

निरन्तर साधना एवं श्री भगवान के प्रति असीम श्रद्धा के बिना श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद एवं ब्रह्मविद्या रूपी शास्त्र को व्याख्यापित किया जा पाना संभव नहीं है। निरन्तर साधना के कई आयाम और असीम श्रद्धा की कई स्थितियां हैं। निरन्तर साधना का एक ही अर्थ है कि श्री भगवान को उठते बैठते, खाते पीते, चलते फिरते, सोते जागते स्मरण में रखा जाए और वाणी से श्री भगवान के नाम का जप किया जाए। जब जागृत अवस्था में जप और स्मरण चलता है तब सुषुप्ति अवस्था में अर्थात् निद्रा काल में श्वांस प्रश्वांस में नापजप भी चलता है। निद्रा आ जाए तथा जागते हीं स्वतः नापजप होने लगे और भगवान का स्मरण आ जाए। तो यह सोते समय भी स्मरण माना जाता है।

असीम श्रद्धा में साधक श्री भगवान का एक मात्र आश्रय ग्रहण कर लेता है। ऐसी स्थिति में उसे जगत के आश्रय की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह स्थिति आ जाने पर सुख दुःख में सम रहने का भाव उत्पन्न हो जाता है। सुख में प्रसन्नता की अनुभूति हो जाना और दुःख आने पर उदिग्न हो जाने की स्थिति आना श्री भगवान की असीम श्रद्धा की परिपक्वता के प्रतिकूल स्थिति है। साधक अपने को भगवान के अर्पण कर देता है और पूर्ण निश्चित हो जाता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी मां की गोद में निश्चिन्त होकर अभय सोता है और परम सुख का अनुभव करता है। बालक मां की गोद में मल मूत्र भी त्यागता है। पर मां उसका कभी बुरा नहीं मानती और उदिग्न भी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान भी भक्त को अपनी गोद में रखते हैं और अपने से विमुख नहीं होने देते तथा उसका स्वयं हित साधते हैं।

भगवद्गीता के श्लोकों का अर्थ स्वतः प्रकट होता है। स्वयं प्रतीत होता है। साधना में रत रहने पर, भगवान के आश्रय को ग्रहण कर लेने पर कठिन स्थल सहज प्रतीत होते हैं। श्रीगीता जी में अन्य स्थलों पर अन्य शास्त्रों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु अधिकांश स्थल अनुभूति से सम्बंधित हैं प्रयोगात्मक हैं। जिनके लिए साधक को स्वयं को स्वतः परखने का अवसर मिलता है। साधक को ऐसी स्थितियों का स्वयं परीक्षण करना चाहिए और भगवान के परमाश्रय में रहकर उसकी सान्निध्यता का आभास करना चाहिए। विशिष्ट स्थिति प्राप्त करने के लिए वैसी प्रयत्नशीलता आवश्यक होती है जैसी हम संसार की किसी विशिष्ट वस्तु और स्थिति को प्राप्त करने के लिए करते हैं। सांसारिक प्रयत्नशीलता में हम पूरी शक्ति से किसी वस्तु स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। वैसी ही प्रयत्नशीलता श्री भगवान की प्राप्ति के प्रति हो जाए तो हमारा कल्याण हो जाता है और हम गीता रूपी शास्त्र में जो कुछ वर्णित है उसका सहजता से अनुभव करने लगते हैं।

➢उत्कृष्ट साधक के लक्षण

- शान्त भाव से रहता है अर्थात् उसमें चंचलता का अभाव हो जाता है। क्योंकि सांसारिक व्यक्ति में अशान्ति रहती है और चंचलता रहती है।
- अनावश्यक वार्तालाप नहीं करता है। कुछ पूंछे जाने पर अथवा उचित प्रश्न का तर्कसंगत और संक्षिप्त उत्तर देता है। तर्क नहीं करता है।
- दूसरों के द्वारा कहे गए विषय को शान्तरूप से ग्रहण करता है और अनावश्यक तथ्यों को छोड़ देता है ग्रहण नहीं करता है तथा अपनी वाणी का बहुत कम प्रयोग करता है।
- सांसारिक भोगों को उदासीनवत् भाव से देखता है और सांसारिक भोगों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।
- एक मात्र श्री भगवान को ही अपना आश्रय समझता है तथा समस्त प्रकार के सांसारिक आश्रयों का परित्याग कर देता है।
- अन्य व्यक्तियों के दोषों को नहीं देखता। इस कारण द्वेषभाव से पृथक् रहता है।
- श्वास पर प्रश्वांस की गति पर नियंत्रण रखकर अल्पकाल में ही गहन निद्रा में खो जाता है तथा अल्पकाल में ही स्वस्थता का अनुभव करता है।
- माता, पिता, आचार्य, संत महात्मा, सद्ग्रंथों के प्रति पूज्य भाव रखता है तथा श्री भगवान के प्रति अनन्य चिंतन का प्रयास करता है।
- किसी से उद्विग्न नहीं होता और किसी को उद्विग्न नहीं करता। अर्थात् कोई व्यक्ति न तो उससे दुःखी होता है और न ही वह किसी से दुःखी होता है।
- सम्मान तथा प्रसन्नता मिलने पर प्रसन्नता का आभास नहीं करता और अपमानित होने पर दुःख का आभास नहीं करता।
- सत्संग के सेवन तथा आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन में सदैव प्रवृत्त रहता है।
- सीमित मात्रा में भोजन करता है और अल्प भोजन से ही तृप्त हो जाता है।
- प्राणी मात्र के हित की बातें विचारता है तथा स्वार्थपरता से पृथक् रहता है।
- सभी का हित हो स्वयं का हित न हो इस भाव से उसके समस्त कर्म होते हैं।

- साधना से अपने शरीर में विशेष प्रकार की शक्ति संचित कर लेता है। इस कारण अनेक प्रकार की व्याधियों से स्वतः मुक्त हो जाता है।
- किसी कारणवश किसी विसंगति से अथवा प्रारब्धवश अस्वस्थ हो जाने पर भगवान का स्मरण करता है तथा अपनी व्याधि को समाप्त करने का प्रयास करता है।
- तंत्र मंत्र, ग्रह नक्षत्र, हस्त रेखा, ज्योतिष, तांत्रिक विद्या आदि में विश्वास नहीं करता। इन सभी को तथ्यहीन मानता है।
- क्रोध का अभाव सा हो जाता है और कामनाऐं अत्यंत सीमित रह जाती हैं। इस कारण वस्तुओं का अधिक संकलन भी नहीं करता और वस्तुओं का अधिक संकलन न होने से उनके क्षय की आशा समाप्त हो जाती है। इसलिए क्रोध का अभाव होता है।
- उच्च स्थिति का साधक एकान्त प्रिय होता है तथा जन समुदाय के प्रति उसकी प्रीति नहीं होती अर्थात् वह एकान्त में श्री भगवान के प्रति उन्मुख रहता है।

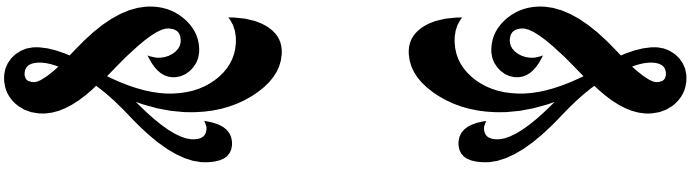

• प्रेरणा

- कर्म हमारे जीवन का आधार हैं तथा अच्छी और बुरी योनियो में जन्म लेने का कारण हैं। इस कारण हमें अपने कर्मो के सम्पादन में पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए। किसी भी कर्म करने में एक तथ्य विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि हमारे द्वारा जिन कर्मो का सम्पादन हो रहा है उससे कोई व्यक्ति उदिग्न तो नहीं हो रहा है अथवा समाज में अराजकता तो नहीं फैल रही है। अथवा समाज का नैतिक पतन तो नहीं हो रहा है। दूसरा एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम स्वार्थपरता का परित्याग करके सभी के कल्याण के लिए कर्म करें। क्योंकि सभी प्राणीमात्र के हित के लिए कार्य करने से हमारा भी कल्याण हो जाता है।
- कर्मो के सम्पादन की सुगमता का अधिकार श्री भगवान ने हमें प्रदान किया है पर हमें इस प्रकृति प्रदत्त अधिकार का दुरुपयोग कदापि नहीं करना चाहिए। यदि हमने इस प्रकृति द्वारा प्रदान किए गए अधिकार का दुरुपयोग किया तो श्री भगवान हमें इस अधिकार से वंचित कर देंगे और पशु पक्षी आदि योनियों में भेज देंगे।
- दुष्कर्मो का क्रियान्वयन विषरूप है। कोई व्यक्ति जानबूझकर विष का सेवन नहीं करता। इस कारण हमें दुष्कर्मो के क्रियान्वयन से सदैव बचकर रहना चाहिए। ताकि विषरूप दुष्कर्म हमें मृत्यु के पूर्व न मार डाले।
- भगवान का स्मरणरूपी कर्म सर्वश्रेष्ठ कर्म है। इस कर्म से मनुष्य के कल्याण का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है। भगवान की कृपा बरसती है। भगवान की दया प्रतीत होती है। उसकी सान्निध्यता का आभास होने लगता है। इस कारण श्री भगवान के स्मरणरूपी कर्म को करना उचित है।
- प्रत्येक मनुष्य को यह यथेष्ट है कि वह शास्त्रों के अध्ययन से कर्म अकर्म और विकर्म का अंतर भली प्रकार समझ ले। कर्तव्य कर्मो के आचरण को प्राथमिकता देकर कर्म का आचरण करे।

- कर्तव्य कर्म के आचरण से मनुष्य धीरे–धीरे कर्मो का परमात्मा में अर्पण करने लगता है और सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।
- सांसारिक भोगों के परित्याग का कार्य मनुष्य को करना चाहिए वह सांसारिक भोगों की ओर कभी उन्मुख न हो इसको मल स्वरूप समझकर दूर से ही उसका परित्याग कर दे।
- मनुष्य को प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि प्रतिकूलता हमारे अपने कर्मो के परिणाम से हमें प्राप्त होती है। कर्म के सुधार से प्रतिकूल परिस्थितियां स्वतः समाप्त हो जाती हैं। यह तथ्य उसी प्रकार का है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अंधकार समाप्त हो जाता है।
- गंभीर प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर साधक को भगवान के स्मरणरूपी कर्म का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति में जब हम श्री भगवान को पुकारते हैं तो वह निश्चित ही हमारी पुकार को सुनता है और हमारी प्रतिकूलता को निश्चित रूप से समाप्त करता है।

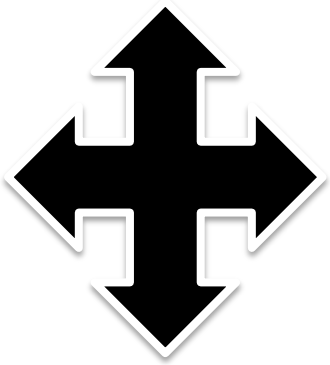

1– कर्मयोग के विशिष्ट विषय :–

- कर्मो के आरम्भ न करने से मनुष्य को निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती।
- कर्मो का परित्याग कर देने से सिद्धि नहीं प्राप्त होती।
- मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।
- प्रत्येक मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणों के कारण कार्य करने को बाध्य है।
- मन से भोगों का चिंतन करने वाला व्यक्ति मिथ्याचारी कहा जाता है।
- मन से इन्द्रियों को नियंत्रित करके जो कर्म करता है वह व्यक्ति श्रेष्ठ है और विशिष्ट है।
- शास्त्रसम्मत कर्मो का मनुष्य को सदैव आचरण करना चाहिए।
- कर्म न करने से शरीर का निर्वाह नहीं होता।
- कर्तव्य कर्मो के अतिरिक्त जो भी कर्म हैं वह बंधन के कारण हैं।
- यज्ञ से अवशिष्ट पदार्थ खाने वाला समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।
- अपने लिए मात्र जो भोजन पकाते हैं अर्थात् केवल स्वयं की स्वार्थ सिद्धि के लिए कार्य करते हैं वह तो पाप ही खाते हैं।
- जो आत्मरत हैं जो आत्मतृप्त और आत्म संतुष्ट हैं उनके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है।
- सिद्ध व्यक्ति का कोई कर्म करने से और कर्म न करने से प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि उसका किसी अन्य व्यक्ति से कोई स्वार्थ अवशेष नहीं रहतां
- आसक्तिरहित कर्तव्य कर्म से मनुष्य परमात्मा को स्वतः प्राप्त हो जाता है।
- समाज में जिस प्रकार का कर्म श्रेष्ठ व्यक्ति करते हैं वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं।
- श्री भगवान के लिए कुछ अप्राप्त नहीं है। फिर भी वह कर्तव्य कर्मो का आचरण करते हैं।
- श्री भगवान यदि कर्तव्य कर्म का उचित आचरण न करें तो यह संसार ही विनिष्ट

हो जाएगा।

- तत्त्वदर्शी पुरुष स्वयं युक्त आचरण करे और वह अन्य लोगों की बुद्धि में भ्रम न उत्पन्न करे।
- समस्त कर्म प्रकृतिजन्य गुणों के कारण ही होते हैं। पर मूढ़बुद्धि मनुष्य स्वयं को कर्ता मान लेता है।
- तत्त्वदर्शी पुरुष यह जानता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। इसलिए वह गुणों के कार्य में आसक्त नहीं होता।
- समस्त कर्मो का आचरण भगवान को समर्पित करके निराशी, निर्मम, विगतज्वर हो जाऐं।
- इन्द्रिय तथा उनके अर्थो अर्थात् विषयों में जो रागद्वेष है उनके वश में न हों।
- स्वधर्म का आचरण श्रेयस्कर है। स्वधर्म में मृत्यु भी कल्याण का कारण होती है और दूसरे के धर्म का आचरण भयकारक है। इसलिए मनुष्य को स्वधर्म का आचरण करना चाहिए।
- कामनाऐं शत्रुवत् हैं। इससे मनुष्य का विवेक आवृत हो जाता है। अर्थात् ढक जाता है।
- मन तथा बुद्धि और इन्द्रियां कामनाओं के वास स्थान कहे जाते हैं।
- ज्ञान विज्ञान के विनाशक कामना को अवश्य समाप्त करें और उसे बलपूर्वक मारें।
- इन्द्रियों से परे मन है मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे कामनाऐं हैं।

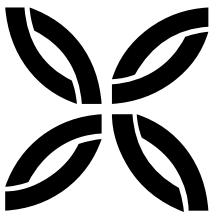

2– कर्मयोग के पांच विशिष्ट विषय :–

(1) कर्म की गति गहन है :–

श्री भगवान ने गीता जी के चौथे अध्याय में **गहना कर्मणो गतिः** कहकर यह स्पष्ट किया है कि कर्म की गति अत्यंत गहन है। इसी प्रकार श्री भगवान ने गीता जी के सातवें अध्याय के 14वें श्लोक में कहा–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

अर्थात् भगवान की त्रिगुणीमयी माया अत्यंत दुष्तर है। कर्म की गति का गहन होना और माया का दुष्तर होना बड़े ही रहस्यपूर्ण तथ्य हैं। कर्म की गति इतनी रहस्यप्रद है कि बुद्धिमान पुरुष भी शास्त्रसंगत कर्मो और शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो में अंतर नहीं कर पाते और कभी–कभी भ्रमित हो जाते हैं। इसी प्रकार माया का कार्यरूप पृथ्वी लोक से ऊपर के लोको तक है और इतना अधिक विस्तार है कि सम्पूर्ण जीवन मनुष्य माया के कार्यरूप में ही उलझा रहता है। इसीलिए श्री भगवान ने ऐसा कहा कि कर्म की गति भी गहन है और माया से पार जाना भी दुष्तर है। मनुष्य जो भी कर्म करता है उस पर परमात्मा के द्वारा नियुक्त 14 शक्तियां नियंत्रण रखती हैं। इन शक्तियों को 1– सूर्य 2– अग्नि 3– आकाश 4– वायु 5– इन्द्रियां 6– चन्द्रमा 7– संध्या 8– रात्रि 9– दिवस 10– दिशाऐं 11– जल 12– पृथ्वी 13– काल 14– धर्म कहते हैं। वे अपनी अपनी दृष्टि रखते हैं। इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय है कि मनुष्य के द्वारा जो भी कर्मो का सम्पादन होता है उन्हें 14 शक्तियां देखती हैं। मनुष्य मनसा वाचा कर्मणा जो भी कार्य करता है उन पर 14 शक्तियों की दृष्टि रहती है। इस कारण मनुष्य को प्रत्येक कर्म समझ बूझकर सोंच विचार कर बुद्धि की विवेक नामक शक्ति के अधीन रहकर करना चाहिए अर्थात् कर्मो का विनिश्चय बहुत ध्यान से करना चाहिए। क्योंकि कर्म मन से होता है। वचन से होता है तथा उसका क्रियान्वयन इन्द्रियों से होता है। इस कारण उसी प्रकार के साक्षीगणों की व्यवस्था परमात्मा के द्वारा की गई है। तीन प्रकार के कर्मो के साक्षी निम्न प्रकार हैं–

1– मानसिक कर्मो के साक्षी :– आकाश, धर्म, काल।

2– वाचिक कर्मो के साक्षी :– रात्रि, दिवस, संध्या, दिशाऐं।

3– कर्म के साक्षी :– सूर्य, अग्नि, इन्द्रियां, वायु, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य में जो चेतन **तत्त्व** आत्मा है और प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित जो परमात्मा है वह भी हमारे कर्मो का साक्षी है। अर्थात् साक्षी स्वरूप में स्थित है। शरीर रूपी वृक्ष में दो पक्षी आत्मा और परमात्मा बैठे हुए हैं। यह उसी प्रकार कार्य करते हैं जैसे किसी भवन में वहां की गतिविधि देखने के लिए कैमरे लगा दिए जाते हैं। उसी प्रकार हमारे कर्मो पर दृष्टि रखने के लिए यह दो परम साक्षी भी उपस्थित रहते हैं। इनकी उपस्थिति तीनों अवस्थाओं में रहती है और यह सम्पूर्ण व्यवस्था को सम्यक् प्रकार से नियंत्रित करते हैं। मनुष्य के जो भी कर्म होते हैं उन समस्त कर्मो का अंकन परमात्मा की व्यवस्था में किया जाता है अर्थात् क्षण प्रतिक्षण हमारे कर्मो का संकलन परमात्मा के द्वारा उपरोक्त साक्षियों के द्वारा होता रहता है। यह बिना रूकावट के निरन्तर चलता रहता है।

परमात्मा द्वारा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं का निर्माण किया गया है। उसका एक विशिष्ट अभिप्राय है कि जागृत अवस्था में हमारे समस्त कर्मो का, हमारी सभी गतिविधियों का संकलन होता है यह हम जान भी नहीं पाते। सामान्य व्यक्ति यह तथ्य नहीं जानता परन्तु उत्कृष्ट साधक यह तथ्य जानता है। जिस प्रकार सत–असत का ज्ञान **तत्त्व**दर्शी पुरुषों को हो जाता है उसी प्रकार उत्कृष्ट साधक भी कर्म के रहस्य को जान लेता है। सामान्य व्यक्ति नहीं जान पाता। जागृत अवस्था की हमारी समस्त गतिविधियों का संकलन होता रहता है और यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। स्वप्नावस्था में भी हम जो स्वप्न देखते हैं वह हमारे जागृत अवस्था के विचारों से अधिकांश प्रभावित रहते हैं अर्थात् हमें जो स्वप्न आते हैं वह भी हमारे जागृत अवस्था का परिणाम है। इस प्रकार स्वप्न हमारे चिंतन का दर्पण हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के कर्मो का क्रियान्वयन भी स्वप्नावस्था में हमें प्रतीत होता है। जिनका सम्बंध हमसे दूर दूर तक नही होता। यह अत्यंत रहस्यप्रद तथ्य है कि हम जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते भी नहीं है और विचार भी नहीं करते हैं उस सम्बन्ध में भी स्वप्नावस्था में हमें बोध होता है। सुषुप्ति अवस्था में हमारी इन्द्रियां मन और बुद्धि की समस्त क्रियाऐं समाप्त हो जाती हैं। बुद्धि की सारी क्रियाविधि भी शान्त हो जाती है। इस स्थिति में हमारे सभी कर्मो के साक्षी भाव भी समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी कार्यालय में कार्यालय की गतिविधि कार्यालय के समय में ही होती है और कार्यालय के बंद होने पर वह नहीं होती। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भी हमारी प्रत्येक गतिविधि समाप्त हो जाती है और हम निचेष्ट होकर निद्राकाल में पहुंच जाते हैं।

जिस प्रकार किसी स्थान पर भी तेज प्रकाश करके उस स्थान की प्रत्येक स्थिति पर दृष्टि रखी जाती है उसी प्रकार यह साक्षीगण भी हमारे समस्त कर्मो पर अपने तेज

प्रकाश से सब कुछ देख लेते हैं। उन्हें हमारे समस्त कर्म और हमारी गतिविधि स्पष्ट प्रतीत होती है। रात्रि अवस्था में भी वह छिपी नहीं रहती। जहां अंधकार है वहां भी उनकी दृष्टि रहती है। इस प्रकार हमारे जो भी कर्म हैं वे साक्षीगणों की दृष्टि से छिपे नहीं रहते। मनुष्य के मन में कभी–कभी यह विचार रहता है कि हम जो भी कर्म कर रहे हैं उसे अन्य कोई नहीं देख रहा है। परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे प्रत्येक कर्म परमात्मा की व्यवस्था में देखे जा रहे हैं।

परमात्मा ने मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता दी है तथा साक्षीगणों को नियुक्त करके उन पर नियंत्रण करने की व्यवस्था स्वयं अपने पास रखी है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** का यही अभिप्राय है कि मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है। यह कर्म स्वतंत्रता का प्रतीक है। परन्तु उसके परिणाम को परमात्मा ने अपने पास रख लिया है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म के आचरण की नियमावली बनी हुई तथा उसकी देख रेख के लिए साक्षीगणों की नियुक्ति की है। यह नियमावली शास्त्रों के रूप में है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को यह अभीष्ट है कि शास्त्रसंगत कर्मो को जाने और उसी के अनुसार आचरण करे। हम सभी लोगों को जो दुःख प्राप्त होता है वह परमात्मा के द्वारा बनायी गयी नियमावली के अतिक्रमण का परिणाम है तथा जो सुख प्राप्त होता है वह नियमावली के अनुरूप आचरण का परिणाम है। नियमावली का अतिक्रमण का फल दुःख है और उसके पालन का परिणाम सुख है। शास्त्रसंगत कर्मो का आचरण मनुष्य क्यों नहीं कर पाता ? इसका क्या कारण है यह भी इस प्रकरण में स्पष्ट करना आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य कभी दुःख नहीं चाहता। परन्तु जिस कारण उसे दुःख मिलता है उन कारणों का जानना भी अनिवार्य है। अतः पहले उन कारणों का उल्लेख कर रहे हैं जिसके कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःख अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

1– कामना :–

मनुष्य अनावश्यक रूप से अनेक प्रकार की कामनाऐं करता है और उन कामनाओं की पूर्ति की लिए अनेक प्रकार के अशास्त्रसंगत अनैतिक कर्म करने को उद्धत होता है। इस कारण अपनी शक्ति के बाहर अपने सामर्थ्य के अतिरिक्त कामनाऐं मनुष्य को कभी नहीं करनी चाहिए। कामनाऐं करना अनुचित नहीं है परन्तु कामना की पूर्ति का प्रयास की जो अवैधानिक चेष्टा है वह अनुचित है। यदि हम परिश्रम से किसी शास्त्रसम्मत कामना की प्राप्ति का प्रयास करते हैं तो हम पापयुक्त नहीं होते हैं परन्तु जब हम स्वयं की कामनाओं की पूर्ति के लिए दूसरों के अधिकारों को छीनते हैं, दूसरों के अधिकारों के उपभोग की वस्तुओं को स्वयं उपभोग कर लेते हैं, दूसरों को पीड़ा पहुंचाकर कामनाओं की पूर्ति करना

चाहते हैं तो इसके परिणाम में हमें पाप प्राप्त होता है। इस कारण अनावश्यक रूप से कभी कामनाऐं न करें और उतनी ही कामनाऐं करें जिनकी पूर्ति शास्त्रसंगत प्रकार से हो सके। इसके लिए हम किसी को उद्विग्न न करें। यदि हमारी कामनाओं की पूर्ति में कोई दुःखी होता है तो वे कामनाऐं निश्चित रूप से अशास्त्रसंगत हैं और उनका प्रतिकूल परिणाम हमें निश्चित रूप से प्राप्त होगा।

2– क्रोध :–

कामनाओं में विघ्न पड़ने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध की उत्पत्ति न हो इसके लिए उसके मूल कारण कामना का ही त्याग करना पड़ेगा। हम सहसा अर्थात् अचानक क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं। ऐसा आपने देखा होगा। क्या कारण है ? कि हम अचानक क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं। तत्काल क्रोध आने के कुछ विशिष्ट कारण हैं।

- **किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा अपेक्षित व्यवहार न करने से तत्काल क्रोध आता है।**
- **किसी के द्वारा हमारी स्थिति के प्रतिकूल कुछ कह देने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है।**
- **किसी कार्य में हम जब उद्वत होते हैं तो उसमें किसी के द्वारा बाधा पहुंचाए जाने पर भी क्रोध उत्पन्न होता है।**
- **हमारे ऐश्वर्य को विनिष्ट करने का प्रयास करने वाले व्यक्ति पर भी हमें क्रोध आता है।**
- **हमारी पद प्रतिष्ठा के अनुरूप बर्ताव न करने पर भी हमें क्रोध आता है।**
- **हमारे सम्पर्कित व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने अथवा उसका अपमान करने पर भी क्रोध आता है।**
- **हमारे अहंकार पर चोट पहुंचाने के कारण भी क्रोध उत्पन्न होता है।**
- **दूसरों के द्वारा शिष्टाचार का पालन न करने के कारण भी क्रोध आता है।**
- **हमारे अनुरूप जब कोई व्यक्ति कार्य नहीं करता है तो भी हमें क्रोध आ जाता है।**

क्रोध के अन्य कारण भी हो सकते हैं। क्रोध को अग्नि स्वरूप भी कहा गया है। जिसके आचरण से कभी कभी ऐसे कार्य हो जाते हैं जो जीवनपर्यन्त हमें दुःखी रखते हैं। इस कारण हमें यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम क्रोध नहीं करेंगे। प्रत्येक स्थिति में क्रोध का परित्याग करेंगे। कोई स्थिति आयेगी तो संयमित रहकर इसको सहेंगे। साधकों ने यह अनुभव किया होगा कि क्रोध अचानक प्रकट हो जाता है। पर्याप्त सीमा तक उसे संयमित

कर लेने वाले साधकों में भी उसका प्रादुर्भाव अचानक होता है। इस अचानक प्रादुर्भाव होने वाली स्थिति से हमें बचना चाहिए। साधक की उत्कृष्ट स्थिति आने पर क्रोध का पर्याप्त सीमा तक शमन हो जाता है और वह कभी असहज नहीं होता। सहज रहता है।

आजकल आपने यह देखा होगा कि समाज में कई लोग क्षण क्षण क्रोध करते रहते हैं। अपने अधीनस्थ लोगों पर क्रोधपूर्ण दृष्टि रखते हैं। क्षण प्रतिक्षण क्रोध करने वाले व्यक्तियों को निकृष्ट कहा जाता है। अपना स्वयं का स्वभाव तो बिगाड़ते ही हैं अपना अहित भी करते हैं और दूसरों का भी स्वभाव बिगाड़ देते हैं। इस प्रकार उनके क्रोध से दो प्रकार की विसंगति उत्पन्न हो जाती है। एक तो वे स्वयं को क्रोधरूपी अग्नि में जलाते हैं और दूसरों को भी उदिग्न करते हैं। इससे पाप और प्रतिकूलताओं का प्रकटीकरण होता है। इस कारण क्रोध को अंतिम सीमा तक हमें नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिए और यदि वह पूरी तरह से समाप्त हो जाए तो यह विशेष स्थिति ही कही जाएगी। परन्तु जब तक कामनाऐं हैं तब तक क्रोध रहता है। इसलिए क्रोध के मूल कारण कामनाओं को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

3– मिथ्याचारिता :–

आज के समाज में मिथ्याचारिता रूपी दोष अधिक बढ़ गया है। अनेक लोग अनेक प्रसंगों में झूठ बोलते हैं और एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलते हैं। मिथ्याचारिता एक ऐसी प्रक्रिया है जो क्रमिक रूप से बढ़ती जाती है। जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त नहीं होता। जो यथार्थ जो सही स्थिति है उसके प्रतिकूल बोलना आचरण करना मिथ्याचारिता कहलाता है। पहले मिथ्याचारिता में मानसिक दोष होता है तथा मन उस मिथ्या आचरण के लिए ताने बाने बुनता है। पश्चात् में यह वाचिक दोष होता है अर्थात् उस मिथ्याचारिता का वाणी से क्रियान्वयन होता है। वाणी से क्रियान्वयन होने के पश्चात् मनुष्य पूरी तरह से मिथ्याचारितारूपी दोष से आवृत हो जाता है। हमें यथार्थ विचार करना और यथार्थ कहना चाहिए। मिथ्याचारितारूपी दोष भी हमारे पतन का एक प्रबल कारण है इससे हमें सदैव बचना चाहिए। मनुष्य मिथ्याचारिता के कारण समाज में भी अपनी स्थिति से गिर जाता है और अविश्वसनीय हो जाता है तथा अपने सम्मान को भी खो देता है। मिथ्याचारी व्यक्ति यदि सत्य का आचरण भी करे तो उसे समाज में संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। यह मिथ्याचारिता का ही परिणाम है।

4– लोभ :–

सांसारिक वस्तुओं तथा सांसारिक भोगों के प्रति लालच करना लोभ कहा जाता है।

अनेक पाप कर्म लोभ के कारण हो जाते हैं। सांसारिक वस्तुओं तथा सांसारिक भोगों का कोई अंत नहीं है। इस कारण लालच का भी कोई अंत नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए लोभ करता है तथा सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अनैतिक प्रकार का प्रयास करता है और अधिक से अधिक धन का उपार्जन करना चाहता है। यह लोभ का एक निकृष्ट रूप है। इससे हमें बचना चाहिए। भगवान ने कामना क्रोध और लोभ को त्यागने की बात कही है। इसलिए लोभ भी कामना और क्रोध की तरह हानिप्रद है।

हम जब अपने समस्त कर्म, क्रोध, कामना, लोभ और मिथ्याचारिता के अधीन करते हैं और यह मान लेते हैं कि हम जो कार्य कर रहे हैं वह ठीक है। यह विनिश्चय न कर पाना कि हम ठीक नहीं कर रहे है इसलिए श्री भगवान ने कहा कि कर्म की गति गहन है। कर्म की गति की गहनता ही काम, क्रोध, लोभ के अधीन मिथ्याचारिता में रखकर हमसे कर्म करवाती है जिससे हम बंधन को प्राप्त हो जाते हैं। कर्म की गति गहन है इस पर विचार के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि प्रातः से सायं तक हम किस दोष के अधीन कार्य करते हैं। यह आत्म निरीक्षण का कार्य है कि हम यह देखे कि हमारा कार्य किस दोष के अधीन चल रहा है ? अर्थात् हम अपने कर्म के प्रत्येक घटनाक्रम पर ध्यान रखे और कार्य के स्वरूप को देखे।

एक बालक दूसरे बालकों के साथ कुछ खिलौनों से खेल रहा है। कोई दूसरा बालक उसके खिलौनों को तोड़ देता है तो वह क्रोध में आकर रोने लगता है। उसे मारने को दौडता है। बालक की कामना उस खिलौने में है उसके तोड़े जाने पर क्रोध की उत्पत्ति बालक में हुई। उसने खिलौने के लोभ के कारण दूसरे बालक को पीटा। यह सब कर्म की गति की गहनता के कारण हुआ। ऐसे नहीं हुआ। बालक को यद्यपि कामना, क्रोध और लोभ का ज्ञान नहीं है। इसलिए उसे बंधन नहीं होता। यदि उसे इसका ज्ञान होता तो बंधन अवश्य होता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अज्ञानतावश कोई कार्य करता है तो उसके परिणाम में पाप की मात्रा कम रहती है और जो लोग जान बूझकर पाप का आचरण करते हैं उसमें पाप की मात्रा अधिक होती है। यहां पर एक तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शास्त्रों के अध्ययन से उचित अनुचित कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करे। उसे यह भी अपेक्षित है कि वह पाप और पुण्य को समझे। प्रत्येक राज्य के नियम होते हैं। उन नियमों की जानकारी सामान्य रूप से सभी को होती है। हमें जानकारी नहीं है और यदि कोई अपराध हो जाता है तो हम नियमों के अधीन दंड के भागी हो जाते हैं। न्यायालय यह नहीं देखता है कि हमें नियमों का ज्ञान है अथवा नहीं है।

इस प्रकार हमारा कर्तव्य है कि हम नियमों को जाने और उनका पालन करें। कर्म

की गहनता को समझें। अनेक सम्प्रदायों में अनेक महानुभाव **तत्त्व** दर्शन का सपना दिखाकर लोगों में मिथ्या प्रचार करते हैं और उन्हें शिष्य बनाते हैं। शिष्य बनाने और उनको दीक्षा देने में पर्याप्त धन ले लेते हैं। उन महानुभावों का यह कार्य **'कर्म की गति गहन'** के अधीन चल रहा है। वे महानुभाव **तत्त्व**दर्शी नहीं होते हैं परन्तु लोगों को **तत्त्व**दर्शन की झूठी लालसा देकर उन्हें ठगते हैं और अपने लोभ की पूर्ति करते हैं। यह **तत्त्व**दर्शन के प्रति मिथ्याचारिता है। यदि कोई सद्पुरुष ऐसे महानुभावों की निन्दा करता है तो वह उस पर क्रोध करते हैं। क्योंकि उसकी धन प्राप्ति की कामना में बाधा आ रही है। शिष्यों को मूर्ख बनाने का जो कार्य है वह नहीं हो पा रहा है। इस कारण क्रोध का प्रादुर्भाव होता है। इस कार्य में कामना भी है क्रोध भी है और मिथ्याचारिता भी है। इसलिए श्री भगवान ने कहा कि कर्म की गति गहन है और उसी गहन गति के अधीन वह महानुभाव मिथ्यारूप से **तत्त्व**दर्शन की बात कहता है। परमात्मा के समस्त कार्य स्वच्छ स्पष्ट और पारदर्शी होते हैं। किसी भी प्रकार से इस कारण उनको दोषी ठहराना संभव नही होता है। ठंडी हवा चलती है तो वह सभी को प्राप्त होती है। सूर्य की तपन सर्दी में सभी को मिलती है। बरसात में सभी के लिए जल प्राप्त होता है। वृक्ष की छाया सभी के लिए समानरूप से मिलती है। धरती का आधार सभी के लिए है। उससे जो अन्न उत्पन्न होता है उपजता है वह सभी के लिए है। चन्द्रमा प्रत्येक वनस्पति को पुष्ट करता है और उसमें भेदभाव नहीं करता। वह निस्वार्थता से कार्य कर रहा है। इसी प्रकार का कार्य भगवान को प्रिय है। मनुष्य जब सबका सुहृद होकर कार्य करता है तो उस पर कर्म की गहनता का तथ्य लागू नहीं होता है। वह बंधन में नहीं पड़ता है। बंधन मुक्त रहकर वह मुक्त हो जाता है। कर्म की गहनता के अधीन वह पाप का भागी नहीं होता। क्योंकि कर्म के तथ्य को वह समझ जाता है। जब तक हम कर्म की गहनता अर्थात् क्या करना उचित है ?क्या करना अनुचित है ? इस तथ्य को नहीं समझेंगे तब तक न किये जाने वाले कर्म करेंगे और उसी से हम बंधन में पड़ेंगे। कर्म की गति गहन है इसके अधीन रहकर मनुष्य अन्य कारणों से भी बंधन प्राप्त करता है तथा उचित अनुचित कार्य करता रहता है। यह कार्य क्यों करता है ? इसके कारण पर भी हमें विचार करना चाहिए।

(एक) भेदबुद्धि :–

मनुष्य का जो स्वभाव है वह अपने प्रति आसक्तिवश दूसरों की अपेक्षा भेदबुद्धि रखता है। स्वयं के द्वारा अवैधानिक कार्य किये जाने को भी सही ठहराने का प्रयास और दूसरों के सही कार्यो को अवैधानिक सिद्ध करने का प्रयास भेदबुद्धि के अन्तर्गत आता है। न्याय का सिद्धान्त यहां पर धूमिल होता है। हम अपने प्रति जैसा न्याय करें वैसा दूसरों के

प्रति करें। न्यायाधीश के पद पर आरूढ़ कोई व्यक्ति जब दूसरों के प्रति कड़ाई बरतता है और उसी नियम में स्वयं के फंस जाने के समय उसी नियम की गलत व्याख्या करता है तो यह भेदबुद्धि का उदाहरण है। अनेक बुद्धिमान महानुभाव भी इस भेदबुद्धि के चक्र में फंसकर अनेक प्रकार के अशास्त्रसंगत कार्य करते हैं और उसे शास्त्रसंगत ठहराने का प्रयास करते हैं। शास्त्र के प्रतिकूल कार्य को सही ठहराकर उसकी गलत व्याख्या करते हैं। यह सब भेदबुद्धि के अधीन होता है। इसमें मिथ्याचारिता रूपी दोष विशेष है। यही कर्म की गति गहन का **तत्त्व** है। यदि कर्म की गति गहन न होती तो एक न्यायाधीश सटीक न्याय करता। अपनों के प्रति भी वैसा ही न्याय करता तथा दूसरों के प्रति भी वैसा ही न्याय करता। अपनों और दूसरों के मध्य अंतर रखना कर्म की गति गहन का ही प्रतीक है।

(दो) अविश्वास :–

मनुष्य की प्रवृत्ति होती है कि वह दूसरों के प्रति अपने मन में अविश्वास का भाव रखता है। कितनी भी विश्वसनीयता हो पर थोड़ा सा अविश्वास रहता है। अविश्वास रहना अनियत कार्य है और विश्वास रखना नियत कार्य है। इसी तथ्य को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी हम देखते हैं। आम लोगों में यह अवधारणा रहती है कि ईश्वर है कि नहीं है। हम जो प्रार्थना कर रहे हैं उसे कोई सुन रहा है अथवा नहीं सुन रहा है। यह विश्वास समानान्तर चलता रहता है। अविश्वास जब समाप्त होता है तो ईश्वर अवश्य है वह हमारी प्रार्थना सुन रहा है। यह भाव रहता है। ऐसा विश्वास नियत कर्म की श्रेणी में आता है। ईश्वर है अथवा नहीं है। इसमें संशय रहता है। यह अनियत कर्म है। ईश्वर की उपस्थिति हमारे चारों ओर सर्वत्र है। वह निश्चित है। यह मानकर हमें कर्म करना चाहिए। इस भाव में पूर्ण दृढ़ता होनी चाहिए। ईश्वर की उपस्थिति में रंच मात्र भी संशय नहीं होना चाहिए। इस स्थिति में हम नियत कर्म करने की श्रेणी में आ जाते हैं। संसार है नहीं यह मानना नियत कर्म है। संसार है और उसका अस्**तित्त्व** है तथा सदैव रहेगा यह मानना अनियत कर्म है। आज हमें जो दिख रहा है वह है। वास्तविकता में वह नहीं है। यह नियत कर्म है। जो है वह दिख रहा है वह सही है। अस्**तित्त्व** वाला है। अविनाशी है ऐसा आभास करना अनियत कर्म है। ईश्वर की निश्चितता को स्वीकारें और जगत की निश्चितता को अस्वीकारें अथवा नकारे। यही पूरी तरह से नियत कर्म है। इसी को मानकर हमें कर्म करना चाहिए।

अविश्वास उत्पन्न क्यों होता है? यह विचार करें तो पायेंगे कि '**कर्म की गति गहन**' है। यही उसका उत्तर होगा। ईश्वर के प्रति संशय व्यक्त करते हुये लोग कहते हैं कि आजकल मैं अनेक कष्टों में हूं। अनेक समस्याओं से घिरा हुआ हूं। मैं अमुक देवता की

उपासना करता हूं। ईश्वर का ध्यान करता हूं। पर यह स्पष्ट नहीं है कि वे लोग हमारी प्रार्थना सुन रहे हैं अथवा नहीं सुन रहे हैं। यह संशय ही कर्म की गति की गहनता के कारण है। हम कर्म करते हैं पूजन यजन करते हैं परन्तु उसका यथेष्ट तथा आकांक्षा के अनुरूप परिणाम प्राप्त नहीं होता तो यह संशय उत्पन्न करने वाला कर्म है। जिस प्रकार हम एक स्थान से दूसरे स्थान को चलें। एक स्थान से चल दें और दूसरे स्थान पर न पहुंचे तो हमारे गायब रहने की धारणा की जाती है। यह भी कर्म की गति की गहनता के कारण है।

पृथ्वी में बीज डालते हैं। वह टूट फूटकर फटकर पौधे के रूप में अंकुरित होता है। समय के साथ वह फलता फूलता हुआ निश्चित फल देता है। ऐसा परिपक्वता प्राप्त होने पर होता है। पृथ्वी में मिट्टी है जल तथा वायु के स्पर्श से उसमें क्रिया होती है यह क्रिया कौन करवा रहा है ? अनायास ही बीज का फटना फूटना उसमें पौधे की उत्पत्ति हो जाना फिर बढ़कर पूर्ण फल के रूप में विकसित हो जाना, फल से पुनः बीज उत्पन्न हो जाना, इस क्रिया का सम्पादन कौन कर रहा है ? यह क्रिया क्यों है ? पौधे में विकास क्यों होता है ? और उससे फल फूल कैसे निकल रहे है ? यह कर्म की गति गहन होने के कारण है। उत्पत्ति विकास तथा परिपक्वता रूपी जो कर्म है वह गहन है।

अनेक वैज्ञानिकों ने बीज के अंकुरण तथा विकसित होने, उसके परिपक्व होने और फल देने पर शोध किया है। मिट्टी जल वायु के द्वारा उसको विकसित होना माना, उचित मिट्टी नहीं है, पर्याप्त जल नहीं, वायु का संयोग नहीं तो पौधे का विकास नहीं हो पाएगा। यहां पर यह कारण नहीं बताया कि कौन इस क्रिया में सहयोग कर रहा है ? यह विकास का क्रम परिपक्वता का कर्म गहन और रहस्यमयी है। कर्म की गति गहन है। इसे समझ पाना मुश्किल है। सहज नहीं है। यह कर्म की गहन का विशिष्ट भाव है।

वनस्पतियां अनेक रंगों में विकसित होती है। धूमिल, चटक, गहरा रंग उसे निखार रहा है। जो भी वनस्पति है वह मिट्टी से निकलती है। जल वायु के स्पर्श से अनेक रंगों में विकसित हो जाती है। एक पेड़ के पत्ते को देखे और दूसरे पेड़ के पत्तों से उसकी तुलना करें। एक पेड़ का पत्ता दूसरे पेड़ के पत्ते से आकार में, रंग में, परिमाण में पृथक् होगा। एक वनस्पति का पत्ता दूसरी वनस्पति के पत्ते से सर्वथा पृथक् प्रतीत होता है। मिट्टी एक है जलवायु एक है। यह पृथकता किस प्रकार होती है ? पास पास खड़े हुए दो पृथक्–पृथक् पेड़ों में उनके आकार में उनके फल और **तत्त्वों** में अंतर है। यह भी कर्म की गति का गहन होने का एक तथ्य है। हम यह जान नहीं सकते कि यह अंतर किस

कारण है ? इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि **'कर्म की गति गहन'** है।

पुष्प पृथक्–पृथक् हैं कोई सफेद, कोई लाल पीले रंग का है। प्रत्येक पुष्प की पंखुड़ियां भी कम अधिक हैं। छोटी बड़ी हैं। उनकी बनावट में पर्याप्त पृथकता है। एक ही मिट्टी जलवायु से दोनों में विकसित हो रहे हैं। गुलाब के पुष्प में गुलाबी तथा किसी में अन्य प्रकार का रंग है। एक ही गुलाब अनेक रंगों में विकसित हो रहा है और पृथक्–पृथक् प्रकार के रंग ग्रहण किये हुए है। गुलाब तो एक ही प्रकार का है परन्तु उसमें जो विभिन्नता है जो अंतर है वह कहां से आ गया ? किसने उत्पन्न कर दिया। किस सत्ता ने उसके रंगों में पर्याप्त अंतर प्रकट किया ? यह श्री भगवान की रहस्यमय कर्म व्यवस्था है इसीलिए श्री भगवान कहते हैं ? कि कर्म की गति गहन है। कर्म की गति के रहस्य को जान पाना कठिन है। एक ही पुष्प को पृथक्–पृथक् रंग में प्रकट करना अनेक पुष्पों को पृथक्–पृथक् प्रकार का प्रकट कर देना यह श्री भगवान की कर्म की गति की गहनता का प्रतीक है।

परमात्मा ने मनुष्य जाति के लिए 6 रसों का निर्माण किया है 6 रसों के निर्माण की क्या आवश्यकता थी ? 6 रस बनाने की मनुष्य के उपभोग के लिए इसके निर्माण की कुछ आवश्यकता थी। इसीलिए मीठा,खट्टा, कडुवा, नमकीन, चरपरा, कसैला आदि रसों का प्रादुर्भाव हुआ और इन 6 प्रकार के रसों को परखने के लिए, पहचाने के लिए जिह्वा रूपी ज्ञानेन्द्रिय निर्मित कर दी। एक ही भोजन में कई रस भर दिए। यह विभिन्न प्रकार के रसों को बनाने तथा उनका स्वाद लेने के लिए रसना का निर्माण करना भी **'कर्म की गति गहन'** का प्रतीक है। कर्म की गति वस्तुतः रहस्यप्रद है। रस पहले विकसित किए और उसकी परख के लिए जिह्वा नामक ज्ञानेन्द्रिय का विकास पश्चात् में हुआ तथा जिह्वा नामक ज्ञानेन्द्रिय में रस नामक गुण पंच महाभूत के एक **तत्त्व** से आया। यह सब कर्म की गति की गहनता के कारण है और हम इस गहनता को समझ नहीं पाते। क्योंकि मनुष्य की समझ की सीमाऐं हैं।

(तीन) कर्म की गति की दो स्थितियां :–

प्रत्येक कर्म की दो स्थितियां हैं। एक कर्मो के सम्पादन की तथा दूसरी कर्मों के सम्पादन के पश्चात् होने वाले फल अर्थात् परिणाम की। भगवान ने दोनों स्थितियो को गहन कहा है। कर्मो का सम्पादन भी गहन है और कर्मो के सम्पादन का परिणाम भी गहन है। कर्मो का सम्पादन तीन प्रकार से होता है। जिन्हें इष्ट अर्थात् शुभ, अनिष्ट अर्थात् अशुभ और इष्ट अनिष्ट अर्थात् शुभ और अशुभ कहा जाता है। इसे मिश्रित कर्म भी कहते

हैं। शुभ कर्म क्या है ? अशुभ कर्म क्या है ? शुभ और अशुभ मिश्रित कर्म क्या है ? यह जानने की आवश्यकता है। जान कर युक्त आचरण की आवश्यकता है।

सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि शुभ कर्म क्या है ? अशुभ कर्म क्या है ? अर्थात् क्या करना उचित है ? और क्या करना उचित नही है ? प्रत्येक मनुष्य को अधिकांशतः यह तथ्य ज्ञात रहता है। शिक्षित व्यक्तियों को तो इस तथ्य का ज्ञान रहता ही है। हम सभी शिक्षित लोग शुभ और अशुभ कर्मो को अच्छी प्रकार जानते हैं परन्तु अशुभ कर्मो का सम्पादन करके उसे शुभ के रूप में व्याख्यापित करने का प्रयास करते हैं। यही त्रुटिपूर्ण स्थिति है। आज से 50–60 और 100 वर्षो पूर्व न तो इतने विद्यालय थे और न ही इतनी साक्षरता थी परन्तु गांव में रहने वाले भोले भाले ग्रामीण भी क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए ? इस तथ्य को जानते थे। समय के साथ वह शिक्षित हो गए और इस तथ्य से परिचित हो गए कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? ऐसी स्थिति में हम न किये जाने वाले कर्मो को करते हैं और किये जाने वाले कर्मो का परित्याग करते हैं। ये स्थिति हमारे समाज के लिए घातक है। अशुभ कर्मो को करके उसे शुभ ठहराना भी घातक है। इसका परिणाम भयानक रूप से हमें समाज में परिलक्षित हो रहा है।

महाभारत में एक कथा आती है कि पाण्डवों ने ऐसे महल का निर्माण कराया था। जिसकी भूमि में थल के स्थान जल, जल के स्थान पर थल का आभास होता था। भूमि में इसी भ्रम के कारण दुर्योधन जल को थल समझकर गिर गया था। अभी ऐसी कला विकसित नहीं हो पायी है कि जिसमें जल के स्थान पर थल और थल के स्थान जल प्रतीत हो। हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि महाभारत काल आज से विकसित काल था। ऐसे वास्तु शास्त्री उस समय थे जो जल के स्थान पर थल और थल के स्थान पर जल प्रकट कर देते थे। यह कला उत्कृष्ट थी। उस काल के सम्राट धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन कर्म की गहन गति को नहीं परख पाया और वह राज्य के लोभ के कारण अपने 100 भाईयों सहित मारा गया। उसने कर्म की गहन गति का अनुमान नहीं लगा पाया। क्या आज का ऐसा कोई व्यक्ति होगा कि लोभ के कारण अपने परिवार की हत्या का कारण बन जाएगा। संभवतः यह दुर्लभ कारण है। कर्म की गहनता के कारण वह कार्य के परिणाम का अनुमान नहीं लगा पाया कि हम जो कार्य कर रहे हैं उससे महाभारत जेसे युद्ध का आयोजन होगा और इस युद्ध की अग्नि में हम स्वयं सपरिवार नष्ट हो जायेंगे। यह कर्म की गति के गहनता के कारण है। भगवान के शब्दों का कितना रहस्यप्रद भाव है? कि कर्म की गति गहन है। कर्म की गति को कोई बिरला महानुभाव ही समझ पाता

है। जान पाता है। उसकी रहस्यप्रदता से बाहर आता है।

कर्म की गहनता को व्यक्ति जब जान जाए तो वह ऐसे कर्म कदापि नहीं करेगा जिससे उसे कष्ट उठाना पड़े। मनुष्य दुष्कर्म, तथा त्याज्य कर्मो का सम्पादन थोड़े से लाभ को दृष्टि में रखकर करता है। यदि वह जान जाए अर्थात् इस तथ्य से परिचित हो जाए कि इस कर्म को करने से हमारा कल्याण नहीं है तो वह उस कार्य को कदापि नहीं करेगा। जैसे लोग जानते हैं कि मादक द्रव्यों के सेवन से स्वास्थ्य का खतरा है परन्तु हानिप्रदता को उपेक्षित करके मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। परन्तु अधिकांश कार्य लाभ को और भोगवृत्ति को दृष्टि में रखकर करते हैं। भले ही वह दुष्कर्म है। यह सम्पादन कर्म की गति की गहनता के कारण होता है। कर्म की गति गहनता का स्वरूप इतना विस्तृत है कि हम अनेक दुष्कर्मो का सम्पादन जान बूझकर करते रहते हैं। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि '**कर्म की गति गहन**' है।

इष्ट अर्थात् शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता है। अशुभ कर्मो का परिणाम अशुभ तथा शुभाशुभ कर्मो का परिणाम शुभाशुभ अर्थात् मिश्रित होता है। यह परिणाम हमें किस प्रकार प्राप्त होता है? यह हम नहीं जान पाते। इस प्रकार हम भोजन रूपी कर्म करते हैं तो उसका परिणाम तत्काल प्राप्त होता है और हमारी भूख शान्त हो जाती है पर हमारे द्वारा जो तीन प्रकार के कर्म किये जाते हैं उनका परिणाम कब प्रकट होगा ? यह जाना जा पाना असंभव है। अनेक कर्मो के परिणाम तत्काल प्रकट हो जाते हैं परन्तु अधिकांश कर्मो का परिणाम प्रकट नहीं होता है। जिस प्रकार हम व्यायाम करते हैं तो उस व्यायाम के परिणाम स्वरूप हमारे शरीर में थकावट तथा पसीना तत्काल आ जाता है। पर जब हम भगवान की पूजा उपासना यज्ञ, दान, तप, गरीबों की सेवा रूपी कर्म करते हैं तो इन शुभ कर्मो का परिणाम कब और कैसे मिलेगा यह जाना जा पाना असंभव है और यह तथ्य निश्चित भी नहीं है। क्योंकि कर्म की गति गहन है। यह उसका ही एक स्वरूप है। अनेक मनुष्य हिंसा चोरी मदिरापान, दुष्कर्म, हत्या, आदि विकृत कर्म करते हैं। उसका परिणाम कब प्रकट होगा यह निश्चित नहीं है। परन्तु प्रकट अवश्य होगा। अर्थात् दुष्कर्मो का परिणाम अवश्य मिलेगा। यह निश्चित है। यही '**कर्म की गति गहन**' है कहा जाता है। कर्म के सम्पादन और उसके परिणाम की गहनता की स्थिति के कारण '**कर्म की गति गहन**' है ऐसा कहा जाता है।

कर्मो के सम्पादन तथा उस सम्पादन के परिणाम की अज्ञानता प्रमुख रूप से कर्म की गति गहन होने की ओर संकेत करती है। कर्मो के सम्पादन की स्थिति में दो बाते प्रमुख हैं कि किन कर्मो का सम्पादन किया जाए ? और किन कर्मो का सम्पादन न किया

जाए। पहले यह जानकारी अनिवार्य है कि किन कर्मो का सम्पादन करना चाहिए और किन कर्मो का सम्पादन नहीं करना चाहिए। विशेषकर हमें एक तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं उससे किसी का अहित तो नहीं हो रहा है अथवा कोई उदिग्न तो नहीं हो रहा है। या कोई उत्तेजित तो नहीं हो रहा है। किसी के अधिकार का हनन तो नहीं हो रहा है। इन तथ्यों पर ध्यान रखकर यदि हम कर्म करेंगे तो निश्चय ही कर्म की गति और उसके परिणाम को समझ लेंगे। यह तथ्य निश्चित समझिए कि प्रत्येक कर्म का परिणाम अवश्य निश्चित रूप से प्रकट होता है।

प्रसंगवश एक तथ्य और स्पष्ट करना आवश्यक है कि कर्म की गति को साधक मनुष्य जान लेता है। साधना की उत्कृष्ट स्थिति में उस कर्म के स्वरूप तथा उसके सम्पादन और सम्पादन के परिणाम की कुछ जानकारी हो जाती है। उत्कृष्ट साधक क्या कर रहा है और उसका परिणाम क्या होगा ? यह जानकारी साधना की उच्च अवस्था में होती है और स्पष्ट प्रतीत होती है। साधना करते करते उत्कृष्ट स्थिति के पश्चात् मनुष्य अपने कर्मो और परिणाम का साक्षी हो जाता है और ऐसे कर्म करता है जो पाप और पुण्य का परिणाम नहीं देते हैं। ऐसी स्थिति में पाप की राशि समाप्त होती है और पुण्य का भी समापन होता है। साधना की स्थिति में उत्कृष्टता आती है तो प्रकृति की क्रियाविधि का ज्ञान हो जाता है परन्तु क्रियाविधि तथा विधि का परिणाम जानकर ही शुभ कर्मो का मनुष्य आचरण कर सकता है। साधक न तो किसी से उदिग्न होता है और न किसी को उदिग्न करता है। उसके मन में विचार नहीं आते इसलिए वह **'सर्वभूत हिते रता'** अर्थात् समस्त प्राणियों के लाभ के लिए ही कर्म करता हैं उसका कर्म तो दिखावा मात्र होता है परन्तु वह आतंरिक रूप से भावानात्मक प्रकार से सबके हित के लिए कार्य करता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि **'कर्म की गति गहन'** है। क्योंकि वह शुभ कर्मो के परिणाम को और शुभ कर्मो के परिणाम के अतिक्रमण को जान जाता है। वही मुक्ति के योग्य होता है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि कर्मो की गति गहन होती है।

2– नियत कुरु कर्म :–

नियत कर्म करें। यह नियत कुरु कर्म का अभिप्राय है। तीसरे अध्याय का यह विशिष्ट विषय है। इसलिए इस प्रकरण में तीसरे अध्याय की व्याख्या के पूर्व इसे सम्पादित किया जा रहा है। नियत कर्म हमें करने चाहिए। यह नियत कर्म क्या है ? जिसके लिए श्री भगवान ने आदेश दिया है। भगवान का आदेश महत्वपूर्ण होता है। पिता के रहते हुंए पुत्र उत्पन्न होता है और पुत्र के रहते पिता की मृत्यु हो जाती है यह क्रम है। इस सृष्टि का एक नियम है। इसी कारण यह सृष्टि आज तक गतिशील है और चल रही है। हजारों

लाखों पुत्र उत्पन्न हुए और असंख्य पुत्रों के समक्ष क्रमशः उनके पिता मृत्यु को प्राप्त हो गए। यह सृष्टि क्रम चलने की गवाही है। हम सभी भी इस प्रकरण के नित्य साक्षी हैं और हम नित्य प्रति देखते हैं कि यह क्रम निरन्तर चल रहा है। गतिशील है। इसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। यह क्रम आदिकाल से चलता आ रहा है। निरन्तर चल रहा है और आगे भविष्य में भी चलता रहेगा। हम सभी मात्र साक्षी भाव से यहां पर उपस्थित हैं।

कर्मो का सम्पादन एक पिता भी करता है और पुत्र भी करता है। यह परम्परा लाखों करोड़ों वर्ष से चल रही है। दार्शनिक कहते हैं कि यह परम्परा तो चलती है पर समय के अनुसार उसमें परिवर्तन चलता रहता है। जैसे संविधान में निरन्तर आवश्यकतानुसार संशोधन होते रहते हैं। यह समय की गति के कारण होता है। एक थोड़े से समय में हमारे संविधान में अनेक संशोधन हो गए। यह कुछ वर्षो की ही बात है। जितनी बार संविधान में संशोधन होता है। उतनी बार लिखा जाता है कि संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण। इस संशोधन का कार्य पुनः पुनः निरन्तर चला करता है। प्रत्येक बार यही लिखा जाता है कि यह संस्करण संशोधित है। संशोधन के पीछे एक तर्क है कि यह समय की मांग है। समय के अनुसार परिवर्तन करना पड़ता है। विगत 50–60 वर्षो में कितने संविधान सशोधन हुए यह जानना भी कठिन है ? और हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि 50–60 वर्षो के इस अल्पकाल में कितने परिवर्तन हम सभी ने देखे ? और उसी के अनुसार संशोधन करते रहे। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि नियमों का परिवर्तन समय के अनुसार हुआ करता है। एक नियम बनता है फिर पुनः उसे हटाने और मिटाने तथा संशोधित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इसका अर्थ है कि कर्म नियत नहीं है। कर्म अर्थात् नियम निश्चित नहीं है तो उन्हें सदैव कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है ? इसलिए निरन्तर संशोधन होते रहते हैं।

भगवद्गीता का प्रादुर्भाव आज से पांच हजार वर्ष पूर्व हुआ। पांच हजार वर्षो की यह अवधि निश्चित है। भगवद्गीता का जब प्रादुर्भाव हुआ तब द्वापर और कलयुग की संधि बेला थी। परन्तु पांच हजार वर्षो के वृहद् काल में भगवद्गीता के एक भी श्लोक में कोई संशोधन नहीं हुआ। श्लोक के किसी भी अंश में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे भगवद्गीता के विषय पांच हजार वर्ष पूर्व थे वैसे ही आज भी अपरिवर्तनीय हैं। वे इस बृहद कालखंड में परिवर्तन के योग्य नहीं है। क्योंकि श्री भगवान की वाणी है। वह त्रिकालदर्शी सत्ता द्वारा प्रकट की गई है। श्री भगवान त्रिकालदर्शी हैं और वह समय की गति और उसकी स्थिति को जानने वाले हैं। इसलिए उन्होंने भगवद्गीतारूपी संविधान को इस प्रकार प्रकट किया कि उसमें परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जो काल पांच हजार वर्षो पूर्व था

वह आज पूरी तरह से परिवर्तित हो चुका है। उस समय की स्थितियां और आज की स्थितियों में पृथ्वी और आकाश का अंतर है। परन्तु हमारे संविधान में पचास साठ वर्षो में ही इतने संशोधन हो गए। गीता जी में कोई संशोधन नहीं हुआ यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। भविष्य में भी श्री गीता रूपी संविधान में संशोधन नहीं होगा। यह भी निश्चित है। क्योंकि यह विषय सृष्टि के आदिकाल से और सृष्टि के अंत तक एक ही रूप में रहेगा। इसमें कोई परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

संसार की पुस्तकों में यदि आप नियत कर्म खोजेंगे तो उनमें नियत कर्मो का अभाव होगा। क्योंकि जो आज के नियत कर्म हैं वे कल परिवर्तित हो जायेंगे कल नहीं रहेंगे। इस कारण गीता जी के ज्ञान में भी हम नियत कर्म खोजने का प्रयास करेंगे और उन नियत कर्मो के आचरण को भी अपने जीवन में उतारेंगे। श्री गीता जी में वर्णित कुछ नियत कर्मो का प्रतिपादन इस स्थल में किया जा रहा है।

क. भगवद्गीता के नित्य कर्म :–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। 13/7।।

भावार्थ :– स्वयं को श्रेष्ठ समझने का भाव न रहना। दम्भपूर्वक आचरण के भाव का न रहना। मन वचन और कर्म से हिंसा का परित्याग, क्षमारूपी भाव, मन और वाणी से सहजतापूर्वक कर्मो का सम्पादन आचार्य और गुरुजनों की उपासना, बाहर और भीतर की शुद्धि अंतःकरण का स्थिर रहना। स्वयं का निग्रह, यह मनुष्य के कुछ नियत कर्म हैं। श्री भगवान ने उपरोक्त श्लोक में जिन नियत कर्मो को बताया है वे निम्न प्रकार हैं।

- **स्वयं को श्रेष्ठ न समझने का भाव रहना चाहिए।**
- **जैसी स्थिति है उससे अधिक स्थिति को न समझना तथा उसका वर्णन न करना।**
- **प्राणी मात्र के अहित करने की इच्छा का भाव तथा अपना अहित करने वाले के प्रति भी अहित न करने का विचार।**
- **अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में मृदुभाषिता का व्यवहार।**
- **अपने से आयु, विद्या, आश्रम, वर्ण में वृद्ध व्यक्ति का सम्मान।**
- **मन में कुविचार का निषेध और शरीर को नित्य स्वच्छ रखना।**
- **मन को, वाणी को, कर्म को और काया को स्थिर रखना।**

- ♦ मन को पूर्ण नियंत्रित करने का प्रयास।

1– अमानिवत्म् :–

मनुष्य का प्रथम नित्य कर्म है कि वह अपने को माननीय होने के भाव से विमुक्त कर दें। मनुष्य का अपने को श्रेष्ठ समझना एक दोष है। जिससे शीघ्र मनुष्य को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। किसी विशिष्ट पद पर जब व्यक्ति आरूढ़ हो जाता है और पद जब श्रेष्ठ होता है तो मनुष्य अपने को माननीय समझने लगता है। सत्ता पर आरूढ़ व्यक्ति अपने को सत्ता के ऐश्वर्य के कारण माननीय समझता है। धनवान व्यक्ति अपने को धन की अधिकता के कारण माननीय समझता है। वर्ण में उत्कृष्ट व्यक्ति को अपने वर्ण की उत्कृष्टता के कारण श्रेष्ठ समझता है। आश्रम में उत्कृष्ट व्यक्ति आश्रम की श्रेष्ठता के कारण अपने का माननीय समझता है। काया की सुन्दरता के कारण मनुष्य अपने को श्रेष्ठ मानता है। वैसे ही एक बलवान व्यक्ति अपने बल के कारण अपने को श्रेष्ठ मानता है। ज्ञानवान व्यक्ति अपने ज्ञान के कारण अपने को पूजनीय मानता है। यह कुछ भाव हैं जिसके कारण मनुष्य अपने को श्रेष्ठ मानता है परन्तु मनुष्य के कर्तव्य कर्म नियत हैं और जो स्थिति और वस्तु प्राप्त होती है वह परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए वह वस्तु और स्थिति स्वयं अपनी नहीं है। इसी कारण वस्तु और स्थिति के आधार पर स्वयं को माननीय नहीं समझना चाहिए और इस भाव से मनुष्य को निवृत होने का प्रयास करना चाहिए। यह मनुष्य का नियत कर्म है।

2– अदम्भित्व :–

दम्भाचरण मनुष्य का अनियत कर्म है। दम्भाचरण न करना मनुष्य का नियत कर्म है। वर्तमान समाज में दम्भाचरण का व्यवहार तो सामान्य बात है। जो स्थिति नहीं है उस स्थिति का प्रदर्शन करना दंभाचरण का प्रतीक माना जाता है। पद में, प्रतिष्ठा में, ऐश्वर्य में धन सत्ता में और ज्ञान में जो स्थिति नहीं है। वैसा प्रकट करना दंभाचरण कहलाता है। हम सिद्ध नहीं है और सिद्ध होने का व्यवहार करना, हम साधक नहीं हैं और साधक होने का व्यवहार करना तथा उसे प्रकट करना। हम ज्ञानी नहीं है ज्ञानी होने का व्यवहार करना इसी को दम्भपूर्ण आचरण कहा जाता है। इसके प्रतिकूल जो आचरण है वह अदम्भित्व कहलाता है। यह नियत कर्म कहा जाता है। दम्भाचरण का परित्याग यथेष्ट है। हम जो भी हैं जैसे भी हैं वैसा आचरण हमें करना चाहिए। इसमें सरलता रहती है निश्चितता और जटिलता समाप्त होती है। तनाव मुक्त रहने की यह विशिष्ट औषधि है जो दंभाचरण करते हैं वे अनियत कर्म करते हैं। इसलिए मनुष्य के नियत कर्म में दंभाचरण का अभाव हो जाता

है। इसी को अदम्भित्व कहा जाता है।

3– अहिंसा :–

अहिंसा भी एक प्रकार से नियत कर्म है। किसी भी प्रकार से किसी भी विधि से कैसे भी किसी प्राणी को उदिग्न न करना, परेशान न करना अहिंसा कहा जाता है। हम किसी को किसी प्रकार से उदिग्न करते हैं अर्थात् परेशान करते हैं तो यह हिंसा का स्वरूप है। यदि हमारे मन में किसी व्यक्ति के अहित का भाव आ जाता है तो यह भी हिंसा का स्वरूप है। पहले हिंसा का भाव मन में आता है अर्थात् किसी के अहित करने का विचार मन में पनपता है और वह विचार कुछ समय बाद क्रियान्वित होने के प्रयास का रूप ले लेता है। इसके पश्चात् हम वैसी क्रिया करते हैं अर्थात् किसी का अहित कर डालते हैं अथवा किसी को ऐसे वचन कहते हैं जो नहीं कहे जाने चाहिए। यह सबका सब हिंसा का ही एक स्वरूप है। इसलिए अहिंसा रूपी नियत कर्म का हमें आचरण करना चाहिए।

4– क्षान्ति :–

क्षमाभाव का होना भी एक नियत कर्म है। किसी के द्वारा हमारा अहित हो जाएगा। अथवा जान बूझकर कोई हमारा अहित कर देगा। जब इस प्रकार की जानकारी हमें होती है तो हम अहित करने वाले के प्रति प्रतिकूल भाव ले आते हैं और उसका अहित करने का प्रयास करते हैं। यह क्षमा भाव के प्रतिकूल कार्य है तथा अनियत कर्म है। क्षमाभाव की स्थिति अत्यंत कठिनता से आती है। इतनी शीघ्रता से नहीं आती है। आपने देखा होगा कि आज छोटे–छोटे प्रकरणों को लेकर लोग उदिग्न हो जाते हैं। जो नहीं किया जाना चाहिए। वैसे कर्म करते हैं तथा अन्य व्यक्तियों को नुकसान पहुंचाने की चेष्टा करते हैं। यह अनियत कर्म है तथा क्षान्ति के प्रतिकूल भाव है। इसलिए श्री भगवान ने क्षमाभाव को भी इस नियत कर्म में सम्मिलित किया है।

5– आर्जवम् :–

अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मृदुभाषी बने रहना। विशेष कर प्रतिकूल परिस्थितियों में मीठा बोलना आर्जवम् कहलाता है। इसमें बाह्य व्यवहार को मृदुभाषिता के रूप में परिवर्तित करना पड़ता है। **आर्जवम्** भी नियत कर्म है। जब हम किसी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं अथवा अपने मन में उसके प्रति कटु बोलने का भाव रखते हैं तो यह आर्जवम् के प्रतिकूल भाव है। आज के समाज में मृदुभाषिता का विशेष अभाव है। लोग बात बात पर कटुभाषी हो जाते हैं। सरल व्यवहार करना अनुचित उत्तर न देना,

आर्जवम् के अन्तर्गत आता है और इसके प्रतिकूल भाव आर्जवम् के प्रतिकूल आता है। आर्जवम् भी प्रत्येक मनुष्य का एक नियत कर्म है।

6– आचार्योपासनम् :–

आचार्यो तथा गुरुओं की सेवा करना, उनके प्रति दोषदृष्टि नहीं रखना। यह नियत कर्म है और आचार्यो व गुरुओं की सेवा न करना उनके प्रति प्रतिकूल भाव रखना यह अनियत कर्म है। पूर्वकाल में भी आचार्यो की अपनी पाठशालाऐं होती थी जिसे गुरुकुल कहा जाता था। गुरुकुल का अर्थ है आचार्य का घर। पूर्व काल में यह परम्परा थी कि अध्ययन के लिए आचार्यो ने अपने अपने आश्रम में ही विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था कर रखी थी। राज्य प्रत्येक आश्रम की व्यवस्था को देखते थे तथा आश्रम में शिष्यों की भोजन आदि की व्यवस्था होती थी। सम्पूर्ण कार्य आचार्यो के अधीन होता रहता था। समस्त छात्रगण आचार्यो के आदेशों का विधिवत् पालन करते थे। तब आचार्यो की उपासना का प्राविधान था। वर्तमान में परिस्थितियां परिवर्तित हो गयी हैं। अब न तो गुरुकुल हैं और न पूर्वकालिक व्यवस्था ही है। इसलिए आचार्यो के प्रति छात्र दुर्व्यवहार करते देखे जाते हैं। यह **आचार्योपासनम्** के प्रतिकूल कार्य है। इसलिए श्री भगवान ने **आचार्योपासनम्** को नियत कर्म में रखा है।

7– शौचम् :–

मन में किसी के प्रति कुविचार न रखना तथा अपने शरीर को शुद्ध रखना। शौचम् कहा जाता है। मन में जो विचार आते हैं। उसका शरीर और इन्द्रियों से क्रियान्वयन होता है। अच्छे विचार आने पर अच्छा और शुभ आचरण होता है और कुविचार आने पर हम सभी अशुभ कर्मो का सम्पादन करने लगते हैं। शुभ विचार आये यह तो नियत कर्म है और अशुभ विचार आये यह अनियत कर्म है। हमें अपने मन में निश्चित रूप से किसी के प्रति कुविचार नहीं रखना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सकें तो शौच रूपी नियत कर्म का पालन करेंगे और यदि नहीं कर सकें तो शौच रूपी कर्म का पालन नहीं हो सकेगा।

8– स्थैर्यम् :–

यह गुण चंचलता के प्रतिकूल गुण है। मनसा वाचा कर्मणा मनुष्य को चंचल नहीं होना चाहिए। आज के समाज में लोग अनावश्यक और अनाधिकार चेष्टाऐं करते हैं तथा ऐसी गतिविधियों में संलग्न रहते हैं जिसका कोई अर्थ नहीं होता। वह कार्य करते हैं जिससे समाज में अशान्ति उत्पन्न होती है। यह स्थिरता के प्रतिकूल है। हमारी अनावश्यक

चेष्टाऐं अनावश्यक कार्य असामाजिक कृत्यों का सम्पादन यह सब **स्थैर्यम्** के प्रतिकूल कर्म हैं। मनसा वाचा कर्मणा शान्त रहना और आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक तर्कसंगत बाते करना। असामाजिक कार्यो से विरत रहना तथा अपने स्वाध्याय और अध्ययन में अपने को व्यस्त रखना यह नियत कर्म है। इसके प्रतिकूल चंचलता का होना अनेक प्रकार की अनाधिकार चेष्टाऐं करना और गतिविधियों में संलग्न रहना यह **स्थैर्यम्** गुण के प्रतिकूल अवगुण है। मनुष्य का यह अनियत कर्म है।

9– आत्मविनिग्रह :–

नियत कर्म में आत्मविनिग्रह भी आता है। आत्मविनिग्रह मन पर नियंत्रण का प्रयास करना माना जाता है। मन पर नियंत्रण कर लेना अत्यंत दुष्तर कार्य है। यह तथ्य हम सभी जानते हैं। चंचल मन पर नियंत्रण का प्रयास मनुष्य को करना चाहिए। क्योंकि मन के अनियंत्रित होने से मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म करने का प्रयास करता है तथा अनियत कर्म करने लगता है। मन का स्वभाव स्वेच्छाचारी और भोगवृत्ति की ओर अनायास ही जाता है। मन सांसारिक अर्थो में भटकता है। सांसारिकता की चाहना करता है। यह तथ्य स्वभावगत है। इस कारण इसे नियंत्रित करने का प्रयास नियत कर्म के अन्तर्गत आता है। मन को नियंत्रित करने के कई उपाय हैं। परन्तु जब तक मनुष्य संसार को क्षणिक विनाशशील तथा परिणाम में दुःखदायी नहीं समझ लेता तब तक वह उसे नियंत्रित करने का प्रयास नहीं करता। संसार की वस्तुऐं तथा भोग स्वभाववश सुखपूर्ण और अच्छे लगते हैं। सुख की चाहना में सुख की प्रतीती में मन अनियंत्रित हो जाता है। संयमित नहीं रहता है। इस कारण इसके नियंत्रण की आवश्यकता रहती है। आत्मविनिग्रह रूपी कर्म से हमें मन के नियंत्रण का प्रयास करना चाहिए। एक तथ्य और है कि मन पर निंयत्रण का प्रयास तभी फलीभूत हो सकता है जब इस अनियंत्रित मन को अध्यात्म में अर्थात् परमात्मा में लगाने का प्रयास किया जाए। जिस प्रकार पानी का प्रवाह जिस ओर होता है उसे नियंत्रित करने के लिए हम बांध बांधते हैं। अनियंत्रित जल के निकास की व्यवस्था भी करते हैं। इसी प्रकार मन को नियंत्रित करने का प्रयास तभी सफल हो सकता है जब उसे भगवान की ओर मोड़ दें। यदि ऐसा नहीं कर सके तो **आत्मविनिग्रह** रूपी कर्म सम्पादित नहीं हो सकेगा।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एवं च।

जन्म मृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।। 13/8।।

भावार्थ :– समस्त प्रकार के लौकिक और पारलौकिक भोगों में वैराग्य का उदय हो जाना अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग आदि में दुःख और दोषों के प्रकट होने पर विचार करना। यह नियत कर्म है। उपरोक्त श्लोक में इन तथ्यों का निरूपण है जो निम्न प्रकार हैं।

- **समस्त इन्द्रियों के विषयों में भोक्तापन के भाव का अभाव हो जाना।**
- **अपने अस्तित्त्व को नाशवान होने का भाव रखना।**
- **जन्म तथा मृत्यु और वृद्ध हो जाने की अवस्था को लेकर शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जायेंगे यह दुःखद और कष्टकारी है ऐसा विचार पुनः पुनः आना।**

10– इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् :–

इन्द्रियों के अर्थो अर्थात् विषयों में वैराग्य का हो जाना नियत कर्म है और इन्द्रियों के अर्थो अर्थात् विषयों में संलिप्त हो जाना यह अनियत कर्म है। यह नियत कर्म अत्यंत कठिन है। क्योंकि इन्द्रियों के पृथक्–पृथक विषय हैं। जिनका वर्णन पूर्व में हो चुका है। इन्द्रियों की चाहना रहती है कि वे मन के आश्रय से अपने विषयों का उपभोग करें। नेत्र सुन्दर वस्तु और स्थिति देखना चाहते हैं। **श्रणवेन्द्रिय** अर्थात् कान मधुर शब्द सुनना चाहते हैं। जिह्वा सुस्वाद भोजन चाहती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों अर्थात् अर्थो के बारे में हमें समझना चाहिए। इन्द्रियों का अपने अर्थो में इतनी शीघ्र वैराग्य नही होता। अर्थात् उनमें भोग भोगने की आकांक्षा का अंत नहीं होता। यह स्वाभाविक तथ्य है। जब मनुष्य समझ लेता है कि भोग विष रूप हैं और इनके भोगने से हमारी भारी हानि होगी। तब वह भोगों से निवृत्ति का प्रयास करता है। अर्थात् भोगों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि विषयों के भोग से हमारी मृत्यु हो जाएगी और हमें अनेक प्रकार के समस्याओं से गुजरना पड़ेगा तथा जन्म और मृत्यु के चक्र में घूमना पड़ेगा। जब तक ऐसा विचार नहीं आता तब तक वह अपने को भोगों से बचाने का प्रयास नहीं करता। जब इन्द्रिय भोगों को विष रूप समझ लेता है तब उनको त्यागने का प्रयास करता है उनसे घृणा करता है। यह इन्द्रियों के अर्थो में वैराग्य कहा जाता है। इन्द्रियों के भोगों से निवृत्ति अर्थात् वैराग्य हो जाना यह नियत कर्म है और इन्द्रियों के अर्थो अर्थात्

भोगों में लिप्त रहना अनियत कर्म है।

11– अनहंकार :–

अहंकार करना अनियत कर्म है। अनियत कर्म क्यों है ? इस पर हमें विचार करना चाहिए। अहंकार की उत्पत्ति मनुष्य में उसके अपने अस्**तित्त्व** तथा अपने से सम्पर्कित वस्तुओं के अस्**तित्त्व** को स्वीकारने से होती है। जिस प्रकार हम स्वप्न देखते हैं और स्वप्न में अनेक प्रकार की स्थितियां और वस्तुऐं देखते हैं परन्तु उनका अस्**तित्त्व** स्वप्नावस्था में ही रहता है। जैसे ही स्वप्नावस्था समाप्त होती है वे वस्तुऐं और स्थितियां अपना अस्**तित्त्व** खो देती हैं अर्थात् विलुप्त हो जाती हैं ठीक इसी प्रकार हमारा तथा हमसे सम्पर्कित वस्तुओ का अस्**तित्त्व** है। वे सभी स्वप्नवत् हैं उनका कोई स्थिर अस्**तित्त्व** नही है। जब यह भावना व्यवहार में आ जाती है तब अहंकार से निवृत्ति होने लगती है। इससे पूर्व कभी नहीं होती है। हमारा अपना तथा अपने समपर्कित वस्तुओं का कोई अस्**तित्त्व** है नहीं। वह सबका सब समय के साथ समाप्त होने वाला है। यह शरीर भी समय के साथ समाप्त हो जाएगा। इसी कारण इस आधार पर हमें अहंकार रूपी दोष से निवृत्त होने का प्रयास करना चाहिए और उससे निवृत्त हो जाना नियत कर्म है और अहंकार से आवृत रहना यह अनियत कर्म माना जाता है।

12– जन्म मृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम :–

प्रत्येक मनुष्य के विचार में चार प्रकार के दोष प्रमुख रूप से आते हैं। हमारे शरीर में नाना प्रकार की व्याधियां अर्थात् रोग हो जायेंगे जिसके कारण हमें नाना प्रकार के कष्ट आयेंगे और पीड़ा होगी। यह विचार आता है। दूसरा विचार यह आता है कि हमारी युवावस्था समाप्त हो जाएगी तथा वृद्धावस्था आ जाएगी। जिस प्रकार हम युवावस्था में कार्य कर रहे थे उस प्रकार हम कार्य नहीं कर पायेंगे। हम ऐसी स्थिति में समस्त भोगों से वंचित हो जायेंगे। पहले व्याधियों का विचार पुनः वृद्धावस्था का विचार और उसके पश्चात् मृत्यु का विचार तथा पुनः जन्म का विचार यह सब विचार क्रमिक आते हैं। मृत्यु के विचार में यह तथ्य आता है कि जो कुछ हमारा है वह सब छूट जाएगा। जब यह सब विचार आते हैं तो हम कोई भी असामाजिक कर्म नहीं करते और नियत कर्मो का सम्पादन करते हैं और यदि यह विचार आए कि हम कभी रोगी नहीं होंगे कभी वृद्धावस्था नहीं होगी। कभी मृत्यु नहीं होगी और कभी जन्म नहीं लेना पड़ेगा तो यह अनियत कर्म है। क्योंकि

विचार आने से मनुष्य अपने कल्याण की ओर अग्रसर होता है और अकल्याण की ओर भी अग्रसर होता है। भोगों का क्षणिक मान लेना संसार और जीवन का क्षणिक मान लेना यह तो उचित विचार है और स्थायी मान लेना यह अनुचित विचार है। इसलिए जो व्यक्ति जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और रोगों में दुःखों का दर्शन करता है अर्थात् उन पर बार बार विचार करता है वह नियत कर्म करता है और जो नहीं करता है वह अनियत कर्म करता है।

आसक्तिनभिष्वगः पुत्रदारगृहादिषु।

नित्यं च समचित्तत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। 13/9।।

भावार्थ :– पुत्र स्त्री धन आदि में आसक्ति का अभाव हो जाना और ममता का न रहना। प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में नित्य चित्त का एक समान रहना।

13– आसक्तिनभिष्वङ्ग पुत्रदारगृहादिषु :–

पुत्र, पत्नी तथा घर और धन आदि में आसक्ति का न रहना। श्री भगवान ने उसे नियत कर्म माना है। यह कर्तव्य कर्म भी है। भगवान का कथन असंगत प्रतीत होता है। सामान्यतः इसे प्रतिकूल कह सकते हैं। वास्तविकता में विचार करने पर यह सब वस्तुऐं नाशवान हैं और समय के साथ परिवर्तित और पृथक् होने वाली हैं। इस कारण श्री भगवान ने इन चारों से आसक्ति विहीनता की बात कही है। मुक्ति तथा बंधन दो स्थितियां हैं। मनुष्य वृद्धावस्था में इन्हीं चारों से बंध जाता है। इसी कारण उसे बंधन होता है। जो अपने पुत्र पौत्रादिकों की चाहना में फंस जाता है। स्त्री सुख की आसक्ति में रहता है और जहां रहता है उस गृह में आसक्ति हो जाती है जो कुछ धन होता है उसमें आसक्ति हो जाती है। उसको त्यागने का भाव नहीं रहता है। यह आसक्ति ही मनुष्य के बंधन का कारण होती है और जब आसक्ति समाप्त हो जाती है तो उसकी मृत्यु हो जाती है। यह चारों प्रकार की आसक्ति बहुत प्रबल है। जिन्हें मनुष्य अन्त समय तक छोड़ नहीं पाता। इस कारण भगवान ने मनुष्य को और साधकों को चारों प्रकार की आसक्तियों से पृथक् रहने को कहा है और इसे नियत कर्म माना है।

13– नित्यं च समचित्तत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु :–

अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्त का एक समान रहना। भगवान ने इस स्थिति को भी नियत कर्म कहा है। ऐसी स्थिति बनी रहे इसके लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए। मन तथा बुद्धि में बार बार यह विचार आता है कि अमुक स्थिति अनुकूल है, अमुक प्रतिकूल है। ध्यान से देखे तो आप पायेंगे कि समग्र चिंतन इसी भाव से होता है कि अमुक स्थिति प्रतिकूल है। इसे कैसे अनुकूल बनाया जाए ? और अमुक स्थिति जो अनुकूल है इसमें किस प्रकार आनन्द से रहा जाए। अनुकूलता में जब प्रतिकूलता का आभास या संभावना रहती है तो मनुष्य उदिग्न हो जाता है। इन दोनों तथ्यों पर अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलता पर मनुष्य विचार करता रहता है। प्रतिकूल को अनुकूल बनाने का प्रयास और अनुकूल ही रहे इसकी चेष्टा तथा उससे सुख लेने का भाव यह दो कार्य मनुष्य के विशेष रहते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य दुःखी होता है और उसका पुनः पुनः विचार करके उसकी घटना और परिस्थितियों के प्रति दुःखी रहता है और उदिग्न होता रहता है। विचार प्रत्येक स्थिति में सामान्य रहे तो इसे नियत कर्म कहते हैं और परिवर्तित हो जाए तो यह अनियत कर्म कहा जाता है। यह स्थिति भी अत्यंत कठिन है जो नियत कर्म को देने वाली है।

मयिचान्नययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।। 13/10।।

भावार्थ :– श्री भगवान के अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध स्थान में रहने की प्रवृत्ति और विषयों में प्रवृत्त मनुष्यों के प्रति स्नेह का न होना यह नियत कर्म है।

14– मयि चान्नययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी :–

भगवान के अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति का उत्पन्न कर देना भी एक विशिष्ट नियत कर्म है। अनन्य का प्रतिकूल शब्द अन्य है। अन्य में सम्पूर्ण संसार है। अनन्य में श्री भगवान है। अन्य समाप्त होते हीं अनन्य के दर्शन होते हैं। अन्य व्यक्त है अनन्य अव्यक्त है। श्री भगवान के इस कथन का अभिप्राय है कि भगवान का अनन्य चिंतन होना नियत कर्म है। अनन्य चिंतन न हो, संसार का चिंतन हो तो यह अनियत कर्म है।

इसके लिए श्री भगवान ने **अव्यभिचारिणी** शब्द का प्रयोग किया है। भक्ति हो वह अव्यभिचारिणी हो। क्योंकि जब तक संसार से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है तब तक पूरी तरह से भगवान से सम्बंध नहीं रहता है। भगवान की भक्ति का सम्पादन कामनाओं का परित्याग करके, सांसारिक भोगों को त्याग कर करना चाहिए। इसी को अव्यभिचारी भक्ति कहते हैं। भगवान की प्राप्ति में ही लाभ है और उनकी प्राप्ति न हो इसमें हानि है। भगवान में एकाकार हो जाए तो इसे **अव्यभिचारिणी** भक्ति कहते हैं। सामान्यतः मनुष्य कष्टों के निवारण के लिए, प्रतिकूलताओं की समाप्ति के लिए सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पद, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य के लिए भगवान की भक्ति करता है। इसी को व्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं और जो भक्ति स्वार्थ के लिए न हो बल्कि भाव को दृष्टि में न रखकर की जाए वह व्यभिचारिणी भक्ति है और यह विशिष्ट नियत कर्म है।

15– विविक्तदेशसेवित्वम् :–

मनुष्य का स्वभाव है कि वह एकान्त में नहीं रहना चाहता। जहां पर जनसमुदाय हो अनेक प्रकार की सुविधाऐं हो वहां मनुष्य रहने का आकांक्षी होता है। यह उसका स्वभाव है। क्योंकि वह एकान्त में कभी रहा नहीं है। जबसे मनुष्य का जीवन आरम्भ हुआ। बाल्यावस्था आरम्भ हुई और किशोरावस्था व युवावस्था में पहुंचा। वह जिस स्थान पर रहा वहां पर जनसमुदाय रहता है। पूर्वकाल में गुरुकुल या आश्रम एकान्त में होते थे। उनके एकान्त में रहने का एक विशिष्ट कारण था कि वहां पर सांसारिकता नहीं थी। वहां पर सांसारिक दोष नहीं थे। साधक को ऐसे ही एकान्त में रहना चाहिए। भगवान ने उसे कर्तव्य कर्म और नियत कर्म कहा है। मनुष्य जब एकान्त में रहता है यदि वह सांसारिक है तो उसका मन एकान्त में नहीं रहेगा और यदि वह साधक है तो उसका मन एकान्त में रमता है। क्योंकि जब तक संसार से विमुखता नहीं होती तब तक भगवान के प्रति उन्मुखता नहीं होतीं। जब तक संसार से घृणा नहीं होती तब तक भगवान में प्रीति नहीं होती। इसलिए साधक मनुष्य के लिए एकान्त में रहने का प्राविधान किया गया है। **विविक्तदेशसेवित्वम्** का यही अभिप्राय है और इसे नियत कर्म माना गया है।

16– रतिर्जनसंसदि :–

जहां पर अधिकाधिक मनुष्य रहते हैं वहां पर स्नेह न रखना। यह कर्तव्य कर्म है और नियत कर्म है। श्री भगवान ने गीता जी के एक स्थल में कहा है कि हजारों मनुष्यों में

से कोई एक मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करने वालों में एक ही मुझे प्राप्त कर पाता है। यह भगवान की प्राप्ति के मार्ग पर चलने वालों की दुर्लभता है। ऐसे बहुत कम लोग है जो इस दुष्तर मार्ग पर आरूढ़ होते हैं। अधिकांश मनुष्य या तो संसार के मार्ग पर चलते हैं और संसार की प्राप्ति का प्रयास करते हैं और उसके लिए वे दूषित कर्मो के वशीभूत हो जाते हैं। सात्त्विक मार्ग के मनुष्य भी अधिकांश पूजा उपासना के द्वारा संसार की वस्तुऐं प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों की भीड़ में एकाध व्यक्ति ही अच्छे साधक हो पाते हैं। जो हो जाते हैं वे संसार की भीड़ से पृथक् रहने की आकांक्षा करते हैं। इस कारण श्री भगवान ने कहा कि साधकजनों को संसार की भीड़ से अलग रहना चाहिए और यह मनुष्य के लिए नियत कर्म है। क्योंकि इसी से साधना में विकास होता है। जब तक मनुष्यों के समुदाय में उसे प्रियता रहती है तब तक साधना में पर्याप्त बाधाऐं पड़ती है। इसलिए लोगों की भीड़ में स्नेह का न रहना नियत कर्म है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। 13/11।।

भावार्थ :– अध्यात्म ज्ञान में निरन्तर स्थित रहना और तत्त्व ज्ञान के अर्थ स्वरूप श्री भगवान का दर्शन करना। यह सब ज्ञानरूपी नियत कर्म है और इसके प्रतिकूल जो कुछ है वह अज्ञानरूपी अनियत कर्म है।

17– अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् :–

परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति, सृष्टि शरीर तथा उसकी कार्यप्रणाली आदि का विषय अध्यात्म के अन्तर्गत आता है। प्रमुखता से स्वभाव कहकर अध्यात्म शब्द की व्याख्या की जाती है। अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थित रहना यह नियत कर्म है। अध्यात्म ज्ञान की स्थिति में दो तथ्य आते हैं। एक शास्त्रों का स्वाध्याय तथा उसको समझकर उसका अनुकरण करके परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करें। प्रारम्भिक स्थिति ज्ञान के अर्जन की है जो साधक को अत्यंत श्रम से करनी चाहिए। अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में अन्य विषय हैं। सैकड़ों प्रकार के ज्ञान हैं जिनमें व्यक्ति उलझा रहता है। जो जिस विद्या का विशेषज्ञ होता है वह उसी के अर्थ में डूबना चाहता है। कुछ लोग आलोचक होते हैं वह किसी कार्य की समायोचना किया करते हैं। लोग उन्हें

समालोचक की उपाधि देते हैं। यह भी एक प्रकार का सांसारिक ज्ञान माना जाता है। ऐसे सैकड़ों प्रकार के ज्ञान तथा उनमें लिप्त रहना आज कल के मनुष्य का उद्देश्य बन गया है तथा उसमें विशिष्टता प्राप्त हो जाए तो यह अध्यात्म ज्ञान के प्रतिकूल है। मात्र परमात्मा का विषय तथा जीवात्मा से उसका सम्बंध के बारे में अनेक तथ्यों को प्रकाशित करना अध्यात्म ज्ञान कहा जाता है। **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्** का यही अर्थ है और यह मनुष्य के लिए नियत कर्म है।

18– तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् :–

भगवान ने अंतिम नियत कर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि साधक को नित्य **तत्त्व**रूपी ज्ञान का दर्शन करते रहना चाहिए। **तत्त्व** ज्ञान का दर्शन साधना की पराकाष्ठा है यह नियत कर्म की ओर संकेत करता है कि प्रत्येक मनुष्य का नियत कर्म **तत्त्व**रूपी ज्ञान का दर्शन करना है। नित्य कर्म होने के कारण प्रत्येक साधक का यह अभीष्ट कार्य है। **तत्त्व**रूपी ज्ञान का दर्शन उपरोक्त वर्णित तथ्यों से सहजता से हो सकता है। जिन नियत कर्मो का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से किया गया है उनका आचरण करके **तत्त्व** ज्ञान का दर्शन करना चाहिए तथा अंतिम नियत कर्म का आचरण करना चाहिए। **तत्त्व**ज्ञान दर्शनम् से यही अभिप्राय है कि मनुष्य का एक विशिष्ट नियत कर्म है जो उसे करना चाहिए।

श्री भगवान ने कहा कि यह सब कुछ ज्ञान है जिसका वर्णन उपरोक्त प्रकार से किया गया है और इसके प्रतिकूल जो कुछ भी है वह अज्ञान है। अज्ञान ही अनियत कर्म है। मनुष्य के लिए यथेष्ट नहीं है। अनियत कर्म को समझकर उसका आचरण नहीं करना चाहिए। ज्ञानरूपी अनेक कर्म का आचरण करना स्वयं का पतन करना है। कुछ अनियत कर्मो के सम्बंध में इस स्थल पर प्रकाश डालना आवश्यश्यक है।

- **अपने को पूज्य अर्थात् श्रेष्ठ समझना तथा पूज्यता के भाव को रखकर दूसरों को स्वयं से निकृष्ट और तुच्छ मानना यह अनियत कर्म है।**
- **अपनी स्थिति को यथास्थिति प्रकट न करना वरन् पद धन ऐश्वर्य तथा ज्ञान को दिखाने का प्रयास करना।**
- **किसी कारण से अथवा अकारण किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाना और दुःख देने का प्रयास करना।**

- अपने को यदि कोई कष्ट दे तो उसे भी कष्ट पहुंचाने का प्रयास करना उसका अहित करने को उद्धत होना तथा उसका अहित कर देना यह अनियत कर्म है।
- कष्टप्रद शब्दों का प्रयोग करना। रोज के व्यवहार में आसमान्य और असामाजिक वाणी का प्रयोग करना।
- आयु पद योग्यता वर्ण तथा आश्रम में उच्च व्यक्ति को सम्मान न देने का प्रयास और उसे अपमानित करने का अभिप्राय और उसे अपने से निकृष्ट मानना।
- वाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि को न बनाए रखना और लोगों के प्रति कुविचार रखना अनियत कर्म है।
- मन वाणी और कर्म से शरीर को चंचल रखना तथा अनावश्यक कार्यो के सम्पादन की चेष्टा करना।
- मन को स्वेच्छाचारिता में लगाए रखना तथा अनावश्यक चिंतन करना। इन्द्रियों में मन के आश्रय से सांसारिक भोगों को भोगने की प्रवृत्ति रखना।
- अपने को चिरजीवी समझकर व्यवहार करना तथा ऐसी मान्यता और अवधारणा को दृढ कर लेना जैसे हम सदैव जीवित रहेंगे।
- जन्म मृत्यु तथा वृद्धावस्था समय से नहीं आयेंगी अनेक व्याधियां भी नहीं रहेंगी। इस तथ्य को स्मरण में रखकर सांसारिक विषयों से स्नेह रखना।
- जगत की भोग वस्तुऐं तथा जगत गतिविधियों तथा विषयों में मोहित रहना।
- पुत्र पत्नी गृह आदि को अविनाशी समझकर उसी तरह का व्यवहार करना।
- कठिनाईयों और विपदाओं के आने पर दुःखी हो जाना तथा अनुकूलता में सुख का आभास करना एक प्रकार अनियत कर्म है।
- ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव न रखना तथा ईश्वर के प्रति भेद बुद्धि रखना और संशययुक्त रहना।
- एकान्त स्थान में रहने की इच्छा न करना।
- सांसारिक ज्ञान तथा विषयों में नित्य निरंतर भ्रमण करना।
- परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील न होना और सकाम भाव से संसार में व्यवहार करना यह सब अनियत कर्म है।

19– स्वभाव से नियत कर्म करने से पाप मुक्ति :–

नियत कर्म स्वाभाविक रूप से करने से मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। इसके प्रतिकूल अनियत कर्म करने से मनुष्य पाप से आच्छादित हो जाता है। इस प्रकार नित्य कर्म का परिणाम पाप नहीं होता। यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्म का परिणाम होता है। विगत अनेकों प्रकरणों में यह कहा जा चुका है कि शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता है जिसे पुण्य कहा जाता है और अशुभ कर्मो का परिणाम अशुभ होता है जिसे पाप कहा जाता है। नियत कर्म शुभ कर्मो के रूप में जाने जाते हैं तथा अनियत कर्म अशुभ कर्मो के रूप में जाने जाते हैं। उसी के अनुरूप परिणाम भी होता है। हम जैसा अपने को समझेंगे वैसा ही व्यवहार भी करेंगे और दूसरों की उपेक्षा करेंगे। हम जब किसी को निकृष्ट समझते हैं तो श्रेष्ठ मनुष्य को कभी–कभी अपमानित करने का प्रयास भी करते हैं। यही भावना हमें पाप में डालती है। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य अपनी स्थिति को अधिक दिखाने का प्रयास करता है तो जो दिखावा करता है अर्थात् यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि हम श्रेष्ठ हैं उसका परिणाम भी पाप ही होता है। क्योंकि इसमें असत्य का आचरण होता है। पाप का परिणाम हमें उदिग्न कर देता है इसलिए अनियत कर्मो का परित्याग करके नित्य नियत कर्म ही करने चाहिए।

3– कोई भी क्षण मात्र अकर्मकृत नहीं रह सकता :–

आज के मानव ने जो कुछ भी निर्माण किया है अथवा हमारे पूर्वजों ने जो कुछ भूतकाल में निर्माण किया था। वह सबका सब कर्म के आधार पर ही बनाया था। आज के मानव ने जो कुछ बनाया है। वह आज हम देख रहे हैं और उसका आभास कर रहे हैं जो कुछ पूर्व मानव ने बनाया था वह हम इतिहास से पढ़कर जान लेते हैं अथवा शास्त्रों के अध्ययन से उसके बारे में संज्ञानता प्राप्त कर लेते हैं। महाभारत महाकाव्य में जो कुछ उल्लेख आता है वह आश्चर्यजनक है। ब्रह्मास्त्र जैसे आयुध बने। जिनका प्रयोग करने से प्रलय जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। हो सकता है कि वह ब्रह्मास्त्र आज के युग का परमाणु बम का रूप हो पर परमाणु बम प्रलय करने में समर्थ नहीं है। धरती का अस्**तित्व** समाप्त नहीं हो सकता। उसमें जो प्राणी मात्र हैं जीव जन्तु हैं वे समाप्त हो जाते हैं। परन्तु पृथ्वी समुद्र में समाहित नहीं हो सकती। अंतरिक्ष समाप्त नहीं होता। सूर्य चन्द्रमा की गति को रोका जा पाना संभव नहीं हो सकता। इस कारण कल का ब्रह्मास्त्र आज के

परमाणु बम से अधिक श्रेष्ठ था। अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का संधान किया था जिसे अर्जुन ने वापस ले लिया था। मंत्रों की शक्ति थी। ब्रह्मास्त्र को चलाना अर्थात् क्रियान्वित करना और ब्रह्मास्त्र को वापस लेना यह सबका सब मंत्रों पर ही आधारित था। वांछित लक्ष्य पर छोड़ देने पर वह निश्चित ही लक्ष्य का भेदन करता था। ऐसे अनेक अस्त्र शस्त्र थे। एक बाण से हजारों बाणों का प्रकटीकरण भी मंत्रों के माध्यम से ही होता था। यह सबका सब विज्ञान अब समाप्त हो चुका है। वह अस्**तित्त्व** में नहीं है।

इन अनेक प्रकार के विचित्र और आश्चर्यजनक आयुधों के निर्माण में हमारे पूर्वज निरंतर कर्मकृत रहे अर्थात् कर्मो का सम्पादन करते रहे। आज का मानव भी कर्मकृत है वह निरन्तर कर्म कर रहा है। विचित्र वस्तुऐं बना रहा है। जिन वस्तुओं को आज से तीस चालीस वर्षो पूर्व नहीं देखा था कल्पना नहीं की थी वह आज हमारे समक्ष है और हम उनका प्रयोग कर रहे हैं। पुराने आविष्कार समाप्त हो रहे हैं। नवीन आविष्कार निरन्तर आ रहे हैं। यह कर्मकृतता है। निरन्तर नए अन्वेषण का जो कार्य है वह मनुष्य का कर्मकृत रूप है। नए नए साधन पदार्थ वस्तुऐं बनाना यह सब कर्मकृत रूप है। भगवान इसी भाव से कह रहे हैं कि कोई भी किसी क्षण अकर्मकृत नहीं रह सकता। वह कर्मकृत है। यह सब भावना कर्मकृत है। मनुष्य का स्वभाव उसे कर्म करने के लिए बाध्य करता है। वह स्वयं कुछ नहीं करना चाहता परन्तु उसका स्वभाव उसे प्रेरित करता है। कर्म के लिए उसे निरन्तर कहीं से प्रेरणा मिलती है इसलिए उसे कर्मकृत रहना पड़ता है। इस कर्मकृतता में उसका अपना नियंत्रण नहीं है। क्योंकि वह स्वभावता कार्य कर रहा है।

मनुष्य के शरीर की सम्पूर्ण रचना कर्मकृत है। रक्त का प्रवाह पैर से सिर तक होता है निरन्तर रहता है। शरीर के अंदर से अर्थात् आन्तरिक भागों से रक्त का प्रवाह चला करता है। रक्त का प्रवाहित होना, कर्म भोजन को ग्रहण करना तथा मुख से ही भोजन के साथ अनेक रसों का मिश्रित हो जाना। पेट में उसका अनेक रसों के द्वारा पाचन होना और परिणाम में मल मूत्र का बन जाना यह सब कर्मकृत है। श्वसन क्रिया का निरन्तर चलना। श्वास प्रश्वांस का होना। अपान और प्राणवायु आदि का निरन्तर कार्य करना। शरीर को चैतन्य बनाए रखने के लिए इन सब क्रियाओं का होना कर्मकृत है। कर्मकृत रहने के लिए ही इस मानव शरीर की रचना हुई है। उसकी कार्यप्रणाली का विस्तार हुआ है। सम्पूर्ण शरीर की गतिविधि की सूचना मस्तिष्क में स्वतः एकत्रित हो जाना तथा मस्तिष्क रूपी नियंत्रण कक्ष से आवश्यक निर्देश प्राप्त करते रहना यह सब कर्मकृत रहने का ही

उदाहरण है। प्रातः से रात्रि तक मनुष्य शरीर का कार्य करना तथा रात्रि में थकावट आ जाना और थकावट आने के उपरान्त विश्राम करने की इच्छा प्रकट करना यह सब कर्मकृत का ही स्वरूप है। रात्रि में विश्राम करना और रात्रि में विश्राम करने के पश्चात् स्फूर्ति का स्वतः प्रकट हो जाना और इस स्फूर्ति के आधार पर सम्पूर्ण दिवस कर्मो का संचालन करना यह सब कर्मकृत रहने का स्वरूप है। शरीर को जो नवीन उर्जा प्राप्त होती है वह मनुष्य के कर्मकृत होने के उपरान्त प्राप्त होती।

मनुष्य शरीर की क्रियायें इन्द्रियों तथा मन बुद्धि से प्रकट होती हैं। मन स्वतः कार्य क्रिया करता है। इन्द्रियां स्वतः ही कार्य करती रहती हैं। बुद्धि स्वतः ही प्रत्येक कर्म का निर्णय कर लेती हैं। इन्द्रियां मन बुद्धि के सहयोग से तथा ज्ञानेन्द्रियां स्वचालित यंत्रों की भांति कार्य करती हैं। नेत्र तत्काल क्षणमात्र में अपने समक्ष उपस्थित वस्तुओं को देख लेते हैं। कान सभी प्रकार की ध्वनियों को निरंतर ग्रहण करते हैं। देखकर सुनकर मन उसी के अनुरूप कार्य कर रहा है तथा क्या करना उचित है ? तथा क्या करना उाचित नहीं है ? यह सबका सब विनिश्चय बुद्धि करती है। जब हम प्रार्थना करते हैं तो भगवान की मूर्ति को आंखे देखती हैं। वाणी प्रार्थना करती है। कान उस प्रार्थना को सुनते हैं। हाथ रूपी कर्मेन्द्रिय जोड़कर हम प्रार्थनारूपी कार्य में व्यस्त हो जाते हैं। मन भी प्रार्थना के भाव को ग्रहण करके बुद्धि को तन्मयता से लगाए रखता है। कभी–कभी मन दूर भाग जाता है। बुद्धि भी मन के साथ चली जाती है। क्योंकि बुद्धि जानती है कि मन कहां जा रहा है ? यह सब कार्य स्वतः होता है और विशिष्ट प्रकार की कर्मकृतता इस क्रिया से प्रकट होती है।

शरीर के प्रत्येक अंग का निरन्तर कार्य करना तथा मन बुद्धि का इन्द्रियों के साथ कार्य में संलग्न रहना है, कर्मकृतता कहा जाता है। सब कुछ स्वतः हो रहा है करना नहीं पड़ता है। क्षुधा अर्थात् भूख और पिपासा प्यास स्वतः प्रकट हो जाते हैं। स्वमेव हमारे अंगों में आते हैं। उसकी निवृत्ति का साधन बुद्धि खोजती है कहां भोजन मिलेगा ? कहां जल मिलेगा ? यह सब बुद्धि का कार्य है। यह कर्मकृतता निरन्तर चलती रहती है। रूकती नहीं है। निर्बाध गति के साथ इसमें क्रिया होती है। अविरल प्रवाह चला करता है। जैसे वायु चलती है। उसमें विराम नहीं होता। नदी के जल का प्रवाह स्वतः चला करता है। इसमें क्षण मात्र का अंतर नहीं होता है। इसी तथ्य को भगवान कह रहे हैं कि मनुष्य सदैव कर्मकृत रहता है। वह क्षणमात्र भी अकर्मकृत नहीं रह सकता। इस कर्मकृता को रोकना

किसी के वश में नहीं है। वह क्षणमात्र रुक नहीं सकेगा। शरीर की क्रियाऐं सदैव चलती है। वह रुक जायेंगी तो कर्मकृता में अंतर आ जाएगा। अंतररहित रहना ही क्षणमात्र अकर्मकृत रहना है। यह श्री भगवान का कथन है सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्णजीवधारी और मनुष्य निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। वे निरन्तर कुछ न कुछ कार्य करते रहते हैं। यहां तक कि जब मनुष्य निद्रा अवस्था में रहता है तो वह सोने का कार्य करता है। इसी को श्री भगवान ने अकर्मकृत न रहने के तथ्य के रूप में कहा है।

4– आत्मरत, आत्मतृप्त तथा आत्म संतुष्ट के लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है :–

हम सभी ने विक्षिप्त लोगों को देखा होगा। अधिक विक्षिप्तता में अर्थात् अधिक पागलपन में मनुष्य अपने में मस्त रहता है। वह न तो कुछ करता है न ही कुछ बोलता है कोई कुछ कहता है या पूछता है तो उसका वह उचित उत्तर नहीं दे पाता। ऐसा क्यों है? ऐसा उसकी विक्षिप्ता के कारण हैं ? इस स्थिति में बुद्धि की संवेदनशीलता समाप्त हो गयी है। बुद्धि का कार्य समाप्त हो गया है। बुद्धिहीनता के कारण वह कुछ भी उचित निर्णय लेने में सक्षम नहीं है। उसे जो कुछ प्राप्त हो जाता है वह ग्रहण कर लेता है। जो कुछ प्राप्त नहीं होता है उसकी वह इच्छा नहीं करता है। इस भाव से वह तृप्त है। उसे जो कुछ भी फटे पुराने वस्त्र मिलते हैं वह उसे पहन लेता है। नवीन वस्त्रों की आकांक्षा नहीं करता। सर्दी में उसे पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते हैं। फिर भी उस स्थिति की उपेक्षा करता है। वह अप्रसन्न नहीं होता। वह अपनी स्थिति में संतुष्ट है। यह सब एक उदाहरण है। एक प्रस्तुति है। रत, तृप्त, संतुष्ट रहने की। एक विक्षिप्त व्यक्ति की कहानी और स्थिति हम प्रतिदिन देखते हैं और उसकी क्रियाविधि पर विशेष ध्यान नहीं देते। हम उसकी ओर संकेत करके कहते हैं कि वह पागल है। पागल व्यक्ति को बुद्धिहीन मानव माना जाता है। यही भावना दृढ़ रहती है। पागल मनुष्य में बुद्धि की क्रियाशीलता बहुत कम हो जाती है। परन्तु वह अपने में रत है। अपने में तृप्त है। अपने में संतुष्ट है। हम इस पर विचार अवश्य करेंगे। यह बुद्धिहीनता के कारण है। यदि उसके पास भी हमारी तरह बुद्धि होती तो वह इन स्थितियों में नहीं रह पाता। उसकी गतिविधियां भी हमारी तरह ही होती।

सुस्वादु भोजन देखकर ही उसे ग्रहण करने की इच्छा होती है। यह इच्छा सुस्वादु, भोजन की सुन्दरता को देखकर होती है। मनुष्य भोजन की सुन्दरता में रत हो जाता है।

देखकर रत होता है। पर्याप्त ग्रहण करके तृप्त हो जाता है। तृप्ति होने पर वह कहता है कि ऐसा भोजन नहीं किया यह उसकी संतुष्टि की स्थिति है। भोजन में उसकी सुन्दरता में रत होना। उसके ग्रहण करने में तृप्ति को प्राप्त करना तथा उसमें संतुष्ट हो जाना यह सब क्षणिक होता है अर्थात कुछ समय के लिए होता है। पुनः भोजन की इच्छा होती है। तृप्ति समाप्त होती है। वह अतृप्ति में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार संतुष्टि नहीं रहती और हम पुनः असंतुष्ट हो जाते हैं। इसलिए सुस्वादु भोजन में जो तृप्ति और संतुष्टि है वह कुछ समय के लिए है इसी को क्षणिक तृप्ति और संतुष्टि कहा जाता है, क्योंकि वह सदा सर्वदा नहीं रहती।

आज का अधिकांश मानव अतृप्त है। असंतुष्ट है और भोगों में निरन्तर रत है। भोगों में रतता अतृप्ति और असंतुष्टि के कारण होती है। क्योंकि भोगों में तृप्ति क्षणिक होती है और तृप्ति के उपरान्त उपस्थित होने वाली संतुष्टि की स्थिति भी क्षणिक होती है। आज के मानव के अधिकतर कार्य इन्हीं क्षणिक भोगों के निमित्त होते हैं। प्रातः से रात्रि तक मानव भोगों में तृप्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है। क्योंकि भोगों में तृप्ति है नहीं इस कारण तृप्ति मिलती नहीं है। कुछ समय के लिए प्रतीत हो सकती है। नियमित नहीं हो सकती है। एक हिरण जल को पाने के लिए बहुत भागता है। क्योंकि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि आगे जल है परन्तु वास्तविक रूप से आगे जल नहीं होता है और वह जल पाने के प्रयास में बहुत भागता है। परन्तु जल न मिलने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। आगे जल है इस प्रकार का आभास मृग तृष्णा का स्वरूप है। आज के मानव की स्थिति कुछ ऐसी ही है वह मृगतृष्णा का शिकार है। आज का मानव कर्म तो बहुत करता है परन्तु उसे तृप्ति प्राप्त नहीं होती। संतुष्टि नहीं मिलती। इसलिए वह निरन्तर नवीन कर्मो के सम्पादन में रत रहता है।

एक ओर संसार है दूसरी ओर भगवान हैं। संसार में अनियतता है और भगवान में नित्यता है। संसार नाशवान है, भगवान अविनाशी है। संसार में अनेक प्रकार की गतियां हैं। भगवान में ठहराव है। संसार में जो तुष्टि मिलती है वह क्षणिक है भगवान में जो तृप्ति प्राप्त होती है वह स्थायी है संसार में संतुष्टि प्रतीत होती हैं परन्तु भगवान में संतुष्टि प्राप्त हो जाती है। संसार में रत मनुष्य मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। भगवान में रत मनुष्य अमरता की ओर बढ़ जाता है। संसार का आश्रय मिथ्या है। भगवान का आश्रय परमाश्रय है। इसी को सत्य आश्रय कहा जाता है। संसार दिखता नहीं है भगवान मिलता नहीं हैं। संसार दल

दल है जिसमें फंसकर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। भगवान अमृत के स्वरूप है। अमृत का वह कुंड है जिसमें स्नान कर मनुष्य शाश्वत सुख का अनुभव करता है। संसार का मिलना दुःख रूप है। भगवान का मिलना परमसुख स्वरूप है। संसार अज्ञान का स्वरूप है। भगवान ज्ञान के स्वरूप हैं। अथाह सागर हैं जिसमें डूबकर साधक सिद्ध हो जाता है।

भगवान के स्वरूप में रत हो जाना तथा उस रत होने की स्थिति के उपरान्त तृप्त हो जाना और संतुष्ट हो जाना यह स्थिति आत्मरत है आत्मतृप्त है और आत्म संतुष्ट है। एक विक्षिप्त व्यक्ति से कोई कार्य करने के लिए नहीं कहता। क्योंकि वह सैद्धान्तिक रूप से कोई कार्य नहीं कर सकता। यह आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्टि की स्थिति नहीं है। विक्षिप्त की तुलना आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्टि से करना एक शीशे के टुकड़े की तुलना हीरे से करने जैसा है। हीरे के आकार प्रकार का शीशा दिखाकर यह कहा जा सकता है कि हीरा ठीक इसी प्रकार का होता है। परन्तु वह काँच का टुकड़ा हीरा नहीं हो सकता। हीरा हीरा है। शीशे का टुकड़ा शीशे की तरह तुच्छ है। इसमें तुलना नहीं है। अतुलनीय स्थिति है। उसी प्रकार एक विक्षिप्त मनुष्य की तुलना आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्टि से नहीं हो सकती। विक्षिप्त की ओर उसकी स्थिति के बारे में संकेत करके इन स्थितियों को समझाने का प्रयास हुआ परन्तु वास्तविकता इससे अत्यंत परे की बात है।

साधना की पराकाष्ठा पर जब एक साधक पहुंच जाता है तो वह भगवान की असीम सत्ता अनिर्वचनीय सामर्थ्य और स्वरूप, कृपा, ऐश्वर्य, गुण आदि को जानकर उसमें रत हो जाता है। जिस प्रकार एक गरीब व्यक्ति को झोपड़ी से हटाकर सर्वसुविधा सम्पन्न महल में रख दिया जाए तो वह महल की संरचना, भव्यता, विशालता, सुख सुविधा, ऐश्वर्य, वैभव विलास आदि को देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। वह अपनी कुटिया की तुलना उस भव्य महल के साम्राज्य से नहीं करता। कहां उसकी टूटी फूटी कुटिया और कहां वह सर्वसुविधा सम्पन्न महल। गरीब व्यक्ति उस महल की भव्यता में रत हो जाता है। एक एक वस्तु को बहुत आश्चर्यप्रदता से निहारता है। भगवान की सत्ता भी कुछ ऐसी ही है। उसकी प्रतीती आभास हो जाने पर मनुष्य के लिए संसार तुच्छ हो जाता है। निकृष्ट हो जाता है। संसार की सत्ता अवशेष नहीं रहती। क्योंकि संसार की सत्ता नाशवान है और वह परमात्मा परम अविनाशी है।

भगवान के ऐश्वर्य में, स्वरूप में रत व्यक्ति को जैसी तृप्ति प्राप्त होती है वैसी संसार में कल्पना में नहीं आती है। भगवान के संसार में कुछ भी अप्राप्त नहीं है। संसार

के समग्र भोग तुच्छ है। उस परमात्मा के समक्ष संसार का स्वरूप तुच्छ है संसार का ऐश्वर्य तुच्छ हैं। संसार का आनन्द तुच्छ है उस परमानन्द के समक्ष सब कुछ तुच्छ है। संसार का ज्ञान उस परम विज्ञान के समक्ष तुच्छ है। संसार में जो कुछ है वह निरर्थक है। अनावश्यक है। मिथ्या है वह आभास करके साधक तृप्त होकर सभी प्रकार से संतुष्ट हो जाता है। यह तुष्टि संतुष्टि संसार के सुखों की तुष्टि संतुष्टि की तरह से तुच्छ नहीं है क्षणिक नहीं है। वह आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि अस्थायी है। कभी समाप्त होने वाली नहीं है। उस तृप्ति में उस संतुष्टि में डूबकर साधक आत्माराम हो जाता है। आत्मानन्द में डूब जाता है। अमृत को प्राप्त हो जाता है।

अकर्तव्य कर्म क्रिया में तभी आते हैं जब संसार में रहने के लिए हमें कुछ वस्तुओं का आभास होता है। हमारे समग्र कर्मो का परिणाम संसार को प्राप्त करना है। अधिकांशतः कर्म संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने के निमित्त किये जाते हैं। कर्मो के सम्पादन से संसार की कुछ वस्तुऐं प्राप्त हो जाती हैं। कुछ स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु कर्म से भगवान की प्राप्ति नहीं होती है। कर्म की पहुंच वहां तक नहीं है। मनुष्य के जो भी कर्तव्य कर्म हैं वह संसार तक ही सीमित हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अध्ययन करना, गृहस्थ आश्रम में परिवार का भरण पोषण करना, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में उन आश्रम के नियमों का पालन करना आदि आदि सब कुछ संसार के लिए है। जो कर्तव्य कर्म हैं वह सबके सब संसार तक सीमित हैं। उनका कोई अभिप्राय, अर्थ भगवान की प्राप्ति के लिए नहीं है। इस कारण आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट साधक के लिए कोई कर्म अवशेष नहीं रह जाता। वह कुछ कर्तव्य कर्म करता भी नहीं है औपचारिकता मात्र के लिए वह कर्मो का सम्पादन करता है। हम जो भी कर्म करते हैं वह स्वयं या अपने सम्पर्कित लोगों की स्वार्थ सिद्धि के लिए करते हैं और जब तक हमें संसार में आवश्यकता की अनुभूति होती है तब तक कर्तव्य कर्म रहते हैं और जब नहीं होती है तो भगवान अवशेष रह जाता है। वहां कर्तव्य कर्मो का कोई अस्**तित्त्व** नहीं है।

दूसरे अध्याय के 55वें श्लोक में श्री भगवान ने यह कहा कि –

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।

अर्थात् जो स्वयं से स्वयं में संतुष्ट है वह स्थिरप्रज्ञ है। अपने आप से अपने आप में संतुष्ट रहना यह साधना की उत्कृष्ट स्थिति है जो साधक को गहनतम साधना से और

समस्त प्रकार की सांसारिक कामनाओं के परित्याग से प्राप्त होती है। वैसे साधक प्रारम्भिक स्थिति में यह आगे बढ़ जाने पर जो कार्य करता है वह कार्य दिखता है। परन्तु उसका कोई अर्थ नहीं होता। उत्कृष्ट साधक का संसार पृथक् है। उसे भगवान की पूजा उपासना आदि की औपचारिकता नहीं करनी पड़ती क्योंकि वह निरन्तर सतत भाव से परमात्मा की मानसिक उपासना किया करता है। जप का निरन्तर चलना अर्थात् भगवान के नाम का सदैव स्मरण करना और चित्त में उसके स्वरूप की निरन्तर प्रतीती यह स्थिति है **आत्मन्येवात्मना तुष्टः** की। ऐसे सिद्ध साधक के लिए संसार में कोई कर्तव्य कर्म कहां रह सकते हैं ? नहीं रह सकते हैं। समग्रता से समाप्त हो जाते हैं।

आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्टि यह क्रमिक स्थिति है और अंततः एक साथ भी रहती है। आभास होती है, प्रतीत होती है। साधक अंदर से प्रसन्न रहता है। वह प्रसन्नता मुख पर प्रकट होती है। व्यवहार शिष्ट रहता है। शिष्टता प्रकट होती है। विशेष तथ्य यह है कि भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता। एक समान रहता है दुःख आ जाए तो ठीक है सुख आ जाए तो भी ठीक है। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति दुःख में यह कहता है कि आज मन बड़ा दुःखी है। आज बहुत हानि हो गयी है क्या करें ? कुछ अच्छा नहीं लगता। सुख आने पर वह यह प्रकट करता है कि भगवान की बहुत कृपा है। बहुत बड़ा कार्य हो गया है। आज हम बहुत प्रसन्न हैं। यह दोनों स्थितियां सामान्य व्यक्ति की हैं। उत्कृष्ट साधक की नहीं। आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्टि में यह सब समाप्त हो जाता है वह स्वतः प्रसन्न रहता है। तृप्त रहता है। ऐसी तृप्ति और संतुष्टि कहीं नहीं मिलती। इस स्थिति में कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता। समस्त कर्तव्य कर्म स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

5– समस्त कर्मो का परमात्मा में अर्पण करें :–

यह मानव शरीर धीरे–धीरे क्षीणता की ओर बढ़ता है। बाल्यावस्था से युवावस्था तक वृद्धि की ओर रहता है। विकसित होता है। यह वृद्धि हमें प्रतीत होती है। दिखाई पड़ती है कि शरीर विकसित हो रहा है। तब उसमें शरीर के क्षीण होने की क्रिया भी चलती रहती है। युवावस्था के ढलान की ओर वृद्धावस्था के आगमन में यह क्षीणता प्रतीत होती है। परिवर्तन प्रतीत होता है। मुखाकृति विकृत स्वरूप ले लेती है। शरीर के अंग प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं। इसका विशेष प्रभाव मुखमंडल पर पड़ता है। हम मुख देखकर ही मनुष्य की आयु का अनुमान लगा लेते हैं। बालक युवक वृद्ध की आयु का आंकलन कर लेते हैं। जान

लेते हैं कि व्यक्ति किस आयु संवर्ग का है। धीरे–धीरे यह शरीर क्षीण होकर अतिक्षीणता को प्राप्त होता है। वृद्धावस्था स्पष्ट प्रतीत होती है। बालक से वृद्धावस्था तक कि आयु का और समय का समर्पण कहां हुआ है ? यह विचार किया जाए कि आपने अपनी समग्र आयु कहां समर्पित की ? तो हम यह देखते हैं कि हमारी समस्त आयु संसार में समाप्त हो गयी है। काल की गति में समा गयी है। शरीर समा गया। वृद्धावस्था शरीर के समापन की कगार पर आ गया है। यह विलक्षणता है। देखने में तो सरल सहज प्रतीत होता है परन्तु आश्चर्यजनक तथ्य है। जिस पर हमने कभी विचार नहीं किया।

हमने अपनी आयु का अपने शरीर का समर्पण नहीं किया पर वह स्वतः वृद्धावस्था को समर्पित हो गया। बिना चाहें हो गया। कौन चाहता है ? कि हम वृद्ध हो जाए। हमारी आयु वृद्धावस्था को समर्पित हो जाए। बाल पककर सफेद हो जाए। आंखों में दृष्टि दोष हो जाए। दांत भी कार्य न करें। हाथ पैर शिथिल हो जाऐं। यह कोई नहीं चाहता। पर बिना चाहें ही हमारी आयु वृद्धावस्था को समर्पित हो जाती है। वैसे ही समर्पित हो जाती है जैसे ईंधन का समर्पण अग्नि में होने पर ईंधन जलकर राख हो जाता है। बहुत से सम्पन्न व्यक्ति अपनी आयु को रोकने के लिए अनेक औषधियां प्रयोग करते हैं परन्तु इन औषधियों के प्रयोग से भी अवस्था रूकती नहीं है। कुछ समय के पश्चात् वह स्वतः समाप्त हो जाती है। हम अपने को मृत्युरूपी अग्नि में समर्पित नहीं करना चाहते पर हम समर्पित हो जाते हैं। जिस प्रकार बाढ़ में नदी पृथ्वी का कटाव करती है। किनारे की मिट्टी कटकर जल की धारा में विलीन हो जाती है और वह मिट्टी जल में मिल जाती है। समर्पित हो जाती है। उसी प्रकार हमारी आयु भी वृद्धावस्था और मृत्यु में समर्पित होती है। हम भी समय के साथ समय के प्रवाह में बहकर अपना अस्**तित्त्व** समाप्त कर लेते हैं।

हमारे समस्त कर्म इस काया अर्थात् शरीर से होते हैं। मनीषी कहते हैं कि मनसः वाचा कर्मणा कर्मो के सम्पादन के प्रकार हैं। यह काया जब बिना अर्पित किये अर्पित हो जाती है। समाप्त हो जाती है। समय के साथ नष्ट हो जाती है तो काया के कर्म भी अर्पित होते हैं। काया के अर्पण को हम रोक नहीं सकते। इस अर्पण को निरुद्ध करने की क्षमता हमारे अंदर नहीं है। वह तो स्वतः कालरूपी भगवान के अंदर हो जाता है। भगवान को अर्पण करें अथवा न करें इस प्रकार की स्वतंत्रता मनुष्य को प्राप्त है। इसी स्वतंत्रता का हमने दुरुप्रयोग किया है और हम अपने लिए अपने परिवार के लिए कर्मो का अर्पण करते रहे। संसार के निमित्त अपने कर्मो का अर्पण किया। यही त्रुटि मनुष्य से निरन्तर

होती रहती है। कर्मो को भगवान के अधीन कर देते तो मुक्त हो जाते। संसार के चक्र में हमें नही घूमना पड़ता। हम युवा होकर संसार को चाहने लगे और उसमें रमने लगे। संसार के राग में समर्पित होने लगे। यह भूल हमसे हो गयी। हमने यह विचार नहीं किया कि हमारा अर्पण त्रुटिपूर्ण हो रहा हैं। यज्ञ की आहुति यज्ञ कुण्ड के बाहर हो रही है। यह काया कालरूपी भगवान को अर्पित होती रही। काया के कर्म अर्पित हो गए। उसे हमने अपने स्वार्थ के लिए इन्द्रिय अर्थ के लिए सुख भोग के लिए अर्पित किया। यह त्रुटि हुई। कर्मो के सम्पादन की स्वतंत्रता ने हमें अपने पथ से विमुख कर दिया।

भगवान के मंदिर में जब हम भगवान की पूजा करते हैं तब पुष्प, फल, जल और मिष्ठान श्री भगवान को अर्पित करते हैं और कहते हैं कि भगवान यह सब आपको समर्पित है। मिष्ठान श्री भगवान को समर्पित कर दिया। श्री भगवान ने उसको ग्रहण कर लिया। इस अर्पण के पश्चात् वह मिष्ठान श्री भगवान का प्रसाद हो गया। क्योंकि भगवान को मिष्ठान के समर्पण मात्र की भावना तथा उनके सम्मुख समर्पण से वह मिष्ठान प्रसाद हो गया है। पुण्य हो गया। लोग इसे श्रद्धाभाव से मस्तष्क पर लगाकर ग्रहण करते हैं। परन्तु भगवान को समर्पित करने से वह पूज्यनीय हो गया। यदि वह भगवान को समर्पित नहीं होता तो सामान्य मिष्ठान की तरह से होता। इसे लोग मस्तष्क पर नहीं लगाते। उसके प्रति आदर का भाव नहीं रखते। यह आदर भाव भगवान को समर्पित करने से उनको अर्पित करने से प्राप्त हुआ है। ऐसे नहीं प्राप्त हुआ है। अर्पण का भाव होने से पूज्यनीयता आ जाती है और एक सामान्य मिष्ठान विशिष्ट स्थिति को प्राप्त होता है। लोग वैष्णो देवी जाते हैं और वहां से प्रसाद लाते हैं अपने परिजनों में उसे बांटते हैं। लोग कितनी श्रद्धा से उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसे आदर भाव देते हैं क्या कारण है ? इस तथ्य में इतना ही कारण है कि वह पूज्य देवी को अर्पित किया गया है। वह सामान्य रूप से दुकान पर बिक रहा था तो उसके प्रति आदर भाव नहीं था। परन्तु सामान्य वस्तु अर्पित करने से विशिष्ट हो जाती है। पूज्यनीय हो जाती है। यही अर्पण का सिद्धान्त है जिसे हमें समझना चाहिए।

मनुष्य जब तक अपने लिए कार्य करता है। तब तक वह पूज्यनीय नहीं होता। एक कुत्ता भी सुबह से शाम तक अपने लिए कर्म करके भोजन की व्यवस्था कर लेता है अन्य पशु भी कर लेते हैं। इसमें कोई विशेष बात नही है। एक सामान्य व्यक्ति भी अपने लिए भोजन की व्यवस्था कर लेता है। सुबह से शाम तक कर्म करके स्वयं का और अपने परिवार का पेट पाल लेता है। इसमें कोई विशिष्ट भाव नहीं है। यह सम्पूर्ण कर्म मनुष्य

अपने विवेक से करता है परन्तु इस कर्म में स्वार्थ बढ़ता है। इसमें अपने तथा अपने से सम्पर्कित लोगों का पेट पालने का भाव है। एक पशु भी अपने बच्चों के पेट पालने में लगा होता है। अनेक पशु पक्षियों को आपने देखा होगा कि वह भोजन की व्यवस्था करके अपने छोटे बच्चों को खिलाते हैं। कुछ हमारा भी इसी प्रकार का कार्य है। हम दिन रात एक करके अपने परिवार और सम्पर्कित लोगों के पेट पालने की व्यवस्था करते हैं और उन्हें सुख देने का कार्य करते हैं। परन्तु यह कार्य पशु पक्षी की तरह से है। इसमें परमात्मा के प्रति समर्पण की भावना नहीं है। इसलिए यह कार्य पूज्यनीय नहीं है। यदि इसमें परमात्मा के प्रति या दूसरों के समर्पण की भावना होती तो यह कार्य पूज्यनीय हो जाता।

एक मनुष्य जीवन भर कर्म करता है तब जाकर अपने जीवन के लिए आवश्यक अनिवार्य और विलासतापूर्ण वस्तुऐं एकत्र कर पाता है। हम जिस प्रकार अनेक वस्तुऐं एकत्र करते हैं और अपने लिए आवास आदि की व्यवस्था करते हैं और जो अनुपयोगी मूल्यहीन वस्तुऐं हैं उनको अपने आवास से बाहर फेंक देते हैं। यह आवास आदि की व्यवस्था हम स्वयं के लिए और अपने परिवार के लिए करते हैं। एक बालक भी कुछ टूटी फूटी मूल्यहीन वस्तुओं से घर जैसी आकृति बनाकर खेलता है। वह उन वस्तुओं को मूल्यवान मानता है। बालक उसमें भटकता रहता है। यदि उन वस्तुओं को बालक से कोई छीनने का प्रयास करता है तो बालक उदिग्न होकर क्रोध करता है परेशान होता है रोता है। वह वस्तुऐं हमारे लिए मूल्यहीन हैं पर एक बालक के लिए बहुत काम की है। क्योंकि उससे उसका खेल बन रहा है। वस्तुओं की मूल्यहीनता में बालक की अमूल्यता का भाव है। इसी प्रकार हम जो भी पत्थर लोहा लकड़ी तथा अन्य वस्तुऐं एकत्र कर लेते हैं वह हमारे लिए मूल्यवान है क्योंकि उनसे हमें सुख मिलता है। सुख का आभास होता है कि हम रात दिन कर्म करते हैं और इन वस्तुओं को एकत्र करने के लिए कठिन से कठिन प्रयास करते हैं। धूप गर्मी बरसात सर्दी और रात्रि में भी कर्म करते हैं। जी तोड़ परिश्रम करते हैं परन्तु इस जी तोड़ परिश्रम के पश्चात् लोहा लकड़ी और पत्थर ही एकत्रित होता है। हम बालक की तरह से उसे मूल्यवान मानते हैं और उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने बहुत विकास किया है क्योंक उसने इन वस्तुओं को एकत्र करके एक बहुत सुन्दर आवास बना लिया है। सम्पूर्ण कर्म अपनों के लिए अपनों से सम्पर्कित लोगों के लिए करते हैं। कर्म करके जो कुछ भी हमने एकत्र किया है वह हमसे छूटता है। हमारा सम्पूर्ण किया कराया समाप्त हो जाता है। क्या अर्थ है ? ऐसे कर्म का और उससे क्या

लाभ है ? इससे कोई लाभ नहीं है। क्योंकि यह समर्पण अपनों और सम्पर्कित लोगों के लिए है।

हम संसार के प्रति समर्पित होते हैं तो हमें संसार प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि यह समर्पण संसार की ओर है। भगवान के प्रति समर्पित होने से भगवान में प्रीति बढ़ाकर हमें भगवान मिलता है। उसकी कृपा प्राप्त होती है यह नियम है। हमने अपने को संसार के प्रति समर्पित किया है तो हमें संसार के प्रति स्नेह मिलता है। उसके प्रति आसक्ति बढ़ती है। भगवान के प्रति समर्पण के भाव से भगवान में प्रीति और स्नेह बढ़ता है। कर्मो का भगवान में समर्पण करने का अर्थ है कि हम जो कर्म करें वह भगवान को दृष्टिगत् करके करें इस स्थिति में हमको पाप नहीं होगा। एक कहानी बडी प्रचलित है कि एक व्यक्ति अपने पुत्र को समझाता था कि बेटा ईश्वर सब जगह व्याप्त है। वह हम सबको देख रहा है। एक बार उक्त व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के खेत में अनाज चुराने का कार्य परिस्थितिवश करना पड़ा। उसने विचार किया कि अपने पुत्र को साथ ले लेंगे तो वह खेत की मेड़ पर खड़ा होकर देखता रहेगा कि कोई हमें देख तो नहीं रहा है। इस विचार से उसने चोरी करते समय पुत्र से कहा कि बेटा तुम निगाह रखना कि कहीं कोई आ तो नही रहा है। जब तक हम इस खेत से कुछ अनाज काट लें। वह खेत में अनाज काटने लगा तो कुछ देर पश्चात् उसका पुत्र बोला पिता जी कोई देख रहा है ? वह व्यक्ति चोरी का कार्य छोड़कर अपने बालक के पास आकर कहने लगा कि कौन देख रहा है ? तो उस बालक ने कहा कि आपने ही तो कहा था कि भगवान प्रत्येक स्थान पर हैं वह हमें देख रहा है। इसलिए हमने आपको आवाज लगायी तो व्यक्ति समझ गया और उसने चोरी का कार्य छोड़ दिया।

यह एक कहानी है। इस कहानी से हमें भगवान के प्रति कर्मो के समर्पण की बात समझ में आती है। जब हम प्रत्येक कार्य को भगवान के साथ रखते हैं अर्थात् उसको देखकर प्रत्येक कार्य करते हैं तो हम पाप कर्म से वंचित हो जाते हैं। हम जानते हैं कि वह हमारे दुष्कर्म को लगातार देख रहा है। इस कारण हम अपने कर्म को सही ढंग से करते हैं। उचित कार्य करते हैं। अनुचित का परित्याग कर देते हैं। यह एक भाव है। भगवान में कर्मो के अर्पण करने का। भगवान में हमें कर्म अर्पण करने हैं तो उसे हम साथ रखकर कार्य करें। यह समझे कि वह हमारे साथ कार्य कर रहा है। उसकी प्रेरणा से ही कार्य हो रहा है। उसकी प्रेरणा के बिना कोई कार्य हो नहीं सकता। भगवान के प्रति

समर्पण भाव रखना। कर्मो का भगवान में समर्पण करना है।

एक सामान्य व्यक्ति यह विचारता है। समझता है कि अमुक कार्य हमने किया है। वह उचित कर लेने पर यह समझता है कि हमने अमुक कार्य किया है। हमने बच्चों को पढ़ाया है। अपने परिवार का भरण पोषण किया है अनेक वस्तुऐं एकत्र की हैं। बहुत सी सम्पत्ति एकत्र कर दी है। एक के पश्चात् एक कार्य का उसका अपना विवरण रहता है। यही कर्तापन की प्रस्तुति है तथा कर्तापन के अभिमान की स्थिति होती है। कर्तापन का अभिमान प्रकट हो जाता है। यह कर्मो के स्वयं में समर्पण करने का कार्य है। मनुष्य कर्मो को इस प्रकार से अपने में समर्पित करता है। इसके प्रतिकूल जब व्यक्ति यह कार्य करता है कि हमने कुछ नहीं किया है उस परमात्मा ने हमसे करवाया है। हम निमित्त मात्र है। तब विशेष रूप से कार्य करने की शक्ति आती है। क्योंकि हम यह मान रहे हैं कि हमने यह कार्य नहीं किया है। यह निमित्त का भाव बड़ा विलक्षण है। चमत्कारी है। इसे समझना चाहिए। कर्म हम करें और परमात्मा को कर्ता मान ले यह कैसे हो सकता है ? इसमें मर्म है। रहस्य है। मनुष्य जब कर्म करके अपने को कार्य करने का निमित्त मान लेता है तो वह भूल करता है। यह भूल सुधारता भी नहीं है क्योंकि उसने प्रकट में प्रत्यक्ष में सब कुछ किया है। जिस प्रकार घर में स्त्री भोजन बनाती है तब सब लोग उसे ग्रहण करते हैं। यदि कोई यह कहे कि भोजन स्त्री ने नहीं बनाया है तो यह मानने की बात नहीं है। स्त्री भी समझती है कि उसने भोजन बनाया है। यही कर्तापन का अभिमान है। जब यह भाव रहता है तब तक कर्मो का भगवान में समर्पण नहीं हो सकता। यह तथ्य इस प्रकार कह सकते हैं कि भगवान स्त्री को भोजन बनाने की बुद्धि प्रदान करते हैं। भोजन बनाने की वस्तुऐं और सामग्री वही देते हैं। वे अग्नि प्रकट करते हैं। तब भोजन बन पाता है। स्त्री भगवान के कार्य में अर्थात् भोजन बनाने रूपी कर्म में निमित्त मात्र है। वह जब अपने को निमित्त मात्र मानती है तो ठीक है। भोजन को सम्पूर्णता से बनाने वाली मान बैठती है तो वह भयानक भूल कर बैठती है। हम सब यही कर रहे हैं। हमने कुछ नहीं किया भगवान ने किया है। यह मान लेना इसे सम्पूर्णता से मन के भाव में उतार लेना ही कर्मो का परमात्मा में समर्पण करना है।

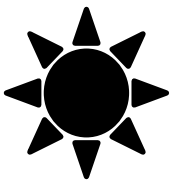

6– तीसरे अध्याय के प्रमुख विषय :–

(क) पूर्व प्रसंग :– श्री भगवान के द्वारा दूसरे अध्याय के अंतिम अर्थात् 72वें श्लोक में यह कहा गया–

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।

अर्थात् हे अर्जुन! यह परमात्मा की अनुभूति किये हुए सिद्ध पुरुष की स्थिति है। इस अवस्था को प्राप्त करके सिद्ध पुरुष कभी मोहित नहीं होता और वह इसी स्थिति में रहकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

श्री भगवान के द्वारा दूसरे अध्याय का समापन साधना की उच्चतम स्थिति अर्थात्पराकाष्ठा को लेकर हुई। दूसरे अध्याय का आरम्भ होने की स्थिति तथा अन्त होने की स्थिति और उसके विषय पर जब आप ध्यान देंगे तो पायेंगे कि अध्याय के आरम्भ में अर्जुन शोकयुक्त और विषादयुक्त था। वह रो रहा था और अंतिम श्लोक में ब्रह्मज्ञान का सैद्धान्तिक रूप समझ रहा था। श्री भगवान ने उसे ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया है। यह बड़ी विषमता है। विषय में पर्याप्त अंतर है। जो व्यक्ति शोकग्रस्त होकर और आंसुओं से भरे नेत्रों वाला हो और कुछ पलों के पश्चात् वह ब्रह्मज्ञान की स्थिति को ग्रहण करें तो आश्चर्यप्रद तथ्य है। श्री भगवान का ब्रह्मज्ञान के रहस्य का प्रकटीकरण अत्यंत विशिष्ट है। स्थिरप्रज्ञता के 18 श्लोक अत्यंत विशिष्ट हैं। जिसे हम गीता के 18 अध्यायों के सार**तत्त्व** के रूप में भी स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म से विमुख हो और उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर कर्तव्य कर्म की ओर उन्मुख करना हो तो उसके मन में यह विचार उठना आवश्यक कि कर्तव्य कर्म की क्या आवश्यकता है ? परमात्मिक ज्ञान से मनुष्य के जीवन का कल्याण हो सकता है। यही विचार अर्जुन के मन में भी आ रहा है। यही इस अध्याय का पूर्व प्रसंग हैं। श्री भगवान ने पूर्व प्रसंगों में जिसका वर्णन किया है वे निम्न प्रकार हैं :–

- **भगवान द्वारा अर्जुन को समझाना तथा युद्ध रूपी कर्तव्य कर्म हेतु प्रेरित करना।**
- **अर्जुन के द्वारा अनेक तथ्यों का प्रस्तुतिकरण और अपने कल्याण के मार्ग को**

जानने की प्रार्थना करना।

- भगवान द्वारा विभिन्न प्रकार के उदाहरण देकर अर्जुन को संसार की अनित्यता का दर्शन कराने का प्रयास।
- श्री भगवान के द्वारा जीवात्मा के विशिष्ट गुणों का निरूपण।
- स्वधर्म पालन की प्रेरणा तथा क्षात्र धर्म पर चलने का आदेश देना।
- सुख, दुःख, लाभ–हानि और जय पराजय को समान रखकर कार्य करने आदेश।
- निश्चयात्मक बुद्धि तथा वेदों के सकाम कर्मो का कथन।
- त्रिगुणों से परे जाने तथा वेदों के त्रिगुणात्मक विषयों के त्यागने का कथन।
- कर्म योग के विशिष्ट स्वरूप का कथन।
- सिद्धि असिद्धि को समान समझकर कर्म करने को कहना।
- फल की कामना वाले दीन है और कृपण है ऐसा कहना।
- निश्चयात्मक बुद्धि से ही योग की प्राप्ति हो सकती है।
- अर्जुन का स्थिरप्रज्ञ पुरुष के सम्बंध में विशिष्ट प्रश्न।
- श्री भगवान का स्थिरप्रज्ञ के सम्बंध में विशिष्ट वर्णन।
- इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाने का कथन।
- कामना, क्रोध की उत्पत्ति का युक्तियुक्त कथन।
- स्थिर बुद्धि व्यक्ति की परमात्मा में स्थिर बुद्धि होने का प्रकरण।
- ब्रह्म को प्राप्त पुरुष के लक्षण।

(ख) तीसरे अध्याय के आरम्भ होने के कारण :–

दूसरे अध्याय में वर्णित स्थिरप्रज्ञता के विषयों का जब हम गहनता से परीक्षण करते हैं तो यह पाते हैं कि स्थिर प्रज्ञता का विषय का सम्बन्ध ज्ञान से है। पृथक् पृथक् विषय ज्ञान सम्बंधी हैं और विशिष्ट तथ्यों का निरूपण करने वाले है। ऐसे ज्ञान सम्बंधी विषय युद्धभूमि में वर्णित नहीं किये जाते। जहां पर युद्ध का आरम्भ हो रहा हो वहां पर कोई व्यक्ति जीवात्मा, सुख–दुःख में समान रहने और स्थिरप्रज्ञता के विषयों का वर्णन करे तो इसे प्रसंगानुकूल नहीं कहा जा सकता। जहां पर मरने मारने का दृश्य उपस्थित होने वाला हो वहां पर ब्रह्म ज्ञान की विवेचना प्रसंगानुकूल और स्थिति के अनुकूल नहीं रहती। कैसी

स्थिति है ? कि अर्जुन के शोक को समाप्त करने के लिए श्री भगवान ज्ञान के तथ्यों को उद्घाटित कर रहे हैं। जिससे उसके कल्याण का तथ्य प्रकट हुआ है और यह मानव कल्याण का कारण बन गया है। श्री भगवान जिज्ञासु को ब्रह्म ज्ञान प्रदान करते हैं। यह निश्चित है। जो पात्र व्यक्ति होते हैं उनके समक्ष ही **तत्त्व** का निरूपण किया जाता है। अर्जुन को श्री भगवान ने पात्र व्यक्ति पाया और स्थिति को समझकर उन्होंने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन ब्रह्मज्ञान सुनकर विस्मृत हो गया। संभवतः वह युद्ध के आरम्भ तक ब्रह्मज्ञानी नहीं था। नहीं तो उसके समक्ष ब्रह्मज्ञान के विविध विषयों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका स्थिर प्रज्ञता के विषय में कोई प्रश्न ही नहीं होता। अब स्थिति यह कि विषय ज्ञान का सैद्धान्तिक अनुभव तो ज्ञात हो गया। उसे लगा कि सबसे बड़ी उपलब्धि यही है और इससे बड़ी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए उसके मन में यह तथ्य उभर आया कि ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है। युद्ध जैसे भयंकर मारकाट वाले स्थल में उसके मन में यह विचार आया कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना ही श्रेयस्कारी है तो हमें युद्ध जैसे कार्य में क्यों लगना चाहिए? इसी प्रश्न के निवारण के लिए और संशय से निवृत होने के लिए अर्जुन ने तीसरे अध्याय का शुभारम्भ किया तथा श्री भगवान से निम्न प्रश्न पूंछे–

(गोविन्द माधव)

अथ तृतीयोऽध्यायः

मूल श्लोक संख्या–एक तथा दो।

अर्जुन उवाच–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

पदच्छेद :–

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन,

तत्, किम्, कर्मणि, घोरे, माम्, नियोजयसि, केशव।।

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, मे,

तत् एकम्, वद, निश्चित्य, येन, श्रेयः, अहम्, आप्नुयाम्।।

भावार्थ :– अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा बुद्धि अर्थात् ज्ञान उत्कृष्ट मान्य है तो किस कारण से हे केशव ! मेरे को इस युद्ध रूपी भयंकर कर्म में संलग्न करना चाह रहे हैं। आपके भ्रमपूर्ण वाक्यों से मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। कृपा करके एक निश्चित तथ्य को कहिए जिससे मुझको कल्याण की प्राप्ति हो जाए।

व्याख्या :– दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन ने यह कहा था कि जो निश्चित श्रेयस्कारी कल्याणप्रद हो अर्थात् जिससे हमारा भला हो जाए वह मुझे बताइए। हे भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूं आपकी शरणागत हूं मुझे ज्ञान प्रदान कीजिए। दूसरे अध्याय के इस

प्रकरण में भी अर्जुन ने अपने कल्याण के मार्ग को जानने की इच्छा की थी। उसे ज्ञान और कर्म के एक निश्चित उपाय को जानने की जिज्ञासा है।

उपरोक्त प्रकार से भी अध्याय दो में श्री भगवान ने जिन विषयों का निरूपण किया था वे सम्पूर्णता से ज्ञानवर्धक हैं। यहां तक कि ज्ञान की पराकाष्ठा का जो उद्देश्य होता है। जिसे ब्रह्म ज्ञान कहा जाता है। इसका भी वर्णन श्री भगवान ने अध्याय दो के अंत में किया है। आप अध्याय दो के विषयों पर दृष्टिपात करेंगे तो पायेंगे कि पहले श्री भगवान ने जीवात्मा के विशिष्ट गुणों का विषद वर्णन किया है। अर्जुन को सत और असत का ज्ञान कराया है और यह कहा कि सत की सत्ता है और असत की सत्ता नहीं है। सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय को एक समान समझकर कार्य करें। यह वास्तविक ज्ञान का तथ्य है। ऐसी स्थिति समझकर सैद्धान्तिक रूप से जानकर उसका मात्र अनुभव ही करना है। जब यह ज्ञान हो जाएगा कि शरीर नाशवान है जीवात्मा अविनाशी है। जो सांसारिक वस्तुऐं जिनका हमसे सम्बंध है वह सबकी सब विनाशशील प्रकृति की हैं। इनका वियोग होगा। अथवा संयोग होगा। वियोग में दुःख का भाव रहता है और संयोग में सुख का भाव आता है। कुछ चला जाए तो दुःख होगा कुछ प्राप्त हो जाए तो सुख होगा। चले जाने को वियोग कहते हैं और मिल जाने को संयोग कहते हैं। इसी के परिणाम में सुख दुःख का भाव रहता है। हानि वियोग के रूप में है लाभ संयोग के रूप में है। जय होने पर सुख मिलता है और पराजय होने पर दुःख मिलता है। जय होने पर मिलने वाला भाव है वह भी नाशवान है और पराजय होने पर जो होने वाला भाव है वह भी नाशवान है। ऐसा ज्ञान का विषय है यह सबका सब ज्ञान से प्राप्त होने वाला है। अन्य किसी प्रकार से प्राप्त होने वाला नहीं है।

अध्याय दो में निश्चयात्मक बुद्धि का प्रकरण है। सकाम विषयों के बारे में वेदों का जो कथन है वह हमें सांसारिक भोगों में लगा देता है। उसका परिणाम पुनरावृत्ति या पतन के रूप में होता है। पुनः पुनः मरण और पुनर्जन्म के रूप में है। सत्त्व, रज, तम, यह तीन गुणों के अधीन हम सभी कार्य करते हैं। जब तक हम त्रिगुणों से पार नहीं हो जाते हैं हमें किसी भी प्रकार परमात्मा की अनुभूति नहीं होती और इस पात्रता से हम विमुख रहते हैं। यह सबका सब ज्ञान का विषय है और उसकी चर्चा है। अंततः स्थिरप्रज्ञ की स्थिति का जो प्रकरण श्री भगवान ने विवेचित किया है वह अत्यंत ज्ञानवर्धक है। भगवान ने उसमें असीम ज्ञान उड़ेल दिया है। ज्ञानेन्द्रियों को उसके अर्थो अर्थात् विषयों से हटाने का ज्ञान तथा

उसका युक्तियुक्त विवेचन यह सबका सब ज्ञान है। यह विशिष्ट ज्ञान का विषय है। विषयों के ज्ञान से विषयों में आसक्ति की उत्पत्ति, विषयों से कामना का उत्पन्न होना और कामना में अवरोध से क्रोध की उत्पत्ति और क्रोध से सम्मोह तथा सम्मोह से स्मृति का विनिष्ट होना और स्मृति के विनिष्ट होने से मनुष्य का सर्वनाश। यह सबका सब प्रकरण ज्ञान का ही प्रकरण है। क्रमिक वर्णन सैद्धान्तिक है। प्रयोगात्मक रूप से देखा जा सकता है। सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान श्री भगवान ने स्थिरप्रज्ञता के सम्बंध में दिया है जिससे यह अर्जुन की बुद्धि में इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ब्रह्म निष्ठ व्यक्ति का वर्णन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसकी अभिव्यक्ति बड़ी विषद है। जिससे अर्जुन के मन में तत्काल प्रश्न उत्पन्न हो गया। ज्ञान की श्रेष्ठता के सम्बंध में उसे बोध हुआ। यही मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता और उसका सर्वोच्च उद्देश्य है और मैं यहां युद्ध के लिए खड़ा हूं इसी भाव ने अर्जुन के मन में यह प्रश्न उत्पन्न किया है।

अध्याय दो के मध्य में एक स्थल पर 47वें श्लोक में कर्मयोग का भी वर्णन आया है और अध्याय दो में उत्तिष्ठ कहकर युद्ध करने के लिए भी कहा है इस कारण अर्जुन के मन में यह प्रश्न है कि यह ब्रह्म ज्ञान का सैद्धान्तिक उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् युद्ध जैसा भयंकर कर्म श्री भगवान क्यों कराना चाहते हैं ? वह शान्ति का मन बना रहा है। इसी कारण उपरोक्त प्रश्न उत्पन्न हुआ है और उसने यह कहा **ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।** अर्थात् कर्म की अपेक्षा यदि ज्ञान श्रेष्ठ है तो हे भगवन! तुम मुझे युद्धरूपी भयंकर कर्म में क्यों लगाना चाह रहे हो ? मैं यह समझ नहीं पा रहा हूं। उसने स्वयं ही आगे कहा कि ज्ञान की बाते कर रहे हैं तथा उसी के मध्य कर्म की बात भी कह रहे हैं। इस कारण यह मिश्रित तथ्य है अर्थात् मिलीजुली बाते हैं। हे भगवन् ! हमें ज्ञान के तथ्य को बताइए और या फिर कर्म के तथ्य को बताइए। दोनों की विशिष्टता का निरूपण करने से हम मोहित हो रहे हैं। व्यक्ति की बुद्धि तभी मोहित होती है जब वह एक साधन को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाता। जहां पर दो साधनों का मिश्रित उल्लेख हो जाता है तो साधारणतः मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो जाती है और वह निश्चित रूप से भ्रमित हो जाता है। धर्म के विषय में विशेषकर व्यक्ति जब यह तय नहीं कर पाता है कि क्या करना कल्याणप्रद होगा ? तब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यदि मनुष्य के मन में यह तथ्य बैठ जाए कि ज्ञान श्रेष्ठ है और कर्म निकृष्ट है। तो

मनुष्य कर्मो के सम्पादन से विमुख होता है और वह ज्ञान की ओर बढ़ता है। जब हम किसी विशिष्ट महानुभाव से चर्चा करते हैं कि हमें ज्ञान मार्ग का अनुकरण करना चाहिए या कर्म के मार्ग का अनुकरण करना चाहिए तो जिस महानुभाव से प्रश्न किया जाता है यदि वह रजोगुण प्रधान व्यक्ति है तो वह कर्म को श्रेष्ठ बताएगा और कर्म के सम्पादन की बात कहेगा तथा कर्मो से ही सिद्धि मिल सकती है ऐसा कहेगा और यदि वह सात्त्विक प्रधान व्यक्ति है तो ज्ञान को श्रेष्ठ बताएगा और कर्मो के परित्याग की बात कहेगा। प्रत्येक मनुष्य में जो बुद्धि होती है वह जिस गुण से प्रभावित होती है वैसा ही वह निश्चय करती है। रजोगुणी मनुष्य में प्रवृत्ति विशेष होती है अर्थात् सांसारिक कार्यो को करने की इच्छा रहती है। सत्त्वगुण प्रधान व्यक्ति में निवृत्ति विशेष होती है वह ज्ञान के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करना चाहता है। इस स्थल पर दूसरे अध्याय में कर्मयोग का भी विषय है और ज्ञान योग का भी विषय है। दोनों विषय मिश्रित हो गए हैं। इसलिए अर्जुन के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ है।

अर्जुन ने दूसरे श्लोक में यह कहा **तदेकं वद निश्चित्य** अर्थात् उस एक तथ्य को निश्चित करके कहे। जो हमारे लिए कल्याणप्रद हो। यह तथ्य इस कारण उसने कहा है क्योंकि वह यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है अथवा कर्ममार्ग श्रेष्ठ है। पहले श्री भगवान ने कर्मविषयक बात की है और उसके उपरान्त ज्ञान विषयक बात की हैं। दोनों मार्गो का वर्णन सुनकर उसे भ्रम हो गया है कि उसे किस मार्ग का अनुकरण करना चाहिए ? मनुष्य के जीवन में अनेकों बार इस प्रकार के प्रसंग आते हैं कि उसे किस मार्ग का अनुकरण करना चाहिए। हम सभी अपने जीवन में जब भी किन्हीं समस्याओं से ग्रसित होते हैं तो यह विचार करते हैं कि उन समस्याओं से हमारी मुक्ति कैसे होगी ? और हम मुक्ति का मार्ग खोजते हैं। समस्याओं से मुक्ति का मार्ग खोजने में व्यक्ति दो प्रकार से कार्य करता है। एक तो वह स्वयं की बुद्धि से विनिश्चय करता है अथवा वह अपने सम्पर्कित व्यक्तियों से परामर्श करता है और अंततः उसे जो ठीक प्रतीत होता है वह वैसा कार्य करता है। परन्तु जब हम किसी श्रेष्ठ व्यक्ति की सान्निध्यता में कार्य करते हैं तो अपनी प्रत्येक समस्या को उसी श्रेष्ठ व्यक्ति के परामर्श से हल करने के इच्छुक होते हैं। हम अपनी बुद्धि से कार्य का विनिश्चय नहीं करते। वरन् उस श्रेष्ठ व्यक्ति की बुद्धि से कार्य का विनिश्चय करना चाहते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो हम नित्य प्रति देखते हैं। अर्जुन के मन में भी ऐसे ही तथ्य हैं। वह श्री भगवान जैसी श्रेष्ठ सत्ता से अपने

प्रश्नों का निराकरण चाहता है। इसीलिए उसने यह कहा **तदेकं वद निश्चित्य** अर्थात् उस एक तथ्य को मेरे लिए निश्चित करके कहिए। यही इस तथ्य का अभिप्राय है।

अर्जुन ने अंत में यह कहा **येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्** अर्थात् जिससे हम कल्याण को प्राप्त हो सकें। प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो अपने अकल्याण की इच्छा करे। हम सभी यह चाहते हैं कि हमारा प्रत्येक विधि से कल्याण हो। कोई व्यक्ति दुःखी नहीं होना चाहता। जब मनुष्य का कल्याण होता है तभी व्यक्ति सुखी होता है। इसलिए हमारे समाज में श्रेष्ठ पुरुषों से मार्ग जानने की परम्परा है। भारत का अधिकांश जन समुदाय अपने कल्याण के लिए आध्यात्मिक गुरुओं पर आधारित रहता है। जब वह किसी समस्या में फंसता है तो आध्यात्मिक गुरुओं और आचार्यो से ही अपनी समस्या के निवारण का उपाय पूछता है। ऐसा ही अर्जुन का भी कथन है। उसका कहना है कि जिससे हमारा कल्याण हो सके वह मार्ग बताइए और निश्चित करके बताइए। हमें भ्रमित मत कीजिए। क्योंकि कभी आप कर्म को श्रेष्ठ कहते हैं और कभी आप ज्ञान को श्रेष्ठ कहते हैं। इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? यह तथ्य निश्चित रूप से बताइए। अर्जुन के **येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्** का यही अर्थ है और उसने यह मार्ग शिष्य भाव से पूछा है। वह वस्तुतः जिज्ञासु है। जो अपने कल्याण का मार्ग पूछ रहा है। हम जब किसी व्यक्ति से प्रार्थना पूर्वक कोई तथ्य पूछते हैं तो मनुष्य यह प्रयास करता है कि हमारे प्रार्थना पूर्वक किए गए प्रश्न का उचित समाधान दे सके और जब हम स्वयं को बुद्धिमान समझकर किसी व्यक्ति से प्रश्न करते हैं तो अन्य व्यक्ति यह जान जाता है कि यह स्वयं को बुद्धिमान समझकर हमसे प्रश्न कर रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे प्रश्न का उचित उत्तर हमें प्राप्त नहीं होता हैं। यहां पर यह स्थिति स्पष्ट है कि अर्जुन शिष्य भाव से, दीनता के भाव से प्रार्थना कर रहा है और अपने कल्याण का मार्ग जानना चाहता है और उसकी यह आतंरिक इच्छा है कि श्री भगवान हमारे कल्याण के पथ का वर्णन करें। यही अर्जुन के द्वारा कहे गए उपरोक्त दो श्लोकों का अभिप्राय है।

श्री भगवान ने अर्जुन के उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहा और दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया।

मूल श्लोक संख्या–तीन।

श्री भगवानुवाच –

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

पदच्छेद :–

लोके, अस्मिन्, द्विविधा, निष्ठा, पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ,

ज्ञानयोगेन, साङ्ख्यानाम्, कर्मयोगेन, योगिनाम्।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा इस मृत्यु लोक में दो विधियों की निष्ठा मेरे द्वारा पूर्व में वर्णित की गयी थी। सांख्ययोगियों की सांख्ययोग से और कर्मयोगियों की कर्मयोग से।

व्याख्या :– श्री भगवान ने दो प्रकार की निष्ठाऐं पूर्व में भी वर्णित की थी। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यह निष्ठाऐं वर्तमान में ही नहीं है वे सृष्टि के आदिकाल से हैं। श्री भगवान ने चौथे अध्याय के आरम्भ में इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। श्री भगवान ने इस प्रकरण में यह कहा कि मैने इस अविनाशी योग को सूर्य के प्रति कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा था और मनु ने राजा इच्छवाकु से कहा था। इसी योग का वर्णन मैं तुम्हारे सामने कर रहा हूं। श्री भगवान सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हैं। इसी कारण सृष्टि की उत्पत्ति काल में वे दोनों प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन करते हैं। सृष्टि के आदिकाल से यह दोनों प्रकार की निष्ठाऐं निरन्तर चलती रहती हैं और वर्तमान में भी अस्**तित्त्व** में हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने दो प्रकार की निष्ठाओं के सम्बंध में वर्णन किया है।

इस प्रकरण में यह प्रश्न उठता है कि अर्जुन तो शास्त्रज्ञ पुरुष था। क्या उसे कर्म योग तथा ज्ञानयोग का ज्ञान नहीं था ? इस प्रश्न का यह उत्तर है यदि वह दोनों प्रकार की निष्ठाओं के सम्बंध में पूर्व से ही परिचित होता तो वह यह प्रश्न नहीं करता और श्री भगवान उसके मन के अनुरूप इस तथ्य का प्रस्तुतीकरण भी नहीं करते। अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोग के विषय में नहीं बताते। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि अर्जुन को उस

समय तक कर्मयोग और ज्ञानयोग का पृथक्–पृथक् ज्ञान नहीं था। इसी ज्ञान को देने के लिए श्री भगवान ने ऐसा कहा कि दो प्रकार की निष्ठाऐं मेरे द्वारा पहले भी वर्णित की गयी हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि में मात्र मनुष्य को ही भगवान की प्राप्तिरूप साधन का अधिकार है। अन्य किसी योनि में भगवद् प्राप्ति के साधन का अधिकार नहीं है। जिन योनियो का वर्णन पूर्व में भी किया गया था उनमें किसी प्रकार का साधन नहीं हो सकता। इस कारण श्री भगवान ने **लोकेऽस्मिन** अर्थात् इस लोक में कहा। श्री भगवान के इस कथन का सम्बंध मृत्यु लोक से है। क्योंकि इसी में भगवद् प्राप्ति के साधन का अधिकार हमें है। इसी कारण इन दोनों साधनों को समझना चाहिए। हम सभी पूर्वकाल में भी लगभग सभी प्रकार की योनियों में भटके हुए हैं। अनेक कष्ट भोगने के उपरान्त श्री भगवान ने कृपा करके हमें मनुष्य योनि प्रदान की है। इस कारण इस मनुष्य योनि का जो प्रमुख उद्देश्य भगवद् प्राप्ति है। उसे प्राप्त करने का प्रयास हमें करना चाहिए। श्री भगवान ने भगवद्गीता में देवताओं आदि के लिए भी **लोकेऽस्मिन** का प्रयोग नहीं किया है। इस विषय का वर्णन करके उन्होंने संकेत दिया कि इस लोक में ही मनुष्य को भगवान की प्राप्ति का अधिकार है। अन्य लोकों में नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में तो सभी लोकों की रचना हुई। मृत्यु लोक का भी निर्माण हुआ। परन्तु मृत्यु लोक में मनुष्य मात्र को इस प्रकार का अधिकार दिया गया। अन्य लोकों में रहने वाले जीवों को इस प्रकार के अधिकार नहीं हैं। दो प्रकार की योनिया विशिष्ट रूप से हैं। जिन्हें उच्च योनि अर्थात् देवताओं की योनि और निम्न योनियां अर्थात् नारकीय योनियां कहा जाता है। इन दोनों योनियों में भगवान की प्राप्ति का अधिकार नहीं है। यही **लोकेऽस्मिन** पद का अभिप्राय है।

लोकेऽस्मिन के पश्चात् द्विविधानिष्ठा पद कहे हैं। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि दो प्रकार की निष्ठाऐं होती हैं। चूंकि निष्ठा शब्द का प्रयोग अनेक विधियों से होता है। परन्तु यहां पर निष्ठा शब्द का प्रयोग साधन के रूप में किया गया है जैसे अनेक व्यक्ति यह कहते हैं कि हमारी निष्ठा भगवान शंकर में है। दूसरे कहते हैं कि हमारी निष्ठा मां भगवती में है। अन्य भक्त कहते हैं कि हमारी निष्ठा हनुमान जी में है और अनेक व्यक्ति कहते हैं कि हमारी निष्ठा भगवान के प्रति नहीं है। मैं किसी भगवान को नहीं मानता। ऐसे ही व्यक्तियों को अन्य लोग नास्तिक कह देते हैं। परन्तु उसकी यह निष्ठा है कि वह भगवान की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। जिस प्रकार की निष्ठा मनुष्य की होती है।

वैसा ही मनुष्य कार्य करता है। निष्ठा किस आधार पर होती है ? यह पृथक् विषय है। क्योंकि बिना आधार के कोई भी निष्ठा प्रकट नहीं होती है। वस्तुतः निष्ठा त्रिगुणों के आधार पर होती है। अर्थात् कोई व्यक्ति सात्त्विक गुण से प्रभावित रहता है और अन्य व्यक्ति राजसी और तामसी गुणों से प्रभावित रहते हैं। जिस प्रकार का गुण मनुष्य में प्रबल होता है उसी प्रकार की निष्ठा उस मनुष्य की हो जाती है। परन्तु यहां पर निष्ठा शब्द का पृथक् अर्थ है। इसमें भगवद् प्राप्ति के साधन के सम्बंध में वर्णन हुआ है और श्री भगवान का यह कथन कि दो प्रकार की निष्ठाऐं मेरे द्वारा पूर्व में भी कही गयी थी। इसका अर्थ यह है कि भगवद् प्राप्ति के दो साधन हैं जिन्हें कर्मयोग और ज्ञानयोग के नाम से जाना जाता है। यहां पर निष्ठा शब्द का अर्थ साधन से है। यह उस प्रकार की निष्ठा नहीं है जो मनुष्य में गुणों के आधार पर प्रकट हो जाती है। यहां पर निष्ठा शब्द को साधन के पर्यायवाची के रूप में मानना चाहिए।

पहले ज्ञानयोग के सम्बंध में कुछ कहना आवश्यक होगा। ज्ञान शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है और इसके अनेक अर्थ होते हैं। प्रसंगानुसार ज्ञान शब्द का प्रयोग किया जाता है। अध्यात्म में ज्ञान शब्द का प्रयोग स्थल स्थल पर हुआ है परन्तु ज्ञान वही है जो हमें वास्तविक तथ्य से परिचित कराये। सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? क्या करना उचित है ? क्या करना अनुचित है ? इस तथ्य का बोध जिस साधन से हो वह वस्तुतः ज्ञान है। इस संसार में हमारा उलझाव क्यों है ? उसका क्या कारण है ? इस कारण की यदि हम खोज करेंगे तो उसका यही उत्तर पायेंगे कि हमें ज्ञान नहीं है। हमें वह ज्ञान नहीं है जिसको जानकर हम यह तय कर सकें कि सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ? यह सम्पूर्ण जगत विनाशशील है। परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु को अंततः नष्ट हो जाना है। पर हम वस्तुओं को विनाशशील नहीं समझते हैं और हम उनमें आसक्त हो जाते हैं। जीवन पर्यन्त उन्हीं विनाशशील वस्तुओं में उलझे रहते हैं। यही हमारा अज्ञान है। हम सभी को यह ज्ञान रहता है कि हम अंततः मृत्यु को प्राप्त होंगे परन्तु हमारे पास जो कुछ है। उसी को अविनाशी समझकर हम व्यवहार करते हैं। जो धनवान हैं, जिसके पास अकूत सम्पत्ति है। वह उसे अपनी मान बैठता है। परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि वह अकूत सम्पत्ति हमारे साथ जाने वाली नहीं है। परन्तु हमारा व्यवहार यह रहता है कि वह सब हमारे साथ जाएगी। इस प्रकार का व्यवहार अज्ञान है। इसके प्रतिकूल जो ज्ञान है वह वास्तविक ज्ञान है। हमारे पास कुछ भी हो वह हमारा नहीं है। यह जानकारी व्यवहार में प्रकट हो जाए तो

ज्ञानयोग का साधन बन जाएगा। हम जान गए कि इस जगत में सम्बंध, सम्पत्ति जो कुछ है वह हमारा नहीं है। इस कारण जो आसक्ति है वह समाप्त हो जाएगी। ऐसा समझने से ज्ञानयोग का साधन अंततः सफल हो जाएगा और हम अपने पास रहने वाली वस्तुओं में आसक्त रहे उन्हें छोड़ नहीं पाए तो ज्ञानयोग का साधन असफल हो जाएगा। यह हमें **प्राक् शरीर विमोक्षणात्** अर्थात् शरीर के विनिष्ट होने के पहले यह करना है। भगवान ने जो कुछ हमें दिया है उसमें व्यवहारता आसक्ति बनी रहती है। वह छूटती नहीं है और जब तक आसक्ति छूटती नहीं है तब तक हम ज्ञानयोग की प्रारम्भिक स्थिति में भी नहीं पहुंच पाते हैं।

ज्ञानयोग के उपरान्त कर्मयोग की भी कुछ चर्चा आवश्यक होगी। कर्मयोग, कर्म शब्द से जुड़ा हुआ है। कर्म के भी ज्ञान की तरह अनेक अर्थ होते हैं। पृथक्–पृथक् प्रसंगों में इसका प्रयोग होता है। परन्तु यहां पर अध्यात्म विषय में कर्म का क्या अर्थ हैं ? और कर्म योग का क्या अर्थ है ? इसे समझना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है और उसके कर्म करने का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है। कोई भी मनुष्य बिना उद्देश्य के कर्म नहीं करता। भगवान ने सभी मनुष्यों को कर्म करने का अधिकार दे रखा है। साथ ही बुद्धि भी दे रखी है। हम सभी को बुद्धि से यह निश्चय करना चाहिए कि हमें क्या करना है ? और क्या नहीं करना है ? अर्थात् क्या करना उचित है ? और क्या करना अनुचित है ? उचित कर्म करें तो वह हमारा अधिकार है परन्तु उचित कर्म तभी कर सकेंगे जब हमें उचित कर्म का ज्ञान होगा और अनुचित कर्म तभी करेंगे जब हमारी संसार में आसक्ति होगी। भगवान ने कर्म का अधिकार तो मनुष्य को दिया है परन्तु उसके परिणाम का अधिकार उन्होंने अपने पास रखा है। हम शास्त्रसम्मत कर्म करते हैं तो हमें शुभ परिणाम प्राप्त होता है और यदि हम शास्त्र के विपरीत कार्य करते हैं तो हमें अनुचित परिणाम प्राप्त होता है। कर्म का जो आधार है। उसमें फल भी साथ चलता है। जब तक फल में आसक्ति रहती है तब तक कर्म ठीक प्रकार से नहीं होता। क्योंकि फल की आसक्ति मनुष्य को स्वार्थपरता की ओर ले जाती है। हम फल की आसक्ति का परित्याग कर दें तो ऐसा कोई कर्म नहीं करेंगे जो शास्त्रसम्मत न हो, निन्दनीय हो। फल की आसक्ति का परित्याग करके मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह कर्मयोग के अन्तर्गत आता है। भगवान के द्वारा दिए गए कर्म के अधिकार का उपयोग हम जब दूसरों के हित के लिए करते हैं और उसमें अपना हित का ध्यान नहीं रखते हैं तो हमारे द्वारा किए गए कर्म

कर्मयोग बन जाते हैं और जब तक हम फल का ध्यान रखकर कर्म करते हैं तब तक हम कर्मयोग से दूर रहते हैं। कर्मयोग का साधन बहुत विशिष्ट साधन है। जिसका अनेक प्रकरणों में वर्णन किया जाएगा। इस स्थल पर ज्ञानयोग और कर्मयोग के विषय में संक्षिप्त चर्चा हुई है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों प्रकार की निष्ठाऐं अर्थात् भगवद् प्राप्ति के जो दोनों साधन हैं प्रत्येक साधक अपनी रूचि के अनुसार करता है। जब मनुष्य की भगवान के प्रति प्रवृत्ति हो जाती है तो वह ज्ञानयोग साधन का अवलम्बन करता है। और जब संसार के हित की ओर प्रवृत्ति हो जाती है तो वह कर्मयोग साधन का आचरण करता है। इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति के आधार पर दोनों साधन पृथक्–पृथक् रूप से मनुष्य अपनाता है। इसीलिए श्री भगवान ने यह कहा ज्ञानयोग का साधन ज्ञानयोगियों के लिए है और कर्मयोग का साधन कर्मयोगियों के लिए है। **ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्** अर्थात् कर्मयोग का जो साधन है वह कर्मयोगियों के लिए है और ज्ञानयोग का जो साधन है वह ज्ञानयोगियों के लिए है। प्रत्येक मनुष्य अपनी रूचि के अनुसार इन दोनों साधनों में से एक साधन का प्रयोग कर सकता है। दोनों साधनों में किसी एक साधन का सही उपयोग करने से परमात्मा की अनुभूति मनुष्य को हो जाती है। अर्थात् किसी एक पथ पर चलने से परमात्मा का आभास होता है। परमात्मा यहां लक्ष्य है और निष्ठाऐं अर्थात् साधन वह मार्ग है जिस पर चलकर परमात्मा की अनुभूति मनुष्य को होती है। इसीलिए श्री भगवान का यह कथन है कि सृष्टि के आदिकाल में मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठाऐं पूर्व में कही गयी थीं। ज्ञानयोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग से पूरी होती है।

यह तीसरा अध्याय कर्मयोग के नाम से श्री भगवान ने कहा है। श्री भगवान ने निष्ठाओं का प्रकार बताकर अब कर्मयोग के विषय को आरम्भ करना चाहते हैं।

मूल श्लोक संख्या–चार व पांच

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च सन्नयसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

पदच्छेद :–

न, कर्मणाम्, अनारम्भात्, नैष्कर्म्यम्, पुरुषः, अश्नुते,

न, च, सन्नयसनात्, एव, सिद्धिम्, समधिगच्छति।।

न, हि, कश्चित्, क्षणम्, अपि, जातु, तिष्ठति, अकर्मकृत्,

कार्यते, हि, अवशः, कर्म, सर्वः, प्रकृतिजैः, गुणैः।।

भावार्थ :– कर्मो का आरम्भ न हो तो मनुष्य को निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती है तथा कर्मो का परित्याग कर दे तो सिद्धि भी नहीं मिलती क्योंकि किसी भी काल में कोई व्यक्ति क्षण मात्र भी अकर्मकृत नहीं रह पाता है। उसका कारण है कि प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन अवश हुए समस्त प्राणियों को कर्म करना ही पड़ता है।

व्याख्या :– उपर्युक्त दोनों श्लोकों में जिन तथ्यों का वर्णन किया गया है। वे निम्न प्रकार हैं।

1– कर्म का आरम्भ न करने से निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती।

2– कर्मो का परित्याग कर देने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

3– किसी भी काल में कोई भी मनुष्य क्षण भर भी अकर्मकृत नहीं रह सकता।

4– प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन अवश हुए समस्त प्राणी कर्म करते हैं। यह कर्म करने की बाध्यता है।

उपर्युक्त श्लोकों में इन चार तथ्यों का विशिष्ट वर्णन हुआ है और प्रत्येक उक्त वर्णित विषय को समझना आवश्यक है। प्रकृति से तीन गुणों की उत्पत्ति हुई। इसलिए इन तीन गुणों, सत, रज, तम को प्रकृतिजा कहा जाता है। इन तीन गुणों सत, रज, तम के अधीन ही मनुष्य प्रत्येक कर्म का सम्पादन करता है। तीन गुणों में सत से ज्ञान और

प्रकाश, रजोगुण से लोभ तथा आसक्ति और तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मनुष्य शरीर में जब सत्त्वगुण उत्पन्न होता है तो प्रकाश तथा सद्विवेक रूपी ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। यह सत्त्व गुण के परिणाम से स्वतः प्रकट होगा। जब मनुष्य में रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो रजोगुण की वृद्धि होने पर मनुष्य में लोभ प्रवृत्ति, कर्मो का आरम्भ करना, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियां स्वतः उत्पन्न होती हैं। परन्तु जब मनुष्य में तमोगुण की वृद्धि हो जाती है तो उस मनुष्य में अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह आदि स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। अब इस उपरोक्त वर्णित तथ्य पर हम ध्यान दें कि हम सभी या तो प्रकाश और विवेक, लोभ, प्रवृत्ति, कर्मो के आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा अर्थात् संसार में वस्तुओं की आवश्यकता का आभास, अप्रकाश, अप्रवृत्ति, अशान्ति, मोह, आदि में ही घूमते रहते हैं। जब सत्त्वगुण प्रबल हो जाता है तो मनुष्य परमात्मा के विषय में विचार करता है कि वह इस संसार में क्यों आया है ? इस पर विचार करता है और देवताओं के यजन पूजन में लगा रहता है। अपने पूज्यजनों की भी पूजा उपासना करता है। जिसमें सद्विवेक रहता है। इस कारण वह सद् साहित्य अर्थात् धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करता है। मानव समाज के कल्याण के बारे में विचार करता है और उसकी समस्त मानव समुदाय के हित के विषय में प्रवृत्ति रहती है। जब मनुष्य लोभ के अधीन हो जाता है तो नाना प्रकार की सांसारिक वस्तुओं और भोगों को एकत्र करने का प्रयास करता है। यह सांसारिक वस्तुऐं और भोग कैसे प्राप्त होंगे ? इसका प्रयत्न होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति अर्थात् विचार और क्रिया सांसारिक भोगों को खोजने और उन्हें प्राप्त करने में रहती है। अनेक नवीन कर्मो का आरम्भ भी इसी कारण होता है। हम नाना प्रकार की सांसारिकता में नवीन कर्मो का प्रारम्भ करके यह विचार करते हैं कि किन किन कर्मो का आरम्भ करें ? चूंकि नवीन कर्मो के आरम्भ में अनेक तरह की बाधाऐं उत्पन्न होती है। हमारे द्वारा जो नवीन कर्म आरम्भ हुआ है वह सफल होगा अथवा असफल हो जाएगा। इस पर विचार रहता है और इसी विचार के कारण मनुष्य के अंदर अशान्ति रहती है। हम जब कर्मो के आरम्भ के अधीन रहते हैं तो नाना प्रकार की सांसारिकता और नवीन कर्मो के प्रारम्भ करने के विषय में सोंचते हैं तथा उनका आरम्भ भी कर देते हैं। यही हमारी अशान्ति का कारण होता है। सांसारिक भोगों में बाधा पड़ने पर दुःख का अनुभव हो जाना और अशान्त रहना मन में उद्विग्नता बनी रहना। सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीती रहना यह सब रजोगुण के कारण होते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करके उन्हीं में तन्मय हो जाता है। वह देवी देवताओं की उपासना,

सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए कर्म करता है। अप्रवृत्ति के रहने पर पुनः पुनः सांसारिक भोगों अर्थात् इन्द्रियों अर्थो में कामांध होकर व्यवहार करता है। प्रमाद के अधीन रहने पर अधिक समय सोने में बिताता है और वह मोह के अधीन रहता है। अपने परिवार और सुहृद तथा सांसारिक प्राप्त वस्तुओं में स्नेह करता है। अब इस तथ्य पर विचार करें कि इस पूर्वोक्त प्रकार जो कुछ भी वर्णित किया गया हम उनमें किस स्थिति के अधीन है? बहुत विचार करने पर हम यह पायेंगे कि हम सब इन्हीं तथ्यों के अधीन हैं। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह सब प्रकृतिजन्य गुणों के कारण होता है। यह तथ्य उपर्युक्त श्लोकों के अभिप्राय को समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है।

जब हम सभी कर्म करते हैं तो हम यह विचार करते हैं कि यह समस्त कर्म हमारे द्वारा किए गए हैं। पर यह हमारी अज्ञानता है। मनुष्य वास्तविक रूप से कोई कर्म नहीं करता। यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता परन्तु वास्तविकता यही है। मनुष्य जो भी कर्म करता है वह प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन करता है अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न गुण ही मनुष्य को कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार कहें कि प्रकृति जन गुण ही मनुष्य को कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन मनुष्य कार्य करने को बाध्य है। क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अधीन है उसके बंधन में है यह ऐसा बंधन है जैसे हमें कोई रस्सी से बांध दे जहां चाहे वहां ले जाए और हमसे जो कार्य करवाना चाहे वह करवाये। प्रकृति भी एक रस्सी की तरह से है जो हमें अपने गुणों से बांधे हुए है। हम न चाहकर भी कार्य करने को बाध्य हैं। प्रकृति हमें नचाती है और हम प्रकृतिजन्य गुणों के आधार पर समस्त प्रकार के कर्मो का सम्पादन करते हैं अर्थात् उसके संकेतों पर नाचते हैं। प्रकृति हमें अपने द्वारा उत्पन्न गुणों के बंधन में रखकर नाना प्रकार के कर्म करवाती है और इस बंधन से कोई भी मनुष्य शीघ्रता से छूट नहीं पाता अर्थात् उसी के अधीन कार्य करता है।

यह सब बाह्य कर्मो की बात हुई। अब हम अंतःकरण के विषय में भी कुछ विचार करें। हम साधारण रूप से जो कुछ विचार करते हैं वह मन से करते हैं और मन में जो विचार आता है। वह वाणी से अथवा शरीर के अन्य अंगों से प्रकट होता है। इस प्रकरण में यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि हम जो भी कार्य करते हैं इस कार्य से पूर्व मन उस विषय पर विचार करता है कि हमें अमुक कार्य करना है। बुद्धि से यह निश्चय होता है कि हमें अमुक कार्य करना है उसके पश्चात् ही हमारी कर्मेन्द्रियां उस कार्य को क्रियान्वित

करती हैं। इस कारण वास्तविक कार्य, आधारभूत कार्य मन के द्वारा होता है और उस कार्य का जो विनिश्चय है वह बुद्धि के द्वारा होता है। इसलिए मन तथा बुद्धि दोनों ही कार्य के प्राथमिक आधार हैं। परन्तु मन और बुद्धि पर भी प्रकृतिजन्य गुणों का प्रभाव होता है। प्रकृतिजन्य गुणों के प्रभाव के कारण ही मन और बुद्धि सामान्य रूप से तीन प्रकार की हो जाती है। तीन प्रकार का मन जिसे सात्त्विक मन, राजसी मन और तामसी मन कहा जाता है। तीन प्रकार की बुद्धि जिसे सात्त्विक बुद्धि, राजसी बुद्धि और तामसी बुद्धि कहा जाता है। ये तीन प्रकार के मन और बुद्धि हमसे पृथक्–पृथक् प्रकार के कार्य करवाते हैं जब मनुष्य सात्त्विक गुण से आवृत होता है अर्थात् सात्त्विक गुण की प्रबलता अधिक होती है तो उसका मन भी सात्त्विक होता है और बुद्धि होती है। जब मनुष्य में रजोगुण की प्रवृत्ति होती है तो उसका मन और बुद्धि दोनों राजसी होते हैं। जब मनुष्य तमोगुण से प्रभावित होता है तो उसका मन और बुद्धि तामसी होते हैं। सात्त्विक मन से शुभ विचार होता है। शुभ कर्मो का विनिश्चय सात्त्विक बुद्धि से हो जाता है। राजसी मन से संसार में प्रवृत्ति का विचार होता है तथा सांसारिक कर्मो को करने का विनिश्चय राजसी बुद्धि करती है। इसी प्रकार तामसी मन से संसार और व्यक्तियों के अहित का विचार होता है तथा ऐसे कर्मो का विनिश्चय तामसी बुद्धि करती है। इसलिए मनसा वाचा कर्मणा जो भी कार्य होते हैं वे इन त्रिगुणों के अधीन होते हैं। हम सभी त्रिगुणों के अधीन कार्य करके ही उसमें बंधे रहते हैं तथा आवृत रहकर कार्य करते हैं।

श्री भगवान ने यह कहा **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत** अर्थात् किसी भी काल में मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। काल को हम वर्तमान में सेकेण्ड, मिनट, घंटे, दिन, मास, वर्ष में नापते हैं। यह सब काल को मापने की इकाईयां है। क्षण भी काल अर्थात् समय को नापने की एक इकाई है। भारतीय वाङ्मय में काल को नापने की इकाईयों का वर्णन हुआ है। इन काल को नापने की इकाईयों को **अजु, त्रसरेणु, त्रुटि, वेध, लव, निमेष, क्षण, कास्ठा, लघु, नाडिका, मुर्हुत, प्रहर, याम, पक्ष, मास तथा अयन** कहा जाता है। इन इकाईयों में क्षण का भी वर्णन हुआ है। श्री भगवान यह कहते हैं कि मनुष्य प्रत्येक क्षण कार्य करता है। यहां पर प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्य सोता है तो वह कैसे कर्म करता है ? जब मनुष्य सोता है तब वह सोने रूपी कर्म करता है। जब हम शान्तिपूर्वक बैठ जाते हैं तो भी कार्य होता है। उस समय हमारा मन निरन्तर विचार करता है और बुद्धि निरन्तर उस विचार का विनिश्चय करती है। इस प्रकार अंतःकरण के दो

प्रमुख भाग मन और बुद्धि से कार्य होता रहता है। हम जब शान्तिपूर्वक बैठते हैं तो कोई अन्य व्यक्ति जब यह पूछता है कि क्या कर रहे हो तब हमारा यह उत्तर होता है कि हम कुछ नहीं कर रहे हैं परन्तु आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि हम मन और बुद्धि से निरन्तर कार्य कर रहे होते हैं। यह भी प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन रहकर अर्थात् परवश होकर हम कार्य करने को बाध्य हैं। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत** अर्थात् कोई भी किसी भी क्षण कार्य किए बिना नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में हम परवश हैं। क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण हमें कार्य करने को बाध्य करते हैं।

अंतःकरण का एक प्रमुख तत्त्व अहंकार है। जिससे हमें अपने अस्**तित्त्व** का बोध होता है और यह बोध निरन्तर चला करता है। जागृत अवस्था में विशेष रूप से हमें यह आभास रहता है कि हम हैं और स्वप्नावस्था में भी यह आभास रहता है कि हम है। सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्राकाल में यह आभास विलुप्त हो जाता है। उस समय सोने का कार्य होता है। सिर्फ जागृत और सुषुप्ति में अहंकार नामक **तत्त्व** के कारण हमें जो अपने अस्**तित्त्व** का आभास रहता है। यह आभास भी एक प्रकार की क्रिया है जिसे हम बिना कुछ किए हुए करते रहते हैं अर्थात् अहंकार की वृत्ति मैंपन निरन्तर कार्य करती है। जिसके कारण ही हमें यह आभास रहता है कि हम हैं। अहंकार की वृत्ति मैंपन मात्र सुषुप्ति अवस्था में शान्त होती है परन्तु वह जागृत और स्वप्नावस्था में अपना कार्य करती रहती है जिससे ही हमें अपने अस्**तित्त्व** का ज्ञान होता हैं। हम हैं किन स्थितियों में है ? कहां पर है? किसके सम्पर्क में हैं ? यह सब ज्ञान अहंकार नामक **तत्त्व** के कारण होता है। इसलिए अहंकार अपनी वृत्ति के कारण हमें क्रियाशील रखता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने यह कहा कि **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।**

भगवान के कथन के स्पष्टीकरण के लिए हमें यह विचार करना पड़ेगा कि हम चौबीस घंटे में क्या करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हम सहजतापूर्वक यह कह सकते हैं कि या तो हम जागते या स्वप्न देखते हैं या फिर सोते हैं। हम जब जागते हैं तो वह जागृत अवस्था है हम जब स्वप्न देखते हैं तो वह स्वप्नावस्था है और जब सोते हैं तो वह सुषुप्ति अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में हम सभी कर्म करते हैं। जब हम जागृत अवस्था में होते हैं तो हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां कान, चक्षु, रसना, घ्राण, त्वचा सभी कार्य करते रहते हैं। श्रोत्र अर्थात् हमारे कान निरन्तर आस पास के वातावरण की ध्वनि को स्वतः ही ग्रहण

किया करते हैं। हमारे चक्षु अर्थात् नेत्र अपनी सीमा भर देखने का कार्य करते हैं। रसना अर्थात् जिह्वा हमें स्वाद का ज्ञान करा देती है। घ्राण अर्थात् नासिका से हम गंध लेने का कार्य करते हैं और त्वचा के सम्पर्क में जो कुछ भी आता है वह स्पर्श से हमें तत्काल ज्ञात हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी मन भी क्रियाशील अवस्था में रहकर ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय से कार्य करता है और वह ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय को छोड़कर स्वतंत्र रूप से कार्य करता है। बुद्धि मन के द्वारा विचार किए गए विषयों का निश्चय करती रहती है तभी हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियां क्रियाशील होती हैं। मन का विचार और उस विचार का विनिश्चय हमारी वाणी के रूप में प्रकट होता है। यह उपरोक्त प्रकार से समस्त कार्य स्वतः होते रहते हैं। इसमें हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।

जागृत अवस्था के अतिरिक्त स्वप्नावस्था में हमारा सूक्ष्म शरीर कार्य करता हैं। सूक्ष्म शरीर में जो **तत्त्व** होते हैं। वे क्रियाशील रहते हैं। जब हम स्वप्न देखते हैं तो वैसा ही आभास करते हैं जैसा हम जागृत अवस्था में करते हैं। जब हमारा सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है तो हमें सुख दुःख, भय अभय, प्रसन्नता, शोक आदि सभी भावों का आभास होता है और सभी प्रकार के भाव प्रसंगानुकूल सत्य प्रतीत होते हैं। स्वप्नावस्था के जो भाव हैं वे स्वप्नावस्था में तो यथार्थ प्रतीत होते हैं परन्तु जागृत अवस्था आने पर हमें यह आभास होता है कि हम स्वप्न देख रहे हैं। स्वप्न की अवस्था में जो कार्य होता है वह भी किसी न किसी प्रकार प्रकृति से उत्पन्न गुणों के आश्रय से ही होता है और उस सबको हम सही मान लेते हैं। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। स्वप्नावस्था की जो काल्पनिक क्रियाऐं हैं वह यथार्थ नहीं होती हैं। इसलिए उसमें जो कर्म होता है वह स्वप्न की अवस्था तक ही यथार्थ प्रतीत होता है। परन्तु कर्म होता है। जिसका हमें आभास भी होता है।

स्वप्नावस्था के अतिरिक्त जब मनुष्य सो जाता है तो यह जागृत और स्वप्न के अतिरिक्त अवस्था होती है। इस अवस्था में कारण शरीर अस्**तत्त्व** में रहता है। निद्राकाल में बुद्धि की समस्त वृत्तियां अर्थात् कार्य समाप्त हो जाते हैं मन का संकल्प और बुद्धि का विकल्प अर्थात् निश्चिय करने वाली वृत्ति समाप्त होती है और इसी कारण यह स्थूल शरीर भी शान्त हो जाता है तभी कहा जाता है कि सोता हुआ व्यक्ति मृतक के समान होता है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में भी कार्य होता है यह भगवान के मतानुसार किस प्रकार होता है? इसे भी हमें समझना पड़ेगा। क्योंकि निद्राकाल के जो क्षण हैं वह भी काल का ही रूप है।

जब हम सोते हैं तब कारण शरीर क्रियाशील रहता है। कारण शरीर की क्रियाशीलता के कारण यह कहा जाता है कि कर्म हो रहा है और शरीर में उपस्थित कोई ऐसी सत्ता शरीर के सोने पर जागती है जो हमें जागने पर यह आभास कराती है कि हम सोए हुए थे। यदि कोई सत्ता सोने के समय नहीं जागती तो हमें यह आभास नहीं होता कि हम सोए हुए थे। इसलिए यह आभासरूपी कर्म भी होता है और यदि न हुआ होता तो हमें यह ज्ञात नहीं हो पाता कि हम सोए हुए थे। निद्राकाल से जागृत अवस्था में आने पर जो यह आभास है कि हम सोए हुए थे यही आभास कर्म का प्रतीक है। अर्थात् निद्राकाल में भी कर्म हो रहा है तभी श्री भगवान कहते हैं कि **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।**

हमें इस प्रकरण में इस तथ्य पर भी विचार करना चाहिए कि सुषुप्ति अवस्था का निर्माण क्यों हुआ है ? इस विषय पर विचार करने से और इस प्रश्न का उत्तर खोजने से यह ज्ञात होता हे कि हम जब जागते हैं तो हमारी प्रवृत्ति संसार में रहती है अर्थात् हम सांसारिक कार्य करते हैं। अनेक प्रकार के सांसारिक कार्य करके हम थक जाते हैं। इस कारण उस थकान को समाप्त करने के लिए और पुनः कार्य करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें सोना पड़ता है। सोने से हमारे शरीर में शक्ति का संचय होता है और उर्जा प्राप्त होती है। यदि हम कुछ दिनों तक निरन्तर जागते रहें तो हमारी कार्य करने की जो उर्जा शक्ति है वह स्वतः समाप्त हो जाएगी। शरीर में उर्जा प्राप्ति का जो कार्य है वह भी एक प्रकार का कार्य ही है। यदि हम निद्राकाल में न जाए तो हमारी बुद्धि मन और इन्द्रियां कुछ समय के उपरान्त कार्य करना छोड़ देंगी अर्थात् हम इस स्थिति में न रह पायेंगे कि हम कोई कार्य कर सकें। दो तीन दिन जागृत अवस्था से मनुष्य व्यथित हो जाता है और वह इस योग्य नहीं बचता कि अपने नित्य के कार्य कर सके। तब यह इच्छा होती है कि हम सोकर ऐसी ऊर्जा प्राप्त करें जिससे हम पुनः कार्य करने की स्थिति में आ सकें। अत्यधिक जागरण के कारण हमारी मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां इस योग्य नहीं रहते हैं कि वे कोई कार्य करने में सक्षम रह सकें। हमारा मन पुनः पुनः विश्राम चाहता है इसका एक ही अर्थ है कि सुषुप्ति अवस्था में कोई कार्य होता है जो हमें अगले दिन अनेक प्रकार की क्रियाएं करने के योग्य बनाता है। सक्षम करता है। इसी कारण श्री भगवान कह रहे है कि प्रत्येक क्षण कर्म होता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है जिसमें कोई क्रिया न होती हो। सोने के पश्चात् ही निद्राकाल को समाप्त करने के लिए जागरणरूपी क्रिया होगी। निद्राकाल में जो स्वप्न देखने की क्रिया है वह भी प्रकार का कर्म ही है। यह

सब स्वतः होता है। क्षण प्रतिक्षण होता है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।**

इस प्रकरण में हम एक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं जो विशिष्ट है उसे स्वप्नावस्था के संदर्भ में प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्वप्न प्रत्येक व्यक्ति को आते हैं। स्वप्न हमारे अनुकूल भी आते हैं और प्रतिकूल भी आते हैं। हमें आनन्द देने वाले, हमें भय प्रदान करने वाले, हमको डराने वाले और प्रशंसा का भाव प्रकट करने वाले, चिंता देने वाले यह सभी प्रकार के स्वप्न निद्राकाल में मनुष्य में आते हैं। हम यदि चाहें कि हम अमुक स्वप्न देखेंगे तो ऐसा संभव नही है। हम जो स्वप्नावस्था में देखना चाहते हैं वह नहीं देख सकते। जागृत अवस्था के अनेक विचार स्वप्नावस्था में प्रकट हो सकते हैं। परन्तु कभी–कभी हम ऐसे स्वप्न भी देखते हैं जिसका हमारे विचार से कोई सम्बंध नहीं होता है। इसी कारण स्वप्न की अवस्था और स्वप्न की क्रियाशीलता अत्यंत रहस्यप्रद है। इसके सम्बंध में पूरी तरह से जाना जा पाना संभव नहीं है कि कब कौन सा स्वप्न उपस्थित होगा ? जो हमारे मन में अनुकूलता और प्रतिकूलता उपस्थित कर देगा।

श्री भगवान ने पांचवें श्लोक में यह कहा कि कोई भी व्यक्ति किसी समय क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। समस्त मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा अवश हुए कर्मो का सम्पादन करने को बाध्य हैं। इस पांचवें श्लोक के पूर्व श्री भगवान ने चौथे श्लोक में यह कहा था कि कोई भी पुरुष कर्मो का आरम्भ न करे तो उसे निष्कर्मता नहीं मिलती और कर्मो का अगर त्याग कर दे तो उसे सिद्धि नहीं मिलती। पांचवें श्लोक की व्याख्या पूर्व में हो चुकी है। इस कारण चौथे श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। कोई व्यक्ति क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता वह प्रकृति के गुणों के अधीन कर्म करने को बाध्य है। यह तथ्य बहुत रहस्यप्रद है जो चौथे श्लोक के पश्चात् कहा गया है। इस श्लोक में निष्कर्मता शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। निष्कर्मता वह स्थिति है जहां मनुष्य के कर्म परिणाम नहीं देते हैं। मनुष्य जो भी कर्म करता है उस प्रत्येक कर्म का अंकन अर्थात् लेखा जोखा रहता है और उसी अंकन के आधार पर मनुष्य को उसके कर्म का परिणाम प्राप्त होता है। मनुष्य या तो शास्त्रसम्मत कर्म करता है या शास्त्र के प्रतिकूल कर्म करता है अथवा मिश्रित कर्म करता है। शास्त्र के अनुकूल कर्म करने को कर्म कहा जाता है। शास्त्र के प्रतिकूल कर्म करने को विकृत कर्म अर्थात् विकर्म कहा जाता है। इसे क्रमशः शुभ कर्म और अशुभ कर्म भी कह सकते हैं परन्तु कुछ ऐसे कर्म होते हैं जो शुभ भी होते हैं

और अशुभ भी होते हैं इन्हें शास्त्र की भाषा में शुभाशुभ कर्म कहा जाता है। शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता है। अशुभ कर्मो का परिणाम अशुभ होता है और शुभाशुभ कर्मो का परिणाम मिश्रित अर्थात् शुभ और अशुभ होता है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति जो कर्म करते हैं उसका परिणाम अवश्य होता है। एक चौथे प्रकार का कर्म है जिसे शास्त्र की भाषा में अकर्म कहा जाता है। अकर्म वह कर्म है जो परिणाम नहीं देता है। हम सभी शुभ अशुभ और शुभाशुभ कर्म परिणाम को दृष्टि में रखकर करते हैं। जब तक हमारी दृष्टि परिणाम में होती है अर्थात् फल में होती है तब तक मनुष्य के द्वारा किए गए तीनों प्रकार के कर्म परिणाम देते रहते हैं और जब उसकी दृष्टि परिणाम से हट जाती है अर्थात् फल की इच्छा का परित्याग हो जाता है तो उसके कर्म परिणाम नहीं देते। इन्हीं फल न देने वाले कर्मो को अकर्म कहा जाता है और अकर्म की स्थिति को निष्कर्मता कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक क्षण कार्य करता है। इसलिए कर्म से छुटकारा मिलना मनुष्य जीवन में असंभव है। कर्म का सम्पादन होगा तो उसका परिणाम भी अवश्य होगा। इसी कारण अकर्म की स्थिति सहजता से प्राप्त नहीं होती। हम जब परिणाम की दृष्टि को रखकर कर्म करते हैं तो हम अपने लिए अपने सगे सम्बंधियों के लिए पसरिवारिक जनों के लिए उनके हित के लिए कार्य करते हैं और जब परिणाम की दृष्टि समाप्त हो जाती है तो हम दूसरों के हित के लिए कार्य करते हैं। यदि दूसरों के हित के लिए जो कार्य होता है उसमें मनुष्य यदि कर्तापन के भाव से अपने को पृथक् कर ले तो अकर्म का सम्पादन होता है। इसी को **निष्कर्मता** कहा जाता है। परन्तु इसमें भी कर्म का आरम्भ करना पड़ता है। मनुष्य चाहें स्वयं के लिए कार्य करे अर्थात् स्वार्थ सिद्धि के लिए कार्य करे या दूसरों के हित के लिए कार्य करे उसे कर्मो का आरम्भ तो करना ही पड़ेगा। कर्मो का यदि आरम्भ नहीं होगा तो न तो स्वार्थ की सिद्धि होगी और न परमार्थ की सिद्धि होगी। परमार्थ के लिए किए गए कार्यो में जब कर्तापन का भाव और उसके फल का भाव समाप्त हो जाता है तो यह **निष्कर्मता** की स्थिति होती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य को कर्मो का आरम्भ करना पड़ता है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।** अर्थात् कर्मो का आरम्भ किये बिना साधक को **निष्कर्मता** नहीं मिलती।

अनेक व्यक्तियों को विशेष कर साधुजनों को आपने देखा होगा कि वे मौन रहते हैं। अनेक साधक और साधुजन मौन क्यों रहते हैं ? इस विषय पर हमने कभी विचार नहीं किया है। मौन रहना एक विशिष्ट प्रयोग है। क्योंकि मौनी व्यक्ति सबकी सुनता है और वह

उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं देता। अर्थात् संसार में क्या हो रहा है ? और क्या नहीं हो रहा है ? इस बारे में भी वह विचार नहीं करता। यदि मौनी व्यक्ति मन और बुद्धि को भी मौन कर दें तो यह एक विशिष्ट प्रकार की मौनसाधना कही जाती है। जब तक मन और बुद्धि क्रियाशील रहते हैं तब तक विशिष्ट प्रकार की मौन साधना नहीं होती है। क्योंकि वाणी का प्रयोग न करना ही साधना की पराकाष्ठा नहीं है। वाणी मन और बुद्धि तीनों प्रकार से सांसारिक कर्म न हो केवल परमात्मा के संदर्भ का चिंतन हो तो यह विशेष प्रकार की मौन साधना है और ऐसे ही साधक निष्कर्मता को प्राप्त करते हैं। इसलिए श्री भगवान ने कर्मो के आरम्भ करने को कहा और यह भी कहा कि कोई भी मनुष्य बिना कर्म किए क्षण मात्र भी नहीं रह सकता है। इसलिए हमें कर्मो का आरम्भ करना ही पड़ेगा हम न भी करना चाहें तो भी कर्म होते रहते हैं उनमें किसी प्रकार रुकावट नहीं आती। इसलिए निष्कर्मतारूपी स्थिति को प्राप्त करने के लिए हम कर्मो का आरम्भ तो करें परन्तु उनमें कर्तापन के भाव को और फल की इच्छा का परित्याग कर दें।

श्री भगवान ने आगे यह कहा **न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति** अर्थात् कर्मो को यदि कोई व्यक्ति छोड़ दे तो उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। सिद्धि दो प्रकार की होती है एक लौकिक सिद्धि और एक आध्यात्मिक सिद्धि, लौकिक सिद्धि का यह अभिप्राय होता है कि हम जो कुछ कार्य करते हैं वह संसार की वस्तुऐं स्थिति और भोग प्राप्त करने के लिए करते हैं। यदि हम किसी भी प्रकार का लौकिक कार्य करें तो हम अपने मन में यह विचार कर लेते हैं कि हमें अमुक व्यक्ति स्थिति और भोग प्राप्त करना है। जिन वस्तुओं, भोगों और स्थितियों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के मन में विचार आता है, वह उसकी प्राप्ति का यत्न करता है। जिस भोग वस्तु और स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है। यदि वह भोग वस्तु और स्थिति प्राप्त हो जाती है तो इसे लौकिक सिद्धि कहा जाता है। जैसे भवन के निर्माण में आवश्यक सामग्री ईट, सीमेंट, लोहा आदि जुटाते हैं और साथ ही जो व्यक्ति भवन का निर्माण करते हैं उनका हम आश्रय लेते हैं। यदि हमने सामग्री एकत्र कर ली और भवन निर्माण करने वाले व्यक्तियों को नहीं बुलाया तो हमें भवन रूपी अभीष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकेगी और समय के साथ एकत्रित की गयी वस्तुऐं भी खराब हो जायेंगी इसलिए यह तो स्पष्ट है कि हम लौकिक भोगों वस्तु और स्थिति को प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार कहा जाए कि प्रत्येक मनुष्य सांसारिक वस्तु भोग और स्थिति को प्राप्त करने के लिए जीवनपर्यन्त अपनी शक्ति भर

प्रयत्नशील होता है परन्तु जो उसके मन में आकांक्षा है वह प्राप्त होगी अर्थात् सिद्धि होगी अथवा नहीं यह निश्चित नहीं है। इसलिए लौकिक सिद्धि की प्राप्ति भी हमारे वश में नहीं है। हमारी सामर्थ्य से बाहर है।

यह सांसारिक सिद्धि की बात हुई परन्तु आध्यात्मिक सिद्धि का एक ही अभिप्राय है जो **तत्त्व** प्राप्ति से सम्बंध रखता है इसके लिए परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती है। मात्र विचारों के परिवर्तन की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक सिद्धि वैसा कार्य नहीं है जैसा कि हमें लौकिक रूप से करना पड़ता है। विचार परिवर्तन का कार्य बहुत सहज है और आसान है। इसके लिए पहले हमें यह जानना पड़ता है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए ? अर्थात् शास्त्रसंगत कर्म क्या है ? मनुष्य के कर्तव्य कर्म क्या है?इसकी जानकारी होना अनिवार्य है। सद्ग्रंथों के अध्ययन से हम यह तथ्य सहजतापूर्वक जान सकते हैं कि हमें क्या करना अभीष्ट है ? और क्या नहीं करना अभीष्ट है ? अर्थात् किसका ग्रहण करना है और किसका परित्याग करना है, जो करना अभीष्ट है उसका अनुपालन करना चाहिए और जिसे छोड़ना अभीष्ट है उसको तत्काल छोड़ना चाहिए। यह न करने वालों को कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। करने योग्य कर्मो के सम्पादन से सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है। यहां पर एक तथ्य स्पष्ट है कि कर्मो के सम्पादन से ही सिद्धि प्राप्त होगी। कर्मो के परित्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। अर्थात् हम उन विचारों का परित्याग करें जो हमें चिंतन में नहीं लाना चाहिए। चिंतन किये जाने योग्य विचार क्रियान्वित हो जाए तो हमें सिद्धि प्राप्त होगी। यही **न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति** सिद्धि का अभिप्राय है। अर्थात् हमें कर्मो का परित्याग नहीं करना है। क्योंकि यदि हम किसी मार्ग पर चलना चाहते हैं तो उस मार्ग पर क्यों चलना चाहते हैं ? यह हम जानते हैं। उस मार्ग पर चलकर हमारा अंतिम लक्ष्य क्या होगा? यह भी हम जानते हैं और तभी हम उस मार्ग पर चलते हैं। यदि हम चलना ही आरम्भ न करें तो हमें हमारा लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है। चलना ही कर्म है और न चलना ही कर्मो का परित्याग है। चलने रूपी कर्म से सिद्धि मिलेगी अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति होगी और न चलने से सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। हमें सफलता नही मिलेगी। यही श्री भगवान के कथन अभिप्राय है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते इस तथ्य का अभिप्राय यह है कि कर्मो के आरम्भ न करने से निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती। श्री भगवान का यह कथन बहुत ही

रहस्यप्रद है। श्री भगवान के इस कथन को हमें समझना है तो सहजतापूर्वक समझना चाहिए। निष्कर्मता का सांसारिक अर्थ होता है कर्म का न करना जैसे कोई व्यक्ति बेकार रहता है अनावश्यक रूप से बैठा रहता है तो हम सभी लोग यह कहते हैं कि तुम बड़े निष्कर्मी हो और काम नहीं करते हैं। भगवान का यह कथन सांसारिक नहीं है। जैसा कि निष्कर्मता के सम्बंध में हम संसार में विचार करते हैं व्यक्ति यह विचार करे कि हम काम नहीं करेंगे तो हमें निष्कर्मता प्राप्त होगी। परन्तु यह विचार सही नहीं है। हम जब कार्य करेंगे तो भी कार्य होता रहेगा और नहीं भी करेंगे तो भी होता रहेगा। क्योंकि कोई भी मनुष्य बिना कर्म के क्षण मात्र भी रह नहीं सकता। भगवान उसे निष्कर्मी मानते हैं। जिसके कर्मो का शुभ अशुभ परिणाम नहीं होता है। जिसके कर्म न तो शुभ परिणाम देते हैं और न अशुभ देते हैं। फल न देने वाले कर्म निष्कर्मता की स्थिति को उत्पन्न कर देते हैं जब न शुभ होता है न अशुभ होता है। वह कर्म **निष्कर्मता** की श्रेणी में आता है।

श्री भगवान के द्वारा उपरोक्त प्रकार से जिन दो श्लोकों को कहा गया वे बहुत विशिष्ट हैं। श्री भगवान के कथन का बहुत विशिष्ट भाव है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक समय प्रकृति द्वारा उत्पन्न त्रिगुणों के अधीन हुआ कार्य करता रहता है और जब तक मनुष्य कर्मो का आरम्भ नहीं करता तब तक उसे निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती और यदि कर्मो का परित्याग कर दे तो उसे कदापि सिद्धि नहीं मिलती।

इन दो श्लोकों के उपरान्त अग्रिम श्लोक में श्री भगवान ने मिथ्याचारिता के सम्बंध में एक विशिष्ट भाव दिया है और वास्तविक संयमी व्यक्ति को परिभाषित किया है।

मूल श्लोक संख्या–छः

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

पदच्छेद :–

कर्मेद्रियाणि संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन,
इन्द्रियार्थान्, विमूढात्मा, मिथ्याचारः, सः, उच्यते।।

भावार्थ :– इन्द्रियों के कार्य को नियंत्रित करके मन के द्वारा इन्द्रियों के अर्थो अर्थात् विषयों का जो स्मरण करता रहता है वह मूर्ख बुद्धि पुरुष मिथ्याचारी कहलाता है।

व्याख्या :– इस प्रकरण के पूर्व भी इन्द्रियों का वर्णन हो चुका है। प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक्–पृथक् विषय है। हम कानों से सुनने का कार्य करते हैं अर्थात् कान शब्द का ग्रहण करते हैं। इसका विषय शब्द है। हमारे नेत्र देखने का कार्य करते हैं। इसलिए नेत्रों का विषय रूप है। हमारी जीभ से स्वाद ग्रहण किया जाता है। उसका विषय रस है। नाक से हम सूंघने का कार्य करते हैं। इसका विषय गंध है और त्वचा का विषय स्पर्श है जिससे स्पर्श का ज्ञान होता है। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय का विषय पृथक् है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जानती है अर्थात् कान से देखने का कार्य नहीं हो सकता है। नेत्र से शब्द नहीं ग्रहण होते। एक इन्द्रिय अपने विषय को ही ग्रहण करती है।

हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां मन के आश्रय से कार्य करती हैं। हमने भूतकाल में जिन विषयों का ग्रहण किया है उन विषयों का स्वाद हमारे स्मृति में रहता है। स्मृति बुद्धि में रहती है जैसे हमने किसी मिष्ठान को ग्रहण किया तो उसकी सुन्दर मिठास हमारी मन बुद्धि में बैठ जाती है और जब भी उस सुस्वाद मीठी वस्तु का स्मरण हमें होता है तो उसके सुन्दर स्वाद का भी हमें स्मरण हो जाता है। तभी हम उसे पुनः ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। मिष्ठान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि स्वाद हमारी स्मृति में न होता तो हम मिष्ठान ग्रहण करने का प्रयास नहीं करते। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को सहजतापूर्वक समझना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा भोगे गए विषय हमारी इन्द्रिय में सुरक्षित रहते हैं। मन जब भी चाहता है तो स्मृति में संचित भोगों को निकाल कर अपने स्मरण में ले आता है। भोग काल में तो हम प्रत्यक्ष रूप से भोगों का आनन्द लेते हैं परन्तु उसके पश्चात् मन स्मृति से उन भोगों को निकाल कर अकेले भी पूर्व में भोगे गए भोगों का चिंतन करके आनन्द ग्रहण कर सकता है। यह मन की विशेष शक्ति है और उसका विशेषाधिकार है। इन्द्रियां केवल भोग काल में ही इन्द्रियों के भोगों को ग्रहण करती हैं परन्तु मन भोग काल के उपरान्त भी पूर्व में भोगे गए भोगों और भविष्य में आने काल्पनिक भोगों के सम्बंध में विचार कर लेता है। यह मन की शक्ति की विशेषता है।

श्री भगवान ने **कर्मेन्द्रियाणि संयम्य** अर्थात् जो कर्मेन्द्रियों को संयमित करके, **यः आस्ते मनसा स्मरन्** अर्थात् जो मन से इन्द्रियों के भोगों का स्मरण करता है। कर्मेन्द्रियाणि पद से पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों के समूह का अर्थ स्पष्ट होता है अर्थात् मनुष्य में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां होती हैं जिनसे क्रियाओं का सम्पादन होता है। प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक्–पृथक् विषय है और प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को जानती है

और उसके अर्थ का ग्रहण करती है। जो मनुष्य स्वेच्छाचारी होता है वह इन्द्रियों को संयमित नहीं करता है। मनमाने ढंग से उसके अर्थ का उपयोग करता है जो मनुष्य संयमित होता है वह इन्द्रियों के विषयों को संयमित रूप से ग्रहण करता है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है। भोजन करने में जो व्यक्ति स्वेच्छाचारी होता है वह मनमाने ढंग से मनमाना भोजन ग्रहण करता है। जिसका परिणाम अनेक रोगों के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु जो भोजन के दुष्प्रभाव को जानता है वह संयमित भोजन करता है। आयुर्वेद के सिद्धान्त के आधार पर चलता है और वह अपने जीवन में निरोगी रहता है। इन्द्रियों को संयमित रखने से मनुष्य सुखी रहता है और इन्द्रियों के असंयमन से अनेक प्रकार के दुःख प्रकट हो जाते हैं परन्तु प्रत्येक इन्द्रिय के भोग का जो संचय है अर्थात् पूर्व में भोगे गए भोगों की जो स्मृति है वह मन में संकलित हो जाती है। हम यदि पूर्व में भोगों गए भोग के विषय में संकल्प के द्वारा भोगों का स्मरण करते हैं तो भी हम एक प्रकार से इन्द्रिय विषयों का ग्रहण कर रहे हैं। बहुत से साधक महानुभाव इन्द्रियों को भोगों से हटा लेते हैं। यह परिस्थिति और वातावरणवश मेंअपनी इन्द्रियों को भोगों से पृथक् रखते हैं परन्तु मन से भोगों का स्मरण करते रहते हैं। मन से भोगों का स्मरण दो प्रकार से होता है एक तो पूर्वकालिक जिन इन्द्रिय विषयों का हमने उपभोग किया है वे बार बार हमारे मन के संकल्प में स्वतः आ जाते हैं। दूसरा हम संसार और वातावरण को देखकर अनेक प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन करके या चित्र आदि देखकर भोगों के विषय में कल्पना करते हैं और काल्पनिक रूप से भी भोगों को भोगते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थ में तो इन्द्रियों विषयों का ग्रहण नहीं होता है परन्तु मन से इन्द्रिय विषय ग्रहण किये जाने के कारण वे इन्द्रिय विषय हमको भोगों की ओर उन्मुख करते हैं और हमें इन्द्रिय विषयों की उद्वेलित करते हैं। ढकेलते हैं। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयों का सम्पादन तो नहीं करता है अर्थात् उनमें लिप्त नहीं होता है परन्तु मन से उनका बार बार स्मरण करता है इसी के लिए श्री भगवान ने कहा कि वह **विमूढ़ात्मा** है और उसका आचरण मिथ्या है। इसी कारण उसे मिथ्याचारी कहा जाता है। वह आचरण मिथ्या होता है जो यथार्थ में न हो। कुछ लोग देखने में तो अच्छे प्रतीत होते हैं। परन्तु उनका व्यवहार असामाजिक होता है। वे आपके लिए कल्याणकारी बाते तो करते हैं परन्तु वास्तविक रूप से आपका कल्याण नहीं चाहते अर्थात् आपके हित का दिखावा तो करते हैं परन्तु उनके मन में आपके हित और भलाई की आकांक्षा नहीं रहती। ऐसे ही मनुष्यों को मूर्ख कहा जाता है। इसके लिए श्री भगवान ने **विमूढ़ात्मा** पद का प्रयोग किया है और उन्हें मिथ्याचारी कहा है। **इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा**

मिथ्याचारः स उच्यते का यही अर्थ है। अर्थात् इन्द्रियों को संयमित करने का दिखावा परिस्थितिवश होता है। यह बाध्यता के कारण होता है परन्तु वास्तविक रूप से मन से वे भोगों के आकांक्षी होते हैं। ऐसे मनुष्य श्री भगवान की दृष्टि में मूर्ख भी हैं और मिथ्याचारी भी हैं।

गीता जी का यह श्लोक वर्तमान समय में विशिष्ट है। क्योंकि अनेक उच्च पदों पर बैठे प्रतिष्ठित लोग चाहें वह सामाजिक, राजनैतिक, अध्यात्मिक या सामाजिक क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं वे वास्तविक रूप से देखने में तो अच्छे प्रतीत होते हैं। परन्तु उनका जो आतंरिक व्यवहार है उनकी जो वास्तविक क्रिया पद्धति है वह दूसरों के लिए अहितकारी और स्वयं के लिए स्वार्थपरक होती है। ऐसे मनुष्यों का वर्तमान समय में वर्चस्व है। हम समाज में चाहें कितने भी उच्च और प्रतिष्ठित पद पर विराजमान हों परन्तु यदि हम शास्त्रों का पालन नहीं करते, शास्त्रों के अनुसार मर्यादित जीवन नहीं जीते तो हमारा उच्च पद निरर्थक है। सदाचरण से ही मनुष्य उच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है और उच्च पद वाला व्यक्ति यदि सदाचार छोड़ दे तो वह निश्चित रूप से पतन की ओर उन्मुख होता है। हम जिस किसी पद पर विराजमान है उसकी प्रतिष्ठा के अनुसार हमें निश्चित रूप से कार्य करना चाहिए। इस तथ्य का वर्तमान समय में अभाव देखा जा रहा है। हम कहते तो कुछ और हैं और हमारी क्रियाशीलता और क्रियापद्धति कुछ और होती है। इसी को मिथ्याचार कहा जाता है। अर्थात् वह आचरण जो मिथ्या है अथवा झूठा है उसी को मिथ्याचरण कहते हैं। श्री भगवान के समय में भी ऐसे लोग उपस्थित थे इसलिए श्री भगवान को इस सम्बंध में अपने विचार प्रस्तुत करने पड़े कि मनुष्य को इन्द्रिय अर्थो का चिंतन मन से कभी नहीं करना चाहिए और जो लोग ऐसा करते हैं वह बुद्धिमान नहीं है। मूढ़ अर्थात् मूर्ख हैं। क्योंकि जिन विषयों का चिंतन हम मन से करते हैं तो निश्चित रूप से हम उनकी ओर आकर्षित होते हैं और उन विषयों का उपभोग भी करना चाहते हैं तथा हमारी क्रियाशीलता उन्हीं भोगों की ओर अनायास ही हो जाती है। इसे कोई रोक नहीं सकता। इसीलिए श्री भगवान ने यह कहा कि जो इन्द्रिय विषयों अर्थात् इन्द्रियों को संयमित करके मन से इन्द्रिय विषयों का चिंतन करते रहते हैं ऐसे मनुष्य मूर्ख है और मिथ्याचारी हैं।

इस तथ्य के प्रतिकूल श्री भगवान ने श्रेष्ठ पुरुषों के सम्बंध में भी अग्रिम श्लोक कहा है। श्री भगवान के द्वारा कहे गए अग्रिम श्लोक का अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक संख्या–सात।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

पदच्छेद :–

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन,

कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम्, असक्तः, स, विशिष्यते।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन ! मन के द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित करके आसक्त न हुआ समग्र इन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का जो व्यवहार करता है वह विशिष्ट है।

व्याख्या :– भोगों की तथा उसको भोगने अर्थात् ग्रहण करने की प्रक्रिया है। इन्द्रिय अपने विषय को मन के आश्रय से ग्रहण करती है। यदि मन इन्द्रियों के विषयों को भोगने में सहयोग न करे तो इन्द्रियों में इतनी शक्ति नहीं है कि वह अकेले विषय भोगों को ग्रहण कर सकें। इसलिए समस्त इन्द्रिय विषयों का ग्रहण मन के आश्रय से ही होता है। अधिकांशतः पहले इन्द्रियों से विषयों की प्रतीती होती है। अर्थात् उनका अनुभव और आभास किया जाता है। जिस प्रकार हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं तो इसमें हमारे नेत्र प्राथमिक रूप से कार्य करते हैं। सुन्दर वस्तुओं पर दृष्टि पड़ते ही हमारे नेत्र उस सुन्दर वस्तु को देखने लगते हैं और मन वहां तत्काल पहुंचता है। इसी प्रकार किसी मधुर गीत को जब हमारे कान ग्रहण करते हैं तो मन तत्काल ही उस गीत के भावों को ग्रहण करता है और उसी भावों के अनुसार हमारा मन चंचल हो जाता है। जिह्वा पहले सुस्वादु रस का आनन्द लेती है परन्तु इस आनन्द में मन वहां पर तत्काल पहुंचता है। नासिका सुन्दर पुष्प की सुगन्ध ग्रहण करती है परन्तु सुन्दर पुष्प की सुगन्ध ग्रहण करने में मन वहां तत्काल पहुंचता है। पुष्प सुन्दर है तो उसे आंखे भी देखती हैं नासिका भी उसकी गंध को ग्रहण करती है तो दो इन्द्रियों के विषय मन को बारी बारी से आकर्षित करते हैं। त्वचा जब कोमल स्पर्श का अनुभव करती है तो इस अनुभव में मन वहां पर तत्काल पहुंचता है। यह मन के सहयोग की प्रक्रिया बहुत तेजी से होती है और वह हमें सामान्य रूप से प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार पंखा जब बहुत तेजी से घूमता है तो उसके पंख हमें दिखाई नहीं

पड़ते। ऐसा लगता है कि उस पंखे में पंख नहीं हैं परन्तु वास्तविक रूप से तो पंखे में पंख होते हैं तेजी से चलने के कारण वे हमें प्रतीत नहीं होते हैं। वैसे ही मन का कार्य इतनी तेजी से होता है कि हम इन्द्रिय विषयों को मन के आश्रय से ही इन्द्रियों के द्वारा भोगते हैं। यह सब निरन्तर चला करता है और इसी में सभी मनुष्यों का जीवन बीत जाता है।

उपरोक्त विषय का अभिप्राय है कि मन का पूर्ण नियंत्रण इन्द्रियों पर होता है। मन के सहारे ही भोगों को ग्रहण किया जाता है। यदि अब मन चाहें तो स्वयं इन्द्रियों को नियंत्रित कर सकता है। किसी सुन्दर वस्तु पर दृष्टि पड़ते ही वहां से नेत्रों को हटने का आदेश दे। नेत्रों को इतना अवसर न दे कि वह अपने विषय रुप को ग्रहण कर सकें। वही प्रक्रिया प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में समझनी चाहिए। इन्द्रिय को मन ही नियंत्रित करता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। मन की कार्य प्रणाली पर उसकी क्रिया पद्धति पर हम जब ध्यान देंगे तो यह पायेंगे कि जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है। वह इन्द्रिय अपने विषय का उपभोग मन के आश्रय से करती है। जैसे हमारे नेत्र किसी सुन्दर वस्तु को जब देखते हैं तो पुनः पुनः उस सुन्दर वस्तु को देखने हेतु प्रयत्नशील होते हैं। लालायित होते हैं। यह उस सुन्दर वस्तु को पुनः पुनः दर्शन की जो चाहना है वह मन के सहयोग से ही सफल और संभव हो पाती है। यदि मन की आकांक्षा न हो तो वह इन्द्रिय के चाहने के अनुसार अपनी सहमति नहीं देता है। ऐसे में इन्द्रिय मन पर अपना दबाव डालती है कि सुन्दर वस्तु को देखे। मन के समक्ष दो विकल्प हैं, एक तो सहमति का और दूसरा असहमति का अर्थात् नकारने का। मन सहमति देता है तो इन्द्रिय पुनः उसे देखने हेतु उद्धत हो जाती है और यदि मन असहमति करता है तो नेत्र का साहस नहीं है कि वह पुनः उस सुन्दर वस्तु को देखने का साहस कर सके। इस प्रकार मन के सहयोग और असहयोग से ही इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त हो सकती है।

इस प्रकरण में एक भाव का और अवलोकन करें जब कभी किसी घृणित वस्तु का दर्शन नेत्र करता है तो मन उसे तत्काल पुनः न देखने का आदेश देता है पर साथ ही नेत्र भी उसे नहीं देखना चाहते। क्योंकि वह घृणित है उसे देखने पर मन पर उसका कुप्रभाव पड़ता है। वीभत्स और भयानक दृश्यों के लिए भी कुछ ऐसा ही होता है। वीभत्स और भयानक दृश्य नेत्र देखने की इच्छा नहीं करते। वे जब हमारे समक्ष आ जाते हैं तो हम उन्हें पुनः देखना नहीं चाहते हैं। क्योंकि इन्द्रिय भी भयभीत है। अर्थात् नेत्र भी भयभीत हैं और मन भी अत्यंत डरा हुआ है। उसका पुनः साहस नहीं होता है कि वह वीभत्स और

भयानक दृश्य को देखे। यहां पर विषय भोगों में मन की विशिष्टता स्पष्ट होती है और विषय भोगों के प्रतिकूल भी यह स्पष्ट होता है कि मन के आश्रय से ही प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त होती है और यदि मन का आश्रय न मिले तो वह अपने विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकती है।

भगवान का इस श्लोक में प्रारम्भिक कथन यही है। **यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन** कि मन से इन्द्रियों को संयमित करके जो किसी कार्य को आरम्भ करता है। इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम यदि किसी सांसारिक विषय के प्रति आसक्त हो जाए अर्थात् हमारी इन्द्रिय अपने विषय में हमको प्रवृत्त होना चाहें तो हमें मन के सहयोग से उस पर नियंत्रण करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाने का कार्य केवल मन ही कर सकता है। जैसे हम किसी सुन्दर दृश्य को देखते हैं तो नेत्र की यह आकांक्षा रहती है कि पुनः उस सुन्दर दृश्य को देखें परन्तु यदि मन नहीं चाहता है तो हम उस सुन्दर वस्तु दृश्य को कदापि नहीं देख सकते और इसी को इन्द्रिय विषयों का नियंत्रण कहा जाता है। इन्द्रिय जब अपने विषय में प्रवृत्त हो तो मन को चाहिए कि वह इन्द्रिय को उसके विषय से हटाये। ऐसा सभी इन्द्रियों और उनके विषयों के बारे में हमें अर्थ लेना चाहिए। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय विषय को समझना आवश्यक होता है।

इस क्रम में कान के विषय शब्द के सम्बंध में पहले विचार किया जाएगा। उसके पश्चात् रूप, रस, स्पर्श, गंध, के विषय में व्याख्या की जाएगी। संसार में जितने प्रकार के शब्द होते हैं उन शब्दों में जो ध्वनि हमारे कान के सम्पर्क में आती है उसे कान ग्रहण कर लेते हैं। चूंकि प्रत्येक इन्द्रिय जागृत अवस्था में क्रियाशील रहती है इसलिए जब कोई मधुर गीत संगीत हमारे कान के सम्पर्क में आता है तो हमारे कान उसे ग्रहण करते हैं। हम इस संगीत के भावों और उससे उत्पन्न होने वाले काल्पनिक जगत में स्वतः ही भ्रमण करने लगते हैं क्योंकि मन उस मधुर गीत संगीत के साथ अपना तारतम्य दिखा देता है। ऐसी स्थिति में हमें यदि मन पर नियंत्रण हो तो यह तारतम्य समाप्त होता है और हम सुन्दर और मधुर गीत संगीत के विषयों में नहीं रमते। यह शब्द के विषय का नियंत्रण कहा जाता है। नेत्रों का विषय रूप है। सुन्दर दृश्य की प्रतीती होती है तो मन उसमें स्वतः ही संलग्न हो जाता है। सुन्दर दृश्य की प्रतीती होने पर मन को सुन्दर वस्तु का आभास हो जाता है और पुनः पुनः नेत्र उसके देखने की इच्छा करते हैं। यह आवृत्ति न हो अर्थात् नेत्र पुनः

पुनः सुन्दर वस्तु न देखे इसके लिए मन का संयमन आवश्यक है। जब मन सुन्दर दृश्य में आसक्त हो जाता है तो यह संयमन समाप्त हो जाता है और हम सुन्दर दृश्य में आसक्त हो जाते हैं। इस प्रकरण में श्री भगवान का यह कथन है कि उसमें आसक्त न हों इसके लिए हमें मन के माध्यम से नेत्रों पर नियंत्रण रखना चाहिए।

रसना का विषय रस है। अर्थात् हमारी जिह्वा सुस्वाद भोजन को ग्रहण करना चाहती है। यह सुस्वाद भोजन सात्त्विक, राजसी और तामसी पुरुषों के पृथक्–पृथक् प्रकार के होते हैं, जो मनुष्य जिस गुण से प्रभावित होता है वह उसी प्रकार के भोगों को ग्रहण करना चाहता है। हमारी जिह्वा मन के आश्रय से ही सुस्वाद भोजन को ग्रहण करती है। मन जिस गुण से प्रभावित होता है अर्थात् सात्त्विक मन भोजन की इच्छा करता है राजसी मन राजसी भोजन की इच्छा करता है। तामसी मन तामसी भोजन की इच्छा करता है। इस प्रकार रसना नामक इन्द्रिय सुस्वाद भोजन में आसक्त होकर हमें पतन की ओर ले जाती है। रस नामक विषय मनुष्य के पतन का विशिष्ट कारण है। इसलिए मन को रस नामक विषय पर नियंत्रण करना चाहिए।

त्वचा का विषय स्पर्श है। त्वचा कोमल स्पर्श चाहती है और कोमल स्पर्श में ही वह आसक्त होती है। कठोर स्पर्श के प्रति अनिच्छा का भाव और कोमल स्पर्श के प्रति इच्छा का भाव ही त्वचा नामक इन्द्रिय का विशिष्ट गुण है। त्वचा भी मन के माध्यम से अपने विषय का ग्रहण करती है और उसमें आसक्त हो जाती है। मन यदि संयमित हो तो कोमल स्पर्श का निषेध करे तो इसे स्पर्श का संयमन कहा जाता है।

नासिका का विषय गंध है। नासिका का यह विषय मन के माध्यम से ही संचालित होता है। हमारी नासिका सुन्दर पुष्प और उसकी सुगन्ध का ग्रहण करना चाहती है। जहां पर दुर्गन्ध होती है उससे हम दूर जाना चाहते हैं। इसका क्या कारण है ? इसका यही कारण है कि नासिका अपने विषय सुगन्ध में आसक्त होती है और उसके प्रतिकूल दुर्गन्ध से घृणा करती है। हम गंध नामक विषय में भी पर्याप्त सीमा तक आसक्त होते हैं। **अनेक व्यक्ति गंध में आसक्त होकर अपना पतन कर लेते हैं।** इसलिए गंध का संयमन भी मन के माध्यम से करना चाहिए।

भगवान का यह कथन **यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन** अर्थात् जो पुरुष मन से इन्द्रियों के विषयों को वश में कर लेता है वह पुरुष कैसा हो जाता है ? इस तथ्य के

स्पष्टीकरण के लिए श्री भगवान ने इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग में यह कहा कि **कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते** अर्थात् वह अनासक्त होकर समस्त इन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का व्यवहार करता है। वह विशिष्ट है। वस्तुतः मनुष्य का जो पतन का मूल कारण है वह इन्द्रिय विषय ही है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी इन्द्रिय विषय में आसक्त होता है और उसी आसक्ति में उसका ध्यान परमात्मा से विमुख हो जाता है। मनुष्य अपनी रूचि, स्वभाव, गुण आदि के कारण इन्द्रियों के पृथक्–पृथक् विषयों में आसक्त होता है। इस आसक्ति के अनेक मूलभूत कारण हैं। जिनका उल्लेख यहां पर नहीं हो रहा है। मात्र यहां पर यह तथ्य समझना चाहिए कि जो मन से समस्त इन्द्रियों के पांच विषयों शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध को नियंत्रित कर लेता है, उसकी स्थिति अनासक्त हो जाती है। इस कारण अनासक्ति स्थिति वह स्थिति है जब साधक समस्त इन्द्रियों के विषयों को नियंत्रित कर लेता है और जब तक साधक इन्द्रियों के विषयों में रमण करता है किसी भी एक इन्द्रिय के विषय के वश में रहता है तब तक वह अनासक्त नहीं होता अथवा मन से भी इन्द्रिय विषयों शब्द, रूप, रस, स्पर्श गंध आदि का चिंतन करता रहता है तब तक भी वह अनासक्त नहीं रहता क्योंकि वह विषयों में आसक्त है। ऐसी स्थिति में उसका कर्म योग का आचरण आरम्भ नहीं होता। यही विशिष्ट कारण है।

संसार में अनेक महानुभाव विशिष्ट जन हुए हैं और वर्तमान में भी हैं। जिन्हें **कर्मयोगी** कहा जाता है। परन्तु जब तक इन्द्रियों के विषयों पर नियंत्रण नहीं होता तब तक मनुष्य कर्मयोगी नहीं होता। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने वाला मनुष्य स्वयं के लिए कार्य करता है और जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता। वह दूसरों के हित के लिए कार्य करता है। यह स्वार्थपरता और परमार्थकर्ता है। जब तक स्वार्थपरता रहती है तब तक कर्मयोग का आचरण आरम्भ नहीं होता है और जब स्वार्थपरता का समापन हो जाता है तब कर्मयोग का विषय आरम्भ होता है।

भगवान ने **यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन** कहकर इन्द्रियों पर नियंत्रण करने की बात कही है। मन से जब इन्द्रियों के विषयों का नियंत्रण हो जाता है तो मनुष्य अनासक्त हो जाता है और जब तक संसार में आसक्ति रहती है तब तक इन्द्रियों पर मन का नियंत्रण नहीं रहता है। विषय भोगों में लिप्तता ही मन को अनियंत्रित करती है और यह आसक्ति रूप दोष निरंतर साधक के साथ रहता है। संयमित जीवन के लिए समस्त

इन्द्रियों के विषय पर नियंत्रण होना अनिवार्य है। इस तथ्य को हमें गहराई से समझना चाहिए और उसका पालन करना चाहिए। जब तक इस तथ्य को हम गहराई से नहीं समझते तब तक हमारी साधना आरम्भ नहीं होती है और जब हम इस तथ्य को गहराई से समझ जाते हैं कि हमारी आसक्ति जिन विषयों में है उस आसक्ति को हम समाप्त कर लें तो हम वास्तविक साधना की ओर बढ़ जाते हैं और विशिष्ट हो जाते हैं। **स विशिष्यते** अर्थात् वह विशिष्ट है और वह कमयोगी है। विषयी व्यक्ति विशिष्ट नही है। क्योंकि वह विषयों के आश्रय से जीता है। वह विशिष्ट है जो विषयों के आश्रय का परित्याग कर देता है। हम संसार में विशिष्ट व्यक्ति की परिभाषा करते हैं तो यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत विद्वान है, या अमुक क्षेत्र में उसने बहुत कार्य किया है परन्तु मनुष्य तब तक विशिष्ट नहीं होता। जब तक वह समस्त इन्द्रिय विषयों का परित्याग नहीं कर देता अथवा समस्त इन्द्रिय विषयों को नियंत्रित नहीं कर लेता। जब तक इन्द्रिय विषय रहते हैं तब तक साधना की पराकाष्ठा भी नहीं आती। हम निम्न स्तर पर भी अपने को साधक समझते रहते हैं और अहंकाररत रहते हैं।

इन्द्रिय विषयों में हम क्यों उलझते हैं ? इसके कई कारण हैं। संसार में त्रिगुणीमयी माया के द्वारा ऐसी असंख्य वस्तुऐं उत्पन्न कर दी गई हैं। जिनमें मनुष्य आसक्त होता है। वह उसे पहले देखता है फिर उसे पाना चाहता है अर्थात् उसका उपभोग करना चाहता है। उपभोग करने के लिए उसे पाने की प्रयत्नशीलता रहती है। प्रयत्नशीलता क्यों होती है ? इसका एक ही कारण है कि हम उस भोग को प्राप्त करना चाहते हैं उस स्थिति को पाना चाहते हैं जिसको पहले हमने देखा है। यहां पर एक तथ्य और है कि हमारी स्मृति में पूर्वकालिक भोग भी संचित हो जाते हैं। वे भोग भी हमें इन्द्रिय विषयों से निवृत्त नहीं होने देते। अर्थात् इन्द्रिय विषयों में हमें निरन्तर लगाये रखते हैं। स्मृति नामक दोष अर्थात् विषय भोगों का बार बार स्मरण में आना साधना में बाधा का एक प्रमुख कारण है। महर्षि पतंजलि ने भी चित्त की एक वृत्ति को स्मृति कहा है। चित्त की एक वृत्ति स्मृति है जो साधना में बाधा उत्पन्न करती है। हमें इस वृत्ति से अपने को पृथक् करने का प्रयास करना चाहिए। अर्थात् हमारे चित्त में जो स्मृति नामक दोष है उसे बलपूर्वक बाहर नही आने देना चाहिए और जब स्मृति रूप दोष बाहर आ जाता है तो हम पूर्वकालिक विषयों के सम्बंध में चिंतन करने लगते हैं। यही हमारे इन्द्रिय विषयों के नियंत्रण में बाधक है और साधना भी प्रमुख बाधा है।

श्री भगवान ने विशिष्ट कर्मयोगी व्यक्ति की व्याख्या करने के पश्चात् उन कर्मो के सम्पादन के सम्बंध में एक आदेश दिया है जो शास्त्रसंगत हैं।

मूल श्लोक संख्या–आठ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।

पदच्छेद :–

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म,ज्यायः, हि, अकर्मणः,

शरीरयात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः।।

भावार्थ :– श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! तुम शास्त्र विधि से नियत कर्म करो। अकर्मण्य होने से कर्म करना उचित है। क्योंकि अकर्मण्यता से शरीर रूपी यात्रा अर्थात् जीवन निर्वाह भी संभव नहीं होगा।

व्याख्या :– हम सभी एक विषय पर विचार करें कि हम अपने जीवन में जीवनपर्यन्त क्या करते रहते हैं ? तो इसका यह उत्तर मिलेगा कि हम जीवन निर्वाह की वस्तुऐं एकत्र करते रहते हैं। पहले जो अनिवार्य आवश्यकताऐं हैं उनको पूरी करने के लिए हम कार्य करते हैं। और फिर अनिवार्य आवश्यकताओं को एकत्र करने के पश्चात् हम उन आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न हो जाते हैं जो हमारे लिए सुविधाजनक हैं। सुविधाजनक वस्तुओं के एकत्र करने के पश्चात् हम विलासितापूर्ण वस्तुओं को एकत्रित करना चाहते हैं और यह प्रयास करते हैं कि हमारा जीवन तो विलासितापूर्ण तरीके से निभ जाए और हम इतना एकत्र कर लें कि हमारी कई पीढ़ियों को कोई कार्य न करना पड़े। यह जो मानसिकता है और यह जो वर्तमान में क्रिया पद्धति है। यह अनियत कर्म है। अर्थात् शास्त्र कभी भी इस कर्म की आज्ञा नहीं देता। शास्त्र नियत कर्म की आज्ञा देता है। इसलिए श्री भगवान ने यह कहा कि **नियतं कुरु कर्म** अर्थात् शास्त्रसंगत नियत कर्मो का सम्पादन करें। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का निर्धारण स्वयं करता है और निर्धारण के उपरान्त उसका सम्पादन भी स्वयं करता है। परन्तु निर्धारण और सम्पादन करने के पश्चात् जो परिणाम आता है वह अधिकांशतः

प्रतिकूल हो जाता है। इसीलिए लगभग प्रत्येक मनुष्य अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित हैं क्योंकि वह नियत कर्म को नहीं जानता है। अर्थात् क्या करना चाहिए ? क्या नहीं करना चाहिए ? क्या त्यागना चाहिए ? क्या नहीं त्यागना चाहिए ? किसमें प्रवृत्ति होने चाहिए और किससे निवृत्ति होनी चाहिए। इस तथ्य को हम नहीं जानते। जब हम इस तथ्य को नहीं जानते तो अधिकांशतः शास्त्रों के प्रतिकूल कर्म करते हैं। शास्त्रों के प्रतिकूल जो भी कर्म किये जाते हैं उन्हें भी अनियत कर्म कहा जाता है और शास्त्रों के अनुकूल जो कर्म किये जाते हैं उन्हें नियत कर्म कहा जाता है। श्री भगवान ने यह कहा कि नियत कर्म करो और प्रत्येक मनुष्य के लिए नियत कर्म पृथक्–पृथक् प्रकार के हैं। हम अपने स्वयं के लिए यह जाने कि हमारे लिए नियत कर्म क्या हैं ? जब तक हम यह जानते नही कि हमें क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए ? तब तक अधिकांशतः हम अनियत कर्म ही करते रहते हैं। यह कथन कि नियत कर्म करो का विशिष्ट भाव है।

इस संसार में जो मनुष्य रहते हैं उन सबका नियंत्रण इस पृथ्वी से नहीं है। वे सबके सब अर्थात् हम सभी कहीं और से नियंत्रित होते हैं। जन्म के पश्चात् प्रकट हो जाना और मृत्यु के पश्चात् विलुप्त अर्थात् गायब हो जाना। यह प्रकट करता है कि हमारा नियंत्रण इस लोक से नहीं है किसी और लोक से है। हम जीवनपर्यन्त बहुत कुछ कार्य करते हैं और उस कार्य के उपरान्त बहुत कुछ एकत्र कर लेते हैं। अनेक सम्बंध बना लेते हैं। अनेक हमारे प्रिय लोग अत्यंत प्रिय हो जाते हैं परन्तु मृत्यु के पश्चात् इस संसार में हमने जो कुछ बनाया है या जो सम्बंध स्थापित किए हैं वे सब यहीं पर छूट जाते हैं। वे सम्बंध और वस्तुऐं हमारे साथ नहीं जाते। इसलिए यह तथ्य विशिष्ट है कि हम इस पृथ्वी पर किसी विशिष्ट कारण से आये हैं। वस्तुऐं एकत्र करना, सम्बंध बनाना, और ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, पद आदि प्राप्त करना हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है, वरन् जीवन का लक्ष्य कुछ और है। क्योंकि हमने बहुत प्रयत्न से जो कुछ भी एकत्र कर पाया है जो कुछ भी सम्बंध बना पाए हैं वह सब हमारे साथ वहां नहीं जाते जहां पर मृत्यु के पश्चात् हमें जाना पड़ता है। इसीलिए मनुष्य को बहुत गहनता से यह विचार करना चाहिए कि अंततोगत्वा वह उददेश्य क्या है ? जिसके लिए हमें कुछ वर्षो के लिए इस पृथ्वी लोक पर प्रकट किया गया हैं। उस उद्देश्य को जानना ही नियत कर्म का एक विशिष्ट अंग है और यदि हम उस उद्देश्य को जान गए तो फिर हम नियत कर्म की ओर बढ़ते हैं और जब तक इस

उद्देश्य को नहीं जान पाते तब तक हम संसार में वस्तुऐं एकत्र करते रहते हैं। सम्बंध बनाते रहते हैं परन्तु जो कुछ वस्तुऐं एकत्र रहती हैं और जो कुछ सम्बंध बनते हैं। वे साथ जाने वाले नहीं हैं। यही छूटने वाले हैं। इसलिए बहुत ध्यान से और गहराई से अनेक महानुभावों से हमें यह जान लेना चाहिए कि हमारे मनुष्य जीवन का क्या लक्ष्य है ? जब हम यह जान लेंगे तो शास्त्रसंगत कर्मो की ओर बढ़ेंगे।

जिस सत्ता ने हमें प्रकट किया है, जिस सत्ता ने हमें इस पृथ्वी लोक पर भेजा है और जो सत्ता हमारा नित्य पालन पोषण कर रही है तथा हमें धीरे–धीरे मृत्यु की ओर ले जाकर अंत में विलीन कर देने वाली है। उस सत्ता को जानना ही मनुष्य जीवन का कर्तव्य है और हम यह विचार करें कि उसको जानने के लिए हमने अपने मनुष्य जीवन में कितना प्रयास किया है ? तो यह प्रश्न निकल कर बाहर आएगा कि हमने संभवतः उसको जानने का कोई प्रयास नहीं किया। जीवन भर हम ऐसे अनियत कार्यो में व्यस्त रहे जिससे कुछ वस्तुऐं दिखाई तो पड़ती है परन्तु वे हमारी मृत्यु के पश्चात् साथ नहीं जाने वाली हैं। इसलिए हमें परमात्मा की प्राप्ति रूप नियत कर्म करना चाहिए। ऐसा क्यों करना चाहिए क्योंकि जो भी कर्म हम करते हैं ? उसका जो परिणाम होता है वह अंततः विनाशी होता है।

मनुष्य प्राथमिक स्थिति में अर्थात् युवा हो जाने पर अधिकतर अपने शरीर निर्वाह के लिए कर्म करता है। मनुष्य के शरीर का निर्वाह उसके सम्पर्कित परिवारीजनों का निर्वाह हो इसके लिए कर्म तो करना पड़ता है। यदि कर्म नहीं करेगा तो जो शरीर की यात्रा है अर्थात् जीवन का जो निर्वाह है वह भी नहीं हो पाएगा। इसलिए कर्म करना पड़ता है। कोई कर्म न करे तो एक दिन वह स्थिति आ जाएगी कि हमारे जीवन निर्वाह का जो कार्य वह भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए जो आवश्यक वस्तुऐं हैं वे भी कर्म से ही एकत्र होती हैं। बिना कर्म के एकत्र नहीं होती है। इसलिए श्री भगवान ने कहा कि **त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः** अर्थात् कर्म न करने से जीवन निर्वाह नहीं होगा। इस प्रकरण में नियत कर्म का संकेत उस ओर जाता है जिससे हमारा जीवन निर्वाह होता है परन्तु उस ओर विशिष्ट रूप से जाता है जो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है।

नियत कर्म क्या है :–

इसकी व्याख्या के पूर्व हमें यह समझना चाहिए कि हम किस स्थिति में हैं। अर्थात्

हमारा आश्रम क्या है ? और हम किस वर्ण से सम्बंधित हैं ? जब से सृष्टि आरम्भ हुई तब से चार प्रकार की व्यवस्था इस संसार में चल रही है। अर्थात् चार प्रकार के मनुष्य इस संसार में रहते हैं। एक वे लोग हैं जो दूसरों को शिक्षा देते हैं तथा अपने कर्मो के द्वारा वे समाज को दिशा देते हैं। दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो समाज की रक्षा करते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग है जो सभी के पालन पोषण में सहायता करते हैं और चौथे प्रकार के वे लोग होते हैं जो समाज की सेवा करते हैं। इन्हीं को शास्त्रकारों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र नाम से परिभाषित किया हैं यह व्यवस्था पूर्वकाल से चली आ रही है। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से ही और सृष्टि के अंत तक रहेगी। आज भी समाज में एक समुदाय ऐसा है जो सभी को शिक्षा प्रदान करता है। ऐसे लोगों को हम ब्राह्मण मान सकते हैं। एक वह समुदाय है जो सबकी रक्षा करता है उसे हम क्षत्रिय मान सकते हैं और एक वह समुदाय है जो व्यवसाय आदि के द्वारा सभी के भरण पोषण की व्यवस्था करता है। उसे हम वैश्य मान सकते हैं और एक वह समुदाय है जो अपनी सेवा से सभी को लाभान्वित करता है। उसे हम शूद्र मान सकते हैं। वर्ण व्यवस्था यद्यपि वर्तमान समय में समाप्त हो गई है परन्तु वह दीखने में प्रतीत होती है। क्योंकि चार ही तरह के व्यक्ति इस संसार में हमें प्रतीत होते हैं।

श्री भगवान ने इन चारों तरह के व्यक्तियों के लिए स्वाभाविक कर्म का निश्चय किया है। ये चार वर्णो के स्वाभाविक कर्म हैं:–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। 18/42।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। 18/43।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।18/44।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।। 18/45।।

शम, दम, तप, शौच, क्षमाभाव, मन इन्द्रिय को सहज रूप से प्रस्तुत करना, परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना, हम क्या हैं ? इसको जानने का प्रयत्न करना और इस प्रयत्न के पश्चात् उस **तत्त्व** को जान लेना जो इस समग्र ब्रह्मांड का नियंता है। इनको ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म कहा जाता है। शौर्य, तेज, धैर्यता, कुशलता, युद्ध में पलायन न करने का गुण, दान देना और परमात्मा की स्वीकारोक्ति यह सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म है। कृषि गोरक्षा वाणिज्य यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और सेवा करना यह शूद्र के स्वाभाविक कर्म हैं।

स्वाभाविक कर्म वे कर्म होते हैं जो मनुष्य के स्वाभाव में रहते हैं। हम अपने स्वभाव से ही कर्मो का सम्पादन करते हैं और हमारा स्वभाव प्रकृति से उत्पन्न गुणों सत्त्व, रज, तम के अधीन रहता है। हमारा जो स्वभाव होता है उसी के अनुकूल हमारे कर्म होते हैं। स्वभाव से पृथक् किसी व्यक्ति का कोई कर्म नहीं होता। स्वाभाविक कर्म और नियत कर्म में पर्याप्त अंतर है। स्वाभाविक कर्म वे कर्म हैं जो मनुष्य के स्वभाव में रहते हैं और नियत कर्म वे कर्म है जो मनुष्य को करना चाहिए। जिन कर्मो के सम्पादन की आज्ञा शास्त्र देते हैं उन्हें नियत कर्म कहा जाता है। जब मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मो का सही सही प्रतिपादन करता है अर्थात् अपने स्वाभाविक कर्मो को जान जाता है तो वह शास्त्र विधि से नियत किए गए कर्मो को करता है और स्वाभाविक कर्मो में विकृति होने पर हम नियत कर्मो का ठीक ठीक सम्पादन नहीं कर पाते हैं। इसलिए स्वाभाविक कर्म और नियत कर्म में पर्याप्त सामंजस्यता है। यह एक दूसरे से मिले हुए हैं। यदि हमारे स्वाभाविक कर्म बिगड़ेंगे तो नियत कर्म निश्चित रूप से बिगड़ जायेंगे यदि हम अपने स्वाभाविक कर्म सही रूप से करते हैं तो हमारे नियत कर्म भी सही रूप से होंगे।

प्रत्येक मनुष्य को यह अभीष्ट है कि वह किसी भी कर्म को करने के पूर्व उस पर यह विचार अवश्य करे कि हमारे लिए ऐसा करना उचित है या अनुचित है। मनुष्य कभी कभी परवश होकर भी ऐसे कर्म करता है जो उसे नहीं करना चाहिए। परन्तु परवशता में किए गए शास्त्र प्रतिकूल कर्मो का उतना अधिक दुष्परिणाम नहीं होता है जितना जान बूझकर शास्त्रसंगत कर्मो के प्रतिकूल कर्म करने से होता है। आज के समाज में स्वेच्छाचारिता अर्थात् मनमाने ढंग से कर्म करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और वह पर्याप्त सीमा तक बढ़ चुकी है। जिसका दुष्परिणाम हमें समाज में प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिल रहा है। भारतीय संस्कृति में शास्त्रसंगत कर्मो का बहुत महत्व है। इन्हें ही नियत कर्म

कहा जाता है और नियत कर्मो के आचरण से हम अपनी जीवन यात्रा सही रूप से पूरी करते हैं तथा मनुष्य जीवन का जो अभीष्ट लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति है उसको प्राप्त कर लेते हैं। जब हम स्वेच्छाचारिता से कार्य करते हैं तो हम अपने जीवन के वास्तविक मार्ग से भटक जाते हैं और जिसका परिणाम हमें अनेक प्रकार के शोक, दुःख, रोग और असमय मृत्यु के रूप में देखना पड़ता है। इसलिए नियत कर्मो का बहुत महत्व है। किसी भी कर्म को करने के पूर्व हमारी बुद्धि यदि विनिश्चय करती है यह कार्य ठीक नहीं है। जब मन में कोई संशय हो कि हमें अमुक कार्य नहीं करना चाहिए और उसे बलात् करने की इच्छा प्रकट हो जाए तो समझना कि यह अनियत कर्म है। शास्त्र इसकी आज्ञा नहीं देता है। अनेक प्रकार के शास्त्रों में मनुष्य के नियत कर्मो का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि किन कर्मो का सम्पादन हमें करना चाहिए और किन कर्मो का सम्पादन हमें नहीं करना चाहिए। इसलिए मनुष्य के जीवन में शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य बनाया गया था और आज हम किसी भी प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते हैं। हमें भारतीय संस्कृति के अनेक शास्त्रों का अध्ययन कराया भी नहीं जाता है। इसलिए हम मनमाने ढंग का आचरण करने को उद्धत हो रहे हैं। जिसका परिणाम समाज में अव्यवस्था के रूप में परिलक्षित हो रहा है। इसलिए अनेक प्रकार के शास्त्रों में जिन कर्मो का उल्लेख किया गया है वे ही मनुष्य के लिए नियत कर्म हैं और उन कर्मो को जान कर हमें उनका सम्पादन करना चाहिए। **ऐसा नियतं कुरु कर्म** का अभिप्राय है।

नियत कर्म करने से मनुष्य का कल्याण होता है और नियत कर्म न करने से मनुष्य का पतन और विनाश होता है। नियत कर्म के अतिरिक्त जो कर्म हैं वे करने नहीं है क्योंकि न करने से अकर्मण्यता आती है। अकर्मण्यता या निठल्लापन मनुष्य के लिए अत्यंत घातक है। कर्म न करने को अकर्मण्यता कहते हैं तथा कर्म न करने से हमारा जो जीवन है वह भी ठीक ढंग से नहीं चल पाएगा। जीवन के परिचालन हेतु भी हमें कर्म करने ही पड़ते हैं। प्रातः से रात्रि तक हम कर्मो के घेरे में रहते हैं। शरीर का निर्वाह यदि करना है तब भी हमें कमाना पड़ेगा पल पल कार्य करना पड़ेगा। यदि हम चाहें कि बिना कर्म किये ही हमारा पेट भर जाए तो यह भी असंभव है। हमें स्वयं के लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए, अपने दायित्वों की पूर्ति के लिए कर्म करना ही पड़ेगा। इस कारण अकर्मण्यता अर्थात् कर्म न करना उचित नहीं है।

शरीर यात्रा का अभिप्राय व्यापक है कि हमें स्वयं को जीवित रखने के लिए नित्य

प्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने सगे सम्बंधियों तथा परिवारीजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करते हैं परन्तु गरीब असहाय और दुर्बल लोगों के लिए भी हमें कर्म करना चाहिए। शरीर यात्रा जीवन मात्र से सम्बंध नहीं रखती। वह समाज से भी सम्बंध रखती है। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे इसके लिए ही मात्र हमें कर्म नहीं करना है। अन्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हमारे द्वारा कितनी हो सकती है ? इसके लिए भी हमें कर्म करना है। यह भी जीवन यात्रा का एक अंग है। मनुष्य को कर्मो के सम्पादन के लिए स्वतंत्रता प्रदान की गई है परन्तु उसे कर्मफल की प्राप्ति हेतु परमात्मा पर आधारित रहना पड़ता है। इसलिए पहले नियत कर्म जानें तत्पश्चात् उसका सम्पादन करें। इससे हमारी जीवन यात्रा सही ढंग से चलती रहेगी ऐसा श्री भगवान का अभिप्राय है।

नियत कर्म करने को कहकर अब भगवान इस तथ्य का प्रकटीकरण कर रहे है कि मनुष्य को किन कर्मो से बंधन प्राप्त होता है ? और किससे मुक्ति प्राप्त होती है ?

मूल श्लोक संख्या–9

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंङ्गः समाचर।।

पदच्छेद :–

यज्ञार्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्मबन्धनः,

तदर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्तसंङ्गः, समाचर।।

भावार्थ :– यज्ञ के निमित्त अर्थात् यज्ञार्थ कर्मो के अतिरिक्त कर्मो में मनुष्य बंधन को प्राप्त होता है। इसलिए हे अर्जुन ! आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञ हेतु कर्मो का आचरण करें।

व्याख्या :– कर्म योग के प्रकरण में भगवान यज्ञ को वर्णित कर रहे हैं तथा यह कह रहे हैं कि यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर्म बंधन के हेतु हैं। आज से पांच हजार वर्ष पूर्व भगवद्गीता का उद्भव काल माना जाता है। यह द्वापर युग का अंत समय था। इससे पूर्व त्रेतायुग था। जिसमें भगवान श्रीराम का अवतरण हुआ। आपको स्मरण होगा कि विश्वामित्र

जी ने भगवान श्रीराम को उनके पिता महाराजा दशरथ से यज्ञ की रक्षा हेतु मांगा था। यज्ञ का कार्य सुसंगत और निर्बाध रूप से चलता रहे इसलिए वे श्रीराम और लक्ष्मण को उनके पिता से मांग ले गए थे। महाराजा दशरथ ने सकुचाते हुए विश्वामित्र को श्रीराम, लक्ष्मण सौंपे थे ताकि यज्ञ का कार्य निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न हो सके। भगवान श्रीराम और लक्ष्मण जी ने विश्वामित्र के यज्ञ को निर्विघ्न रूप से सम्पन्न कराया और ताड़का, सुबाहू आदि राक्षसों का वध किया। इस कहानी से स्पष्ट है कि त्रेता तथा द्वापर काल में भी यज्ञादिक कार्यो का विशेष प्रचलन था। स्थान स्थान पर आश्रम थे जहां पर मुनिगण और तपस्वी आचार्य यज्ञों का सम्पादन किया करते थे। द्वापर युग में भी भगवान श्रीकृष्ण के अवतरण का यही उद्देश्य था कि **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्** अर्थात् साधु पुरुषों की रक्षा की जाए और दूषित कर्म करने वाले राक्षसों का विनाश किया जाए। अनेक राक्षसों का विनाश हुआ। जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में विस्तार से हुआ है।

श्री भगवान ने यज्ञार्थ कर्म को बंधन से मुक्त रखा तथा अन्य को बंधन का कारण कहा। यज्ञ के अर्थ अर्थात् यज्ञ के निमित्त जो कर्म होते हैं वही बंधनमुक्त कर्म हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि यज्ञादिक कर्मो को सम्पन्न कराने में सहयोग करना तथा यज्ञ को सम्पादित करने में व्यवस्था करना और जो लोग यज्ञादिक कर्म करते हैं उनका सहयोग करना। इसके अतिरिक्त अन्य लोगों को यज्ञादिक कर्म करने हेतु प्रेरित करना और स्थान स्थान पर यज्ञों का सम्पादन कराना आदि कर्म बंधन के हेतु नहीं हैं। अन्य कर्म बंधन के हेतु है। ऐसा श्री भगवान का कथन है। यह उस काल की अभिव्यक्ति है जिस काल में यज्ञादिक कर्म वृहद् स्तर पर होते थे। अधिकतर लोग धार्मिक थे और धर्म के रूप में यज्ञों का प्रचुरता से सम्पादन करते थे। यह तथ्य निश्चित है।

पवित्र वेदों में और हमारे अनेक पौराणिक ग्रंथों में विविध प्रकार के यज्ञों की विधियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। पवित्र वेदों का जब अध्ययन किया जाता है तो इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में यज्ञों का सम्पादन वृहद स्तर पर होता था। यज्ञों के सम्पादक ऋषियों को पर्याप्त सम्मान और मान्यता प्राप्त थी। राज्य का शासन इन्हीं ऋषियों के द्वारा नियंत्रित था और उन्हीं के निर्देश के आधार पर राज्यों के समस्त विषयों का संचालन होता था। ऋषिगण प्रत्येक कार्य का परामर्श राज्य को देते थे ऐसा प्राविधान था। राज्य का कर्तव्य था कि यज्ञों तथा समस्त प्रकार के धार्मिक आयोजन को कराये। श्री भगवान ने यज्ञ पद का प्रयोग इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए किया है। यह

विशेष बात है। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का हेतु होते हैं। यह विशिष्ट तथ्य भी श्री भगवान ने कहा।

उपरोक्त अर्थ के अतिरिक्त चूंकि यज्ञ शब्द का प्रयोग कर्मयोग के विषय में किया गया है। इस कारण यज्ञ का अर्थ मनुष्य के द्वारा सम्पादित किए गए कर्मो से भी है। जिसका पालन प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए, जो कर्म हमें करने है वही किए जाए जो नहीं करने है वे कदापि नहीं किए जाए। यह जानकर हम कर्मो का सम्पादन करेंगे तो यह यज्ञ के निमित्त कर्म किया गया ऐसा माना जाएगा। जो वृहद कर्म है वे सब स्पष्ट है और वृहद कर्मो का विषय भी स्पष्ट है। वह यह तथ्य है कि हम यह पहले जाने कि हमें क्या कर्म करने चाहिए ? यही प्रथम अध्याय है प्रथम सीढ़ी है। अधिकांश लोग कर्म की जटिलता को नहीं जानते क्या करना चाहिए ? क्या नहीं करना चाहिए ? इसका ज्ञान प्रथमतः आवश्यक है। इस ज्ञान के दो स्रोत है एक सदग्रंथों का अध्ययन तथा दूसरे जानकार अर्थात् ज्ञानी जनों की सान्निध्यता। सदग्रंथों के अध्ययन से हमें कर्तव्य कर्मो का ज्ञान हेाता है पर कभी कभी हमें यह भ्रम उत्पन्न होता है कि अमुक कर्म शास्त्र विहित है अथवा शास्त्र के प्रतिकूल है। इस प्रकार के संशय की निवृत्ति हेतु हमें ज्ञानीजनों की शरण में जाना पड़ता है। हमें यह संशय समाप्त करने के लिए शास्त्रों का अध्ययन भी करना पड़ता है और जानकार पुरुषों से भी शिक्षा लेनी पड़ती है तथा ऐसा करने से हमें कर्तव्य कर्मो का बोध होता है।

कर्तव्य कर्मो के बोध के उपरान्त हम उसी विहीत कर्म के अनुपालन हेतु प्रवृत्त होते हैं। हम जब कभी विहीत कर्मो के सम्पादन हेतु प्रवृत्त होते हैं तो अनेक प्रकार की बाधाऐं भी आती हैं। पहले यर्थाथ कर्मो का ज्ञान करना और उसके पश्चात् यथार्थ कर्तव्य कर्म का पालन करना यह दो प्रकार की पृथक्–पृथक् स्थितियां हैं। कर्तव्य कर्मो के अनुपालन से ही कर्मो के बंधन से मुक्ति प्राप्त होती है और कर्तव्य कर्मो के अनुपालन में आसक्ति विशेष रूप से बाधक है। हम सभी जिस परिवार में रहते हैं उस परिवार के प्रति भी हमारे कर्तव्य कर्म हैं। यदि हमारा कोई परिवारिक सदस्य सम्पन्न नहीं है तो हमें उसकी सहायता करनी चाहिए। यदि हम सम्पन्न हैं तो परिवार के दूसरे सदस्यों को सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और इसके अतिरिक्त समाज में गरीबों की सहायता करना, दान करना, शुभ कर्मो में धन लगाना यह भी हमारे कर्तव्य कर्म हैं। हम स्वयं भी सुखी रहें और दूसरो को सुखी रखने की व्यवस्था करें। यह मनुष्य का स्वधर्म है और इससे धर्म का आचरण होता

है। आसक्तिरूपी दोष से जब हम आवृत होते हैं तो हम मात्र स्वयं के लिए कार्य करते हैं अर्थात् अपने सुख के लिए विचार करते हैं। अन्य के सुख के विषय में विचार नहीं करते। यही बंधन है। जब हम स्वयं के सुख के साथ अन्य लोगों के सुख के लिए विचार करते हैं तो हम आसक्तिविहीनता से कार्य करते हैं। इसके लिए ही श्री भगवान ने **मुक्तसंगः समाचर** कहा है।

हम जब स्वयं के लिए कार्य करते हैं तो लाभ होने पर हमें प्रसन्नता होती है और हानि होने पर हमें दुःख और शोक होता है। परन्तु जब हम दूसरों के लिए कार्य करते हैं तो वहां पर हमें प्रसन्नता ही मिलती हैं, क्योंकि दूसरों के लिए कार्य करने में हम अपनी आर्थिक हानि तो करते हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु अंतःकरण में संतोष रहता है और हम आसक्तिरूप दोष से भी निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि दूसरों के लिए जो सेवा होती हैं यदि वह स्वार्थपरक न हो तो इससे आत्मिक संतोष प्राप्त होता है और ऐसा विचार मन में आता है कि हमने आज बहुत अच्छा कार्य किया है। दूसरों की सेवा की। दूसरों के नैतिक उत्थान के लिए कार्य किया। ऐसी स्थिति में यहां पर आसक्ति का भाव हो जाता है। आसक्ति का भाव तब तक रहता है जब तक हम स्वयं के लिए कार्य करते हैं। अर्थात् अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु प्रयत्न करते हैं और हम जब परमार्थ सिद्धि हेतु कार्य करते हैं तो वहां पर आसक्ति का अभाव हो जाता है वहां पर कर्म बंधन भी नहीं होता। इसीलिए श्री भगवान ने कहा कि **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन** अर्थात् यज्ञ के लिए कार्य करना कर्म बंधन नहीं है और यज्ञ के लिए कार्य न करना कर्म बंधन है। दूसरों की सेवा भी एक प्रकार का यज्ञ कर्म है, क्योंकि वैदिक या पौराणिक यज्ञों का सम्पादन सभी की भलाई के लिए किया जाता है। इससे स्वयं का तो हित होता ही है लेकिन समाज और संसार का बृहद् कल्याण होता है। इससे समाज और संसार लाभान्वित होते हैं।

गीता का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को कर्तव्य कर्मो के आचरण का पाठ सिखाना है कर्म बंधन का सिद्धान्त एकदम स्पष्ट है। कर्तव्य कर्मो अर्थात् शास्त्र संगत कर्मो के अनुपालन से कर्म बंधन नहीं होता है। कर्मबंधन से क्या परिणाम होता है ? यह भी हमें जानना चाहिए। कर्म बंधन का परिणाम पुनः पुनः जन्म लेना और पुनः पुनः मृत्यु के संजाल में फंसे रहना है। हम आप सभी लोग यह जानते हैं कि हमारा जन्म हुआ है तो मृत्यु भी होनी है। हम मृत्यु के पूर्व जन्म के पश्चात् सम्पूर्ण जीवन कार्य करते हैं। वह हमारे बंधन का हेतु होता है। कर्म के सिद्धान्त को कर्म बंधन से मुक्ति हेतु हमें समझना पड़ेगा। जब

हम जीवन की वास्तविकता से परिचित हो जाते हैं तो अंततः हम अपनी उन सभी वस्तुओं में आसक्त नहीं होते हैं जो हमारे पास हैं। हमारे पास जो कुछ सम्पत्ति है, धन, पद, प्रतिष्ठा है वह हमारे अपने काम का नहीं है दूसरों के हित के लिए है। यह भाव आने पर यज्ञ के अर्थ कर्म होता है और आसक्तिरूपी दोष से भी निवृत्ति होती है। हम धन सम्पत्ति पद प्रतिष्ठा को अपना मानकर उसका उपभोग करते हैं और करते रहते हैं तब तक हम आसक्ति रूपी दोष से आवृत होते हैं। आसक्तिरूपी दोष हमें छोड़ता नहीं है। इसलिए श्री भगवान ने **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** कहा है।

श्री भगवान ने कर्मयोग के विशिष्ट स्वरूप को इस श्लोक में वर्णित कर दिया है। शास्त्रसंगत कर्मो का पालन करना चाहिए और शास्त्र प्रतिकूल कर्मो का परित्याग करना चाहिए। जब तक हम शास्त्रसंगत कर्मो का पालन नहीं करते हैं तब तक बंधन रहता है और जब पालन करते हैं तो उस बंधन से हमें मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान के कथन का यही अभिप्राय है। यहां पर यज्ञ का अर्थ वैदिक और पौराणिक यज्ञों से भी है और मनुष्य के कर्मो से भी विशेष है। क्योंकि यह कर्मयोग का प्रकरण है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है वे यज्ञ के स्वरूप में होते हैं यज्ञ में आहुति डाली जाती है और अन्य कर्मो में श्रमरूपी आहुति पड़ती है। यज्ञों के पश्चात् जो परिणाम प्रकट होता है वह अव्यक्त रहता है। परन्तु मनुष्य के कर्मो के पश्चात् जो परिणाम प्रकट होता है वह व्यक्त हो जाता है। इसलिए दोनों प्रकार के अव्यक्त और व्यक्त स्थितियों में हमें कर्म का आचरण करना चाहिए और ऐसे कर्मो का सम्पादन करना चाहिए जो मानव के कल्याण के हेतु हैं। ऐसे कर्मो का सहयोग करना चाहिए जो सभी की भलाई के लिए हैं मात्र अपनी भलाई के लिए नहीं हैं।

मनुष्य तथा देवगण एक दूसरे की उन्नति किस प्रकार करेंगे ? इसकी प्रक्रिया क्या है ? इस तथ्य की विवेचना श्री भगवान ने अग्रिम दो श्लोकों में की है।

मूल श्लोक संख्या–दस व ग्यारह।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनने प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्तिवष्टकामधुक्।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

पदच्छेद :–

सहयज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, पुरा, उवाच, प्रजापतिः,

अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एषः, वः, अस्तु, इष्टकामधुक्।।

देवान्, भावयत, अनेन, ते, देवाः, भावयन्तु, वः,

परस्परम्, भावयन्तः, श्रेयः, परम्, अवाप्स्यथ।।

भावार्थ :– कल्प के आरम्भ में यज्ञ सहित प्रजाओं की सृष्टि करके भगवान ब्रह्मा ने उपदेश दिया कि यज्ञ के द्वारा सबकी उन्नति करो। यह यज्ञ मनुष्यों तथा देवताओं की इष्ट कामनाओं का प्रदाता हो। इस यज्ञ से देवताओं को पुष्ट करो और देवगण मनुष्यों की उन्नति करें। इस प्रकार परस्पर उन्नति से परम श्रेय की प्राप्ति होगी।

व्याख्या :– सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा अर्थात् यज्ञ सहित प्रजाओं की सृष्टि करके ऐसा श्री भगवान ने कहा है। इन शब्दों से सृष्टि के आदिकाल में यज्ञ सहित प्रजा की उत्पत्ति का वर्णन है। सृष्टि के आदिकाल में अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति में यज्ञ की भी उत्पत्ति हुई और प्रजा की भी उत्पत्ति हुई। यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति होती है और तब देवता मनुष्यों की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे की उन्नति से परम श्रेय की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा प्रकरण आया है कि सृष्टि के आदिकाल में वेद देवतागण और यज्ञ की उत्पत्ति हुई।

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।

नारायणपरा लोका नारायणपरा मखा।। 2/5/15।।

समस्त वेद, देवगण, श्री नारायण के अंगों से उत्पन्न हुए। समस्त यज्ञों का अभिप्राय नारायण ही हैं। वेदों से जिन लोकों की प्राप्ति होती है वह सभी लोक नारायण द्वारा रचित

हैं।

सृष्टि का यह क्रम है। जिसे शास्त्रों में वर्णित किया गया है। उसके अनुसार ईश्वर के आदेश से या उनकी प्रेरणा से प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति का संकल्प लिया। इस संकल्प से उन्होंने 10 मानस पुत्र उत्पन्न कर दिए। जिन्हें 1– मरीचि 2– अत्रि 3– अंगिरा 4– पुलह 5– पुलस्त्य 6– क्रतु 7– भृगु 8– वशिष्ठ 9– दक्ष 10– नारद कहा जाता है। ऐसा वर्णन आता है कि नारद की उत्पत्ति ब्रह्मा जी की गोद से हुई। दक्ष की उत्पत्ति अंगूठे से हुई वशिष्ठ की उत्पत्ति प्राण से हुई। भृगु की उत्पत्ति त्वचा से हुई। कृतु की उत्पत्ति हाथ से हुई। पुलह की उत्पत्ति नाभि से हुई, पुलस्त्य की उत्पत्ति कानों से हुई, अंगिरा की उत्पत्ति मुख से हुई। अत्रि की उत्पत्ति नेत्रों से हुई मरीचि की उत्पत्ति मन से हुई।

वेदों का प्राकट्य भगवान ब्रह्मा के मुख से हुआ था। ब्रह्मा जी के चार मुख है। उनमें पूर्व के मुख से ऋग्वेद, दक्षिण के मुख से यजुर्वेद, पश्चिम के मुख से सामवेद तथा उत्तर के मुख से अथर्ववेद की रचना हुई और इसके अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थाप्यवेद, गांधर्ववेदों की रचना भी उन्हीं के मुख से हुई। प्रजापति ब्रह्मा ने देव सृष्टि की रचना आठ प्रकार की है। जिन्हें 1– देवता, 2– पितरगण, 3– असुरगण 4– गंधर्व अप्सरा 5– यक्ष राक्षस, सिद्ध, चारण, विद्याधर, 7– भूत, प्रेत, पिशाच 8– किन्नर किम् पुरुष अश्वमुख कहते हैं।

मरीचि आदि से आज की सृष्टि है। वेदों से यज्ञों की उत्पत्ति तथा देवताओं की उत्पत्ति सृष्टि के आदिकाल से है। सृष्टि के उत्पत्ति के समय ही प्रजा, देवता, तथा यज्ञ की रचना हो गई थी। यह तथ्य हमारे शास्त्रों में वर्णित किया गया है। चूंकि सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम और इसकी स्थिति अव्यक्त है। किसी भी प्रकार से हम इस विषय की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसलिए हमें शास्त्रों में लिखित और उनमें वर्णित तथ्यों को मानना पड़ता है। हमारे सामने अन्य कोई विकल्प ही नहीं है कि हम सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम और स्थिति को न माने। आज अनेक वैज्ञानिक सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बंध में अनेक तर्क देते हैं। पर वे समस्त तथ्य काल्पनिक ही हैं। उनकी पुष्टि नहीं हो सकती। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बंध में जिन तथ्यों का उल्लेख हमारे शास्त्रों में किया गया है उन तथ्यों को हमें मानना पड़ता है और हमारे सामने अन्य कोई मार्ग भी नहीं है कि हम उसको न माने। यज्ञ के साथ प्रजा की उत्पत्ति भगवान ब्रह्मा के

द्वारा हुई। **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः** का यही अभिप्राय है। अर्थात् यज्ञ और प्रजा की उत्पत्ति भगवान ब्रह्मा के द्वारा हुई। वेदों से यज्ञ का प्राकट्य है और समस्त जीव जन्तु प्रजा के रूप में हमारे समक्ष आज भी विद्यमान हैं। यह क्रम सृष्टि के आरम्भ से आज तक निर्वाध रूप से चलता चला आ रहा है।

भगवान ब्रह्मा ने यज्ञ की रचना की। साथ ही प्रजा की रचना की। यह रचना कार्य सृष्टि की उत्पत्ति के समय हुआ। यज्ञ तथा प्रजा की रचना एक साथ हुई यज्ञ शब्द के अर्थ का पूर्व में भी वर्णन हो चुका है। यज्ञ के दो अर्थ हैं एक अर्थ यज्ञादिक कर्मो की ओर संकेत करता है और दूसरा अर्थ कर्तव्य कर्मो की ओर संकेत करता है। यज्ञ से इस जगत में समृद्धि आती है। ऐसी मान्यता है। यह मान्यता प्राचीनकाल से दृढ़ है। अत्यंत बलवती है। इसका सिद्धान्त है कि यज्ञादिक कर्मो से एक तो समाज में मनुष्यों का अंतःकरण शुद्ध होता है और वातावरण भी शुद्ध होता है तथा समय से वर्षा होती है। यह तीनों कार्य मनुष्य की उन्नति हेतु है। अंतःकरण शुद्ध होगा तो मनुष्य भोग वृत्तियों का त्याग करेगा तथा दुष्कर्मो से दूर रहेगा। मनुष्य का भोग वृत्तियों से त्याग तथा दुष्कर्मो से दूर रहना उसके कल्याण का कारण है। दूसरे वातवरण का शुद्ध रहना मनुष्य के लिए इसलिए आवश्यक है कि इससे अनेक बीमारियां स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य की अनेक बीमारियां प्रदूषित वातावरण के कारण होती हैं। यज्ञ का दूसरा परिणाम यह है कि यज्ञादिक कर्मो से समय से वर्षा होती है। जब समय से वर्षा होती है तो पर्याप्त मात्रा में अन्न की उत्पत्ति होती है। अनेक वनस्पतियां उपजती हैं तो मनुष्यों के रोगों के निवारण हेतु औषधियों का प्रयोग होता है। भोजन की पर्याप्त उपज तथा रोगों के निवारण वनस्पतियों की उत्पत्ति यज्ञ का एक परिणाम है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा यज्ञ के साथ प्रजा को रचकर ऐसा भगवान का कथन एक दूसरा अर्थ भी देता है। प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ अर्थात् कर्तव्य कर्मो की रचना की तथा साथ ही प्रजा की रचना की। शास्त्रों में ब्रह्मा जी के जिन उपरोक्त वर्णित दस मानस पुत्रों का वर्णन आता है प्रत्येक पुत्र के लिए ब्रह्मा जी ने कर्तव्य कर्म का विधान किया तथा यह सुनिश्चित किया कि उन्हें क्या करना है ? इस सृष्टि के साथ ही कर्तव्य कर्म भी रचे गए। कर्तव्य कर्मो की रचना आज की नहीं है। सृष्टि के समय की रचना है। इसीक्रम में आज भी कर्तव्य कर्म हमारे सामने हैं। सृष्टि के आदिकाल में जिन कर्तव्य कर्मो को शास्त्रों में कहा गया है वे आज भी वैसे ही है जैसे पूर्व में अर्थात् सृष्टि के समय में थे। इस कारण

मनुष्य को पहले कर्तव्य कर्मो को जानना चाहिए। इस प्रकार **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा** का एक अर्थ प्रजा के साथ भगवान ब्रह्मा ने कर्तव्य कर्मो की रचना की, ऐसा भी है समझना चाहिए।

श्री भगवान ने कहा **पुरोवाच प्रजापतिः** अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि की रचना की और सृष्टि की रचना के साथ अनेक नियम बना दिए। पुरोवाच का यही अर्थ है। पहले अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में ही बहुत कुछ कहा। भगवान ब्रह्मा ने जो कुछ भी कहा उसका उद्देश्य था जो सृष्टि की रचना की वह सुखी और समृद्ध रहे। उसका उचित रूप से पालन पोषण होता रहे। सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसका पालन पोषण अर्थात् स्थिति अत्यंत आवश्यक थी। किसी भी संस्था की उत्पत्ति जब की जाती है तो उसके संचालन के लिए कुछ नियम बना दिए जाते हैं। यह नियम संचालन के लिए आधारभूत नियम होते हैं। यह सब संस्था के निर्माण के पूर्व ही हो जाता है। यही तथ्य स्पष्ट करने के लिए **पुरोवाच प्रजापतिः** कहा गया है। यह सृष्टिरूपी संस्था बनी और इसके साथ ही यह ठीक तरह से कार्य कर सके अर्थात् इसका संचालन सम्यक् प्रकार से हो सके इसके लिए विस्तृत नियम भी बना दिए गए।

श्री भगवान ने आगे **अनेन प्रसविष्यध्वमेष** कहा है अर्थात् यज्ञ के द्वारा उन्नति को प्राप्त हो, जो यज्ञ अर्थात् कर्तव्य कर्म के नियम हैं वह सभी अवस्थाओं के लिए है। सभी आश्रमों के लिए हैं। बालक, किशोर, युवक, प्रौढ़, वृद्ध, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास सभी के लिए कर्तव्य कर्मो का प्राविधान किया गया है। उन नियमों और प्राविधानों के अधीन चलने पर मनुष्य की उन्नति हो जाती है। बालक की उन्नति उसकी सद्शिक्षा से है। किशोर की उन्नति सद्मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा में है। युवक की उन्नति समय से नैतिक धन उपार्जन से है। प्रौढ़ की उन्नति अपने को धीरे–धीरे भगवान की ओर उन्मुख कर लेने से है। वृद्ध की उन्नति सांसारिक संलिप्तता का पूरी तरह से परित्याग करके श्री भगवान के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देने से है। ब्रह्मचारी की उन्नति धर्म शास्त्रों के अध्ययन से है। गृहस्थ की उन्नति अपने परिवार का भरण पोषण करने और सद्मार्ग पर चलने से है। वानप्रस्थ की उन्नति अपने को संसार से अलग कर परिवार और समाज का मोह छोड़कर पूरी तरह से भगवान को अर्पण करने से है। संन्यासी की उन्नति सभी मनुष्यों के कल्याण का चिंतन करते हुए एक मात्र परमात्मा में एकाकार होने से है। कर्तव्य कर्मो के आचरण से अर्थात् यज्ञ से उन्नति प्राप्त होगी इसमें अनेक **अनेन प्रसविष्यध्वमेष में जो**

भाव श्री भगवान ने कहे हैं उसका यही अर्थ स्पष्ट होता है।

प्रत्येक आश्रम के धर्मो का समावेश पूर्व में सृष्टि के आरम्भ काल में ही कर दिया गया था। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम तथा वनवानप्रस्थ और संन्यासी के धर्म का विस्तृत उल्लेख शास्त्रो में प्राप्त होता है उन धर्मो अर्थात् कर्तव्य कर्मो के पालन से धर्म की उन्नति होती है। इसे यज्ञ मानकर करना चाहिए। कर्तव्य कर्म मानकर उनका आचरण करना चाहिए। शास्त्रों में उल्लिखित विभिन्न आश्रमों के धर्म अर्थात् कर्तव्य कर्मो का अवलोकन करें।

(एक) ब्रह्मचर्य आश्रम :–

1– वेद शास्त्रों का अध्ययन तथा उनके अर्थो पर विचार करना।

2– आचार्य के साथ गुरुकुल में रहना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना।

3– प्रातः ब्रह्म मुहुर्त में उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर गुरु की पूजा करना तथा स्वाध्याय करना।

4– ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना।

5– नदी आदि के जल में स्नान करना।

6– प्राणायाम तथा गायत्री मंत्र का अनुष्ठान करना।

7– सूर्य, अग्नि, गुरू, ब्राह्मण, गाय, पंडितजन, तथा देवों का यथानुकूल पूजन करना।

8– अपने गुरू को ईश्वर का दूसरा स्वरूप समझना और उसकी आज्ञा पालन के लिए तत्पर रहना।

9– गुरूजन और अतिथिजन आदि के भोजन किये जाने के उपरान्त ही भोजन करना।

10– सांसारिक विषयों के बारे में कभी चिंतन न करना और उनसे दूर रहने का प्रयास करना।

11– समस्त प्राणियों की सेवा करना तथा कभी किसी के अहित के बारे में विचार न करना।

(दो) गृहस्थ आश्रम :–

1– परिवार के पालन पोषण हेतु श्रम करना तथा श्रम से उपार्जित धन का उपयोग करना।

2– सत्याचरण तथा अपने अधीनस्थों को उचित मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करना।

3– पुत्र, पुत्रियों, पौत्रादिकों को उचित शिक्षा देना।

4– पुत्र–पुत्रियों का विवाह सम्पन्न कराकर उनके यथायोग्य व्यवसाय की व्यवस्था करना।

5– अपने क्षमता के अनुकूल दान देना और समस्त महात्माओं की सेवा करना।

6– शास्त्रों और वेदों का स्वाध्याय करते रहना और उनके अर्थ पर विचार करना।

7– सत्य अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना।

8– भगवान की यथायोग्य पूजा उपासना आराधना करना।

9– अपने अधीनस्थ परिवारिकजनों और सगे सम्बंधियों के प्रति उचित व्यवहार करना।

10– अतिथियों की यथायोग्य सेवा करना और भिक्षुओं की सहायता करना।

11– गृहस्थ धर्म के पालन हेतु समुचित परिश्रम करना।

(तीन) वानप्रस्थ आश्रम के धर्म :–

1– खेतों में स्वतः उत्पन्न हुए अन्न का सेवन करना।

2– वृक्षों पर पके हुए फलों का सेवन करना।

3– अग्नि से पकाये हुए अन्न का त्याग करना।

4– नए फल फूलों का सेवन करना।

5– गांव से बाहर पर्ण कुटी बनाकर रहना।

6– परमात्मा के स्वरूप के चिंतन का प्रयत्न करना।

7– गर्मी शीत वर्षा वायु की प्रचंडता और उसके प्रवाह को सहन करने का प्रयत्न करना।

8– सांसारिक आसक्तियों का परित्याग करने का प्रयत्न करना।

9– जो कुछ सांसारिक वस्तुऐं एकत्र की गई हैं उनमें आसक्ति का परित्याग करना।

10– वृद्धावस्था के कारण शरीर में शक्ति के क्षीण होने के कारण ऐसे व्रतों का सम्पादन न करना जो शारीरिक क्षीणता उत्पन्न करते हैं।

(चार) संन्यास आश्रम के धर्म :–

संन्यास आश्रम एक विशिष्ट आश्रम है जिसमें मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करके एक मात्र परमात्मा के चिंतन में अपने को संलग्न करना चाहिए। स्थान, व्यक्ति वस्तु, स्थिति आदि की आसक्ति से अपने को पृथक् कर लेना चाहिए। यह समग्र संसार मायामय है और माया के द्वारा ही समग्र सांसारिक वस्तुओं का उद्भव हुआ है। ऐसा समझकर इस मायामय जगत से पृथक् होने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं का संचय और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयत्नशीलता तथा शेष वस्तुओं का परित्याग संन्यास धर्म के विशेष गुण हैं। परमात्मा को सर्वत्र देखना, समस्त जीवों में उसकी अनुभूति करना तथा सर्वत्र उपस्थित और व्याप्त परमात्मा का एकमात्र चिंतन करना संन्यासी का विशिष्ट धर्म माना जाता है। संन्यास धर्म में यदि हम संसार में आसक्त रहते हैं तो यह समझना चाहिए कि हम संन्यासी नहीं हैं। श्री गीताजी में संन्यासी की विशिष्ट परिभाषा दी गयी है, जो मनुष्य न तो राग करता है और न द्वेष करता है वह नित्य संन्यासी मानने योग्य है। वस्तुतः जब तक सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति रहती है तब तक द्वेष भी रहता है क्योंकि सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति को ही राग कहा जाता है और राग रहने पर द्वेष भी रहता है।

इस श्लोक के अंत में श्री भगवान ने यह कहा **वोऽस्तिवष्टकामधुक्** अर्थात् यज्ञ तुमको इष्ट कामनाओं को देने वाला हो। यज्ञ का एक उद्देश्य सांसारिक कामनाओं की पूर्ति विषयक है। पवित्र वेदों में तथा अनेक पौराणिक ग्रंथों में अनेक सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु ही अनेक यज्ञों के सम्पादन का उल्लेख है। हमारे पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथों में अनेक कथाऐं आती है कि अमुक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु यज्ञों का अनुष्ठान किया गया है। महाभारत में राजा द्रुपद का उल्लेख आता है। उन्होंने यज्ञ के द्वारा एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न की थी। राजा दशरथ ने भी अपने पुत्रों की उत्पत्ति हेतु यज्ञ किया था।

श्री भगवान का कथन है कि जो भी यज्ञादिक कर्म हैं वे कामनाओं की पूर्ति हेतु किये जाते हैं तो उनसे अपनी नैतिक और न्याय संगत कामनाऐं भी पूरी होती हैं तथा यह यज्ञ के माध्यम से संभव है। मनुष्य जो भी कामनाऐं करता है। उसके लिए वह प्रयत्न भी करता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिन कामनाओं के लिए प्रयत्न होता है उन कामनाओं की पूर्ति हमारे प्रयत्न से हो सके। इसलिए हमें यज्ञों पर आधारित रहना पड़ता है। किसी भी कामना की पूर्ति के लिए यज्ञों का अनुष्ठान होता है तो सम्यक् प्रकार से विधि विधान पूर्वक सम्पादित किए गए यज्ञों के द्वारा मनुष्य कामनाओं की पूर्ति निश्चित रूप से होती है। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

यह तो यज्ञादिक कर्मो से सम्पन्न यज्ञ का तथ्य है। यज्ञ का अर्थ कर्तव्य कर्म से लेने पर यह स्पष्ट समझना चाहिए कि हम जब किसी भी कार्य की इच्छा करते हैं तो उसके लिए कर्म करते हैं और पूरे लगन से कार्य करते हैं। जिस प्रकार यज्ञ के लिए यज्ञ के स्थल का चुनाव करते हैं यज्ञ हेतु आवश्यक द्रव्य, तिल, घृत, मिष्ठान तथा पात्र आदि की व्यवस्था करते हैं कुशल ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ कार्य सम्पन्न कराते हैं तथा मंत्र आदि के सहयोग से यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान होता है। इससे हमारी इष्ट वस्तु प्राप्त होती है। उसी प्रकार हम जब इस संसार में कर्तव्य कर्मरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं विधिवत् पूरी लगन से कार्य करते हैं। परिणामतः हमें सांसारिक वस्तुऐं प्राप्त हो जाती है। कर्तव्य कर्म भी यज्ञ की तरह से है जो हमारी इष्ट कामनाओं की पूर्ति का आधार है। भगवान के कथन **वोऽस्तिवष्टकामधुक्** का यह यह भी अभिप्राय है।

श्री भगवान ने आगे कहा **देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः** अर्थात् इस यज्ञ से मनुष्य देवताओं को पुष्ट करें और देवतागण मनुष्यों को उन्नति प्रदान करें। जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठान में सैकड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं उस प्रतिष्ठान में एक स्वामी होता है, प्रबन्धक होते हैं। कार्य का निरीक्षण करने वाले व्यक्ति होते हैं और श्रमिक होते हैं। यह अनेक व्यक्तियों के समुदाय से किसी भी प्रतिष्ठान का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। प्रतिष्ठान का स्वामी अर्थ की व्यवस्था करता है। उसका प्रबन्धक प्रबन्धन का कार्य देखता है। निर्देश देने वाले श्रमिकों को उचित निर्देश देते हैं और श्रमिकों के श्रम से उस प्रतिष्ठान में कुछ वस्तुओं का निर्माण होता है। वस्तुओं के निर्माण के लिए अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहता है। यदि कोई भी प्रतिष्ठान का कर्मचारी अपने दायित्व का उचित निर्वहन नहीं करता है तो प्रतिष्ठान का कार्य समुचित रूप से सम्पन्न नहीं हो सकता है।

प्रतिष्ठान का स्वामी इसके लिए प्रबन्धक और निर्देशकों तथा श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक देता है और लाभांश से उसे लाभान्वित करता है। इसमें स्वामी भी उन्नति को प्राप्त होता है जो सम्बंधित व्यक्ति है जिनसे प्रतिष्ठान का संचालन होता है उनको भी उन्नति प्राप्त होती है। अनेकों बार यह देखा जाता है कि एक छोटा प्रतिष्ठान अत्यंत विशाल स्वरूप ले लेता है। एक छोटे प्रतिष्ठान का विशाल प्रतिष्ठान के रूप में परिवर्तित हो जाना ही उन्नति कहा जाता है।

प्रतिष्ठान की तरह से ही ब्रह्मांड की समस्त व्यवस्था देवताओं के अधीन है। ब्रह्मा, शंकर, आदित्य, विश्वदेव, वसु, साध्यगण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, इन्द्र, वायु, यम, धर्म, आदि असंख्य देवतागण इस ब्रह्मांड की समस्त व्यवस्था का संचालन करते हैं और उन्हीं के अधीन हम सभी जीवित हैं। इस समग्र ब्रह्मांड की समस्त व्यवस्था अव्यक्त देवगणों के अधीन है। देवताओं को यज्ञादिक कर्मो के अनुष्ठान से उनका भाग प्राप्त होता है। प्रत्येक यज्ञ में प्रत्येक देवता का भाग होता है। ऐसा हमें वैदिक एवं पौराणिक तथ्यों में उल्लिखित तथ्यों से ज्ञात होता है। आपको एक घटना का स्मरण होना चाहिए कि जब माता पार्वती ने अपने पिता के यज्ञ में भगवान शंकर का भाग नहीं देखा तो उन्होंने स्वयं को अग्नि के स्वरूप में परिवर्तित कर लिया। इस प्रकार की अनेक पौराणिक कथाऐं भी आती हैं जिनमें प्रत्येक देवता के यज्ञ के भाग का उल्लेख होता है।

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ।

अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा।। 4/4/9।।

शंकर प्रिया भवानी का यज्ञस्थल में अपमान भी हुआ। भगवान शंकर के लिए उस यज्ञ में कोई भाग नहीं प्रदान किया गया था। दक्ष प्रजापति इस प्रकार भगवान शंकर का अपमान कर रहा था परिणामताः वह क्रोधित हुई वह अपनी क्रोधाग्नि में समस्त लोकों को भस्मीभूत कर देंगे, ऐसा आभास हो रहा था।

यज्ञ में समस्त देवताओं का भाग होता है। यज्ञादिक कर्मो में जैसी आहुति होती है वैसा परिणाम होता है। भगवान भृगु ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को भगवान शंकर के द्वारा विंध्वस किये जाने और उसकी रक्षा भृगु द्वारा तेजस्वी देवों को उत्पन्न किये जाने का वर्णन है।

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम्।

दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदितष्ठन्नुदायुधाः।।4/4/31।।

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान भृगुः।

यज्ञध्नहनेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह। 4/4/32।।

अध्वर्युणा ह्यमाने देवा उत्पेतुरोजसा।

ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्त्रशः।। 4/4/33।।

तैरलातायुद्यैः सर्वे प्रमथः सहगुह्यकाः।

हन्ममाना दिशो भेजरुशद्भिर्बहमतेजसः।। 4/4/34।।

शंकर प्रिया सती के मरण की चर्चा हो रही थी तब भगवान शंकर के पार्षदों ने सती का यह विचित्र प्राण परित्याग देखा तथा शस्त्रों से युक्त होकर दक्ष को मारने दौड़े। उन्हें अपनी ओर वेग से आता देख यज्ञ को विध्वंस करने वाले को विनिष्ट करने हेतु भगवान भृगु ने दक्षिणाग्नि में आहुति डाली। भगवान भृगु ने जैसी ही आहुति डाली उस यज्ञकुंड में ऋभु नाम के हजारों तेजस्वी देवगणों का प्राकट्य हो गया। वे परम तपस्वी ऋभुगणों को चन्द्रलोक प्राप्त था। ब्रह्मतेजस्वी देवताओं के प्रज्ज्वलित लकड़ियों से आक्रमण कर समस्त प्रमथगणों को यज्ञ मंडप से भगा दिया।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि देवताओं का यज्ञ में भाग होता है तथा यज्ञों में देवताओं को आवाहन करके उन्हें प्रकट किया जाए यह संभव है। देवताओं को यज्ञ में उनका भाग मिलेगा तो उनकी उन्नति होगी और देवतागण अपने भाग को पाकर याचकों को उनकी इष्ट वस्तु प्रदान करेंगे। वस्तुतः देवतागण यज्ञादिक क्रियाओं से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। यज्ञादिक क्रियाओं के अधिकतम संचालन से देवगण पुष्ट रहते हैं। इसे उनकी उन्नति कहा जाता है और जब देवगण प्रसन्न रहते हैं तो वे यज्ञ करने वाले व्यक्ति को उसकी इच्छित वस्तु दे देते हैं। क्योंकि देवताओं को अनेक शक्तियां प्राप्त हैं अर्थात् वे किसी व्यक्ति को किसी प्रकार लाभान्वित कर सकते हैं। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने **देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः** तथा **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ** अर्थात् परस्पर उन्नति को प्राप्त होंगे और परम श्रेय को प्राप्त करेंगे। ऐसा

कहा है।

भगवान ने प्रत्येक देवता की नियुक्ति की है और उसे अधिकार प्रदान किये है यह तथ्य उसी प्रकार समझना चाहिए कि जैसे अपने राष्ट्रपति की नियुक्ति की जाती है यह राष्ट्र का सर्वोच्च संवैधानिक पद है। उसके अधीन सभी कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री, मंत्रीगण तथा असंख्य अधिकारी उसके अधीन ही कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रदेशों में राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री और मंत्रीगण उसके अधीन कार्य करते हैं। यह सबकी सब संवैधानिक व्यवस्था संविधान के अधीन चलती रहती है। समग्र व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित रहे इसके लिए विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका की नियुक्ति की गई है। प्रत्येक पदाधिकारी के अधिकार और कर्तव्य संविधान द्वारा सुनिश्चित किए गए हैं। संविधान का निर्माण और उसमें संशोधन के अधिकार संसद को दिए गए हैं। इस व्यवस्था में विधायिका सर्वोच्च है जो अनेक प्रकार के नियमों का निर्माण करती है। न्यायपालिका भी संविधान के अधीन कार्य करती है तथा कार्यपालिका भी संविधान के अधीन कार्य करती है। यह एक राज्य की संक्ष्प्ति व्यवस्था है जो विधि के अधीन कार्य करती रहती है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विधि व्यवस्था है तथा संविधान है जो निरन्तर कार्य करता रहता है। यदि किसी भी प्रकार विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका में अव्यवस्था हो जाती है तो इसका दुष्परिणाम प्रकट होने लगता है। इसलिए विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका को सुव्यवस्थित रूप से संविधान के अधीन कार्य करने हेतु बाध्य किया जाता है।

परमात्मा की व्यवस्था भी राष्ट्र की व्यवस्था की ही तरह से है। वह सारे ब्रह्मांड का राष्ट्रपति है और उसी के अधीन इस संसार की व्यवस्था चला करती है। वस्तुतः परमात्मा की व्यवस्था को देख करके ही राष्ट्र की व्यवस्था का निर्माण हुआ है। परमात्मा की जो ब्रह्मांड को नियंत्रित करने की व्यवस्था है वह विशिष्ट है। इसमें प्रत्येक जीव की उत्पत्ति होती है उसकी स्थिति रहती हैं अर्थात् उसके भरण पोषण हेतु कार्य होता है और कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है। यदि मृत्यु न हो तो इस संसार में इतने जीव अर्थात् प्राणी हो जाए जिससे संसार की व्यवस्था अव्यविस्थत हो जाए। इसीलिए इस संसार में मृत्यु का प्राविधान किया गया है। काल का निरन्तर प्रयत्नशील रहना, सूर्य चन्द्र का समय पर प्रकट हो जाना, वर्षा का समय पर होना, वनस्पतियों की उत्पत्ति होना, वायु का संचरण, अपने कर्मानुसार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होना तथा कर्म के परिणाम का स्वतः प्रकट हो जाना यह सम्पूर्ण व्यवस्था परमात्मा के अधीन चलती है। यह परमात्मा की

विधि व्यवस्था है और उसके साथ ही उनकी दंड व्यवस्था भी है जो हमें संसार में प्रतीत होती है। मनुष्य में अनेक प्रकार के दुःख, शोक और रोग प्रकट होते हैं वह परमात्मा की दंड व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी के कर्मो का लेखा जोखा परमात्मा की व्यवस्था में रहता है। यह सब अत्यंत गोपनीय है अव्यक्त है प्रतीत नहीं होता है। परन्तु पारदर्शी है। इस व्यवस्था में कोई भ्रष्टाचार नहीं है। कोई अव्यवस्था नहीं है। यह सारी व्यवस्था व्यवस्थित रूप से धीरे–धीरे स्वतः चलती रहती है। परिणाम देती रहती है। इस प्रकार परमात्मा इस समग्र ब्रह्मांड की व्यवस्था को धारण किए हुए हैं।

किसी भी राष्ट्र की व्यवस्था में वहां का जनमानस सहयोग करता है। अधिकारी लोग उस व्यवस्था को संचालित करने में सहयोग करते हैं। श्री भगवान कहते हैं **देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः** अर्थात् यज्ञ से देवताओं की पुष्टि हो और देवगण मनुष्यों को उन्नति प्रदान करें। इस व्यवस्था के समझने के पश्चात् आप समझ गए होंगे कि मनुष्य तथा देवगण सृष्टि में एक दूसरे के पूरक हैं। परम श्रेय कैसे प्राप्त होगा ? यह जानना अवशेष है। परमश्रेय का अभिप्राय है मनुष्य जीवन का जो विशिष्ट उद्देश्य है उसे मुक्ति या मोक्ष कहा जाता है वह कैसे प्राप्त होगा ? इस तथ्य को भी समझना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु निश्चित है और उस मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की क्या गति होती है ? यह तथ्य अव्यक्त है। जिसे समझ पाना असंभव है। इसलिए हमें इस सम्बंध में शास्त्रों का अवलम्बन करना पड़ता है। शास्त्रों में उल्लिखित तथ्यों को मानना पड़ता है जो तथ्य शास्त्र में मृत्यु के पश्चात गति के सम्बंध में वर्णित किए गए हैं उनका अवलोकन कीजिए।

1– तमोगुण की अधिकता के कारण जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो मनुष्य को पशु, पक्षी, आदि योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

2– रजोगुण की अधिकता के कारण जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसे पुनः इस संसार में मनुष्य के रूप में प्रकट होना पड़ता है।

3– सात्त्विक गुण की अधिकता में मृत्यु हो जाने पर मनुष्य अपने शुभ कर्मो के पुण्य कर्मो के उपभोग के लिए स्वर्गादिक लोकों में चला जाता है।

4– शुद्ध सात्त्विकगुण में मृत्यु होने पर अर्थात् गुणों के पार जाकर त्रिगुणातीत स्थिति में जब मृत्यु होती है तो मनुष्य को परमधाम की प्राप्ति होती है वहां पर जाकर पुनः इस संसार में वापसी नहीं होती है तथा जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छुटकारा प्राप्त हो जाता

है।

मनुष्य लोक में वापसी तथा देवलोक में चले जाना यह श्रेय है। परमश्रेय नहीं है। क्योंकि मनुष्य योनि में साधन करने का अधिकार है। इस कारण मनुष्य अपने श्रेय के साधन का अर्थात् अपने कल्याण के मार्ग का प्रयास कर सकता है तथा देवलोकों में पहुंचना भी श्रेय कहा जा सकता है। परन्तु परमश्रेय नहीं है। परमश्रेय मात्र वही है जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है और इस संसार चक्र से अर्थात् मृत्यु व जन्म के बंधन से छुटकारा मिल जाता है।

देवताओं के लिए परमश्रेय का क्या अर्थ है ? इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। इस पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि देवताओं की भी अपनी स्थिति है। देव गणों की स्थिति के पतन के दो उपख्यान श्रीमद्भागवत् महापुराण में प्राप्त होते हैं।

1– जय विजय का सनाकादिकों द्वारा श्राप देने के कारण बैकुंठ लोक से पतन हो जाना। यह तथ्य द्वितीय स्कंध के 15वें अध्याय में वर्णित किया गया है।

2– चित्रकेतु का माता पार्वती के श्राप से असुर रूप में परिवर्तित हो जाना। इसका वर्णन छठे स्कंध के 17वें अध्याय में आता है।

इन घटनाओं से स्पष्ट है जिस प्रकार मनुष्य की कीट पशु पक्षी योनि में पतन हो जाता है और वह अपने श्रेय अर्थात् अपनी स्थिति से गिर जाता है। उसी प्रकार देवगण जब अपने कर्तव्य कर्म का पालन नहीं करते हैं तो वे भी अपने श्रेय अर्थात् अपनी स्थिति से नीचे गिर जाते हैं। उनकी अपनी स्थिति से ऊपर जाना श्रेय तथा परमात्मा की सान्निध्यता प्राप्त कर लेना परम श्रेय है। यद्यपि देवताओं को साधन का अधिकार नहीं है परन्तु वे इस मृत्यु लोक में आकर मनुष्य लोक में जन्म लेकर अपने श्रेय अर्थात् कल्याण का साधन कर सकते हैं।

मनुष्य देवताओं की पूजा उपासना से भी अपना श्रेय तथा परमश्रेय प्राप्त कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन में एक घटना का उल्लेख आता है कि गोस्वमी तुलसीदास को पहले किसी प्रेत ने दर्शन दिए। प्रेत ने उन्हें किम् पुरुष हनुमान जी से मिलवाया तथा हनुमान जी ने भगवान श्रीराम के दर्शन करवाये। परम भगवद भक्त हनुमान जी का दर्शन श्रेय है और भगवान श्रीराम का दर्शन परमश्रेय है। यह तथ्य भी यहां पर

स्पष्ट हो जाता है कि देवतागण मनुष्यों के परमश्रेय का साधन बन सकते हैं। देवगण जब यज्ञादिक कर्मो से अपना यथोचित भाग प्राप्त करते रहते हैं तो उन्हें श्रेय मिलता है। भगवान की कृपा के फलस्वरूप यदि कुछ विशिष्ट पद मिल जाता है तो यह उनका परमश्रेय है। भगवान कृपा करके श्रेय भी देते हैं और परम श्रेय भी देते हैं। इसलिए मनुष्य को परमश्रेय की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए और वह भी देवताओं के माध्यम से ऐसा श्री भगवान का कथन है।

अग्रिम श्लोकों में श्री भगवान ने देवताओं के द्वारा दी गयी वस्तुओं के उपभोग को सही बताया है और यज्ञ के अवशिष्ट भाग को ग्रहण करने से पाप का उन्मोचन होता है। इस तथ्य को स्पष्ट किया है।

मूल श्लोक संख्या–बारह व तेरह

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्त नप्रदायैभ्यो यो भुङक्ते स्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

पदच्छेद :–

इष्टान्, भोगान्, हि, वः, देवाः, दास्यन्ते, यज्ञभाविताः,
तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः, यः, भुङ्क्ते, स्तेनः, एव, सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः, सन्तः, मुच्यन्ते, सर्वकिल्बिषैः,
भुञ्ते, ते, तु, अघम्, पापाः, ये, पचन्ति, आत्मकारणात्।।

भावार्थ :– देवगण यज्ञ से उत्पन्न इष्ट भोगों को तुम्हे प्रदान करेंगे उनके द्वारा प्रदान की गयी वस्तुओं को अन्य लोगों को प्रदान किये बिना जो स्वयं ही खाता है वह चोर ही है। यज्ञ के अवशिष्ट के उपयोग से संतजन समस्त पापों से उन्मोचित अर्थात् छूट जाते हैं

परन्तु जो अपने कारण ही अर्थात् मात्र अपने लिए ही पकाते हैं अर्थात् उपभोग करते हैं वे पापात्मा तो पाप को ही भोगते हैं अर्थात् खाते हैं।

व्याख्या :– आपने कृषकों को खेतों में बीज बोते हुए देखा होगा। वर्तमान में कृषि कार्य के लिए अनेक नवीन साधनों का अविष्कार हो चुका है। इन अविष्कारों के पूर्व कृषक हल तथा बैलों से खेत जोतता था बड़ा परिश्रम करता था। प्रातः काल ब्रह्ममुहुर्त में जागना, हल को लादकर बैलों के साथ खेत जाना, वहां पर हल तथा बैलों के माध्यम से खेत जोतना, खेत जोतकर उसमें गेहूं बोना, गेहूं बोने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ता था। यह यज्ञरूप श्रम था। इसे यज्ञ कहेंगे तो यज्ञ की प्रतिष्ठा होगी। जब बीज बोया जाता था तो समयान्तर में अर्थात् कुछ अवधि के उपरान्त उसमें गेहूं के छोटे–छोटे पौधे निकलते थे। उन पौधों को देखकर वह यज्ञकर्ता कृषक बहुत प्रसन्न होता था। उसने इस यज्ञ में जो श्रमरूपी आहुति डाली है वह फलीभूत हो रही है। धीरे–धीरे समय के साथ गेहूं का पौधा बढ़ता है। उसमें से बाली निकलती है। देवतागण गेहूं की बाली के रूप में श्रमरूपी यज्ञ से उत्पन्न इष्ट भोग प्रदान कर रहे हैं। भगवान इसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु कहते हैं कि **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः**।

आपने गांव में पानी से भरे खेतों में अनेक श्रमिकों को धान की बेड़ लगाते हुए देखा होगा। पानी भरे खेत में कीचड़ से युक्त खेत में जहां पर हम जाना नहीं चाहते वहां पर श्रमिक धान की बेड़ लगाने रूपी यज्ञ को सम्पन्न करते हैं। धूप में भूखे प्यास यज्ञ सम्पन्न हो रहा है। इसमें महिला श्रमिक भी कार्य करती हैं और वे यज्ञ सम्पन्न करती हैं। कुछ दिनों पश्चात् उसी खेत में धान के पौधे निकलते हैं। समयान्तर में धान की बाली निकलती है। सुनहरी बाले जिनमें धान के गुच्छे लगे होते हैं। इसमें देवगणों ने महिलाओं के श्रमरूपी यज्ञ से प्रसन्न होकर एक धान के बदले सैकड़ों धान उत्पन्न कर दिए। यह अद्भुत है, आश्चर्यजनक है। यह देवताओं की सामर्थ्य है जिन्होंने इतना चमत्कार कर दिया। हरे भरे सुन्दर धान के गुच्छे प्रकट कर दिए। श्रमरूपी यज्ञ को इष्ट भोग में परिवर्तित कर दिया। यह देवताओं की कृपा है और उनका प्रसाद है जो धान के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हो रहा है। एक ही धान से अनेक धानों का प्रकट होना और ऐसी क्रिया का होना जिससे एक धान कई गुना होकर प्रकट हो रहा है। यह विशिष्ट है यह देवगणों की कृपा है यह उनका कार्य है वे फसलों को पुष्ट करते हैं, अग्नि अर्थात् धूप, जल, पृथ्वी, हवा, आकाश, यह सब देवगण इस कार्य में सहयोग करते हैं। बिना उनके सहयोग से यह

प्रकट नहीं होता। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।**

अनेक शहरों में सुन्दर भवन, भवनों में अनेक सुन्दर सुन्दर उपवन बगीचे आपने देखे होंगे। उन उपवनों को देखकर यह मन करता है कि उनकी सुन्दरता और उनकी आश्चर्यचकित करने वाली छटा को हम देखते रहे। यह कैसे हुआ ? इतना सुन्दर उपवन कैसे प्रकट हो गया ? इस तथ्य पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि कुछ श्रमिकों ने इस उपवन को व्यवस्थित किया है। इस उपवन को व्यवस्थित करने में श्रम का उपयोग किया है। यह सब सहजतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि एक एक श्रमिक ने कितना श्रम किया होगा ? किसी पेड़ को तरासने में उसको व्यवस्थित करने में अनेक कुशल कारीगरों ने कितना कार्य किया होगा ? यह उपवन को व्यवस्थित करने में जो श्रम हुआ वह यज्ञ के रूप में है। यज्ञरूपी श्रम तो श्रमिकों ने किया और उसके परिणाम में सुन्दर उपवन देवताओं ने उत्पन्न कर दिया। समग्र देवताओं ने उसमें ऐसे ऐसे पुष्प उत्पन्न कर दिए जिनकी छटा देखते ही बनती है। इस प्रकार मनुष्य के श्रम से, देवताओं की कृपासे यह उपवन प्रकट हो गया। व्यक्त हो गया। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।**

गुलाब के सुन्दर पुष्प को आपने देखा होगा जिसमें जो सुर्ख लाल रंग है व देवताओं द्वारा प्रदान किया गया है। अनेक प्रकार के गुलाब अन्य पृथक्–पृथक् रंगों में जो प्रकट हो जाते हैं वे सब श्रमरूपी यज्ञ के कारण तो होते हैं परन्तु उनमें रंग भरना यह देवताओं का कार्य है। देवताओं ने इस सुन्दर पुष्प को रंग प्रदान किया है महक प्रदान की है। पुष्प का जो लाल रंग है उसके पौधों में जो हरा रंग है वह पृथ्वी के भाग से आता है। अदृश्य रूप से प्रकट हो जाता है। पुष्प जो अदृश्य था वह दृश्य हो जाता है। यह सब देवताओं द्वारा प्रदान किया जाता है। पुष्प की तरह जगत में अनेक वस्तुऐं हैं जो देवताओं द्वारा प्रदान की जाती हैं। जिनसे मनुष्य के इन्द्रियों की तृप्ति होती है। हम अनेक प्रकार की वस्तुऐं जो ग्रहण करते हैं जिनसे हमारा जीवन चलता है। वे सब देवताओं के द्वारा ही प्रदान की जाती है। वे अनायास प्राप्त नहीं होती। एक से एक बढ़कर सुन्दर व्यंजन जो बनाये जाते हैं वे अनेक प्रकार की वनस्पतियों से बनते हैं। वे वनस्पतियां श्रम से उगती है। श्रम के उपरान्त देवतागण उन्हें प्रकट करते हैं। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।**

पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु ये पांच महाभूत हैं। ये सभी देवताओं के स्वरूप में हैं। पृथ्वी पर नाना प्रकार की वनस्पतियां उत्पन्न होती है। जिनसे समस्त प्राणियों का जीवन चलता है। अनेक प्रकार की उपज तथा उससे सम्बंधित अनेक **तत्त्व** पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं। लोहा आदि अनेक प्रकार की धातुऐं, खनिज सभी कुछ हमें पृथ्वी से प्राप्त होता है। पृथ्वी का उपयोग हम निवास के रूप में करते हैं। इसलिए पृथ्वी हमारा आश्रय स्वरूप है। पृथ्वी हमें मां की गोद की तरह से आश्रय प्रदान करती है। हम उनकी सहायता से ही भोजन करते हैं। पृथ्वी का यह कार्य सभी के हित के लिए है। वह अपने लिए कुछ नहीं करती है। वह हमें देती है प्रत्येक वस्तु हमें प्रदान करती है। इसके बदले में हमसे कुछ लेती नहीं है। हमें श्रम करना है अर्थात् यज्ञ करना है परन्तु श्रमरूपी यज्ञ से जो कुछ उत्पन्न होता है उसका वह स्वयं ग्रहण नहीं करती। वरन् हमें दे देती है। **देवा दास्यन्ते** का यही अर्थ स्पष्ट होता है। यह पृथ्वी रूपी देव हमें सब कुछ देते हैं और उसके बदले में कुछ लेते नहीं है। यह विशिष्ट कार्य है। श्री भगवान इसको स्पष्ट करने के लिए ही **देवा दास्यन्ते** कहते हैं।

दूसरे देव जल के बारे में विचार करें तो पायेंगे कि जलरूपी देव की हमारे जीवन में अनिवार्य उपयोगिता है। इसीलिए हम जो कहते हैं कि जल ही जीवन है। ऐसे वाक्यों का निर्माण इसीलिए हुआ है कि जल के बिना जीवन असंभव है। इस वाक्य के प्रतिकूल भाव में हम जब जायेंगे तो यह पायेंगे कि जल के बिना जीवन नहीं है। जल नामक देव ही हमारे शरीर में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहता है। जल **तत्त्व** की कमी होने पर हमारा जीवन खतरे में पड़ जाता है। जल से हम स्वच्छता बनाये रखते हैं तथा जल के सहयोग से ही अनेक प्रकार की औषधियां उत्पन्न होती हैं। इसलिए जीवन की स्थिति रखने के लिए जल का सहयोग अनिवार्य है। **देवा दास्यन्ते** का यही अर्थ है।

तीसरे देव अग्नि के विषय में जब हम विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि अग्नि नामक **तत्त्व** ने दूसरों के लिए प्रकाश गर्मी, उष्मा, उर्जा, आदि निस्वार्थ भाव से प्रदान की है। अग्नि के अभाव में हम जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। अग्नि नामक **तत्त्व** ही हमारे शरीर को उष्मा और उर्जा प्रदान किये रहता है। पाचन क्रियाओं का सम्यक् रूप से सम्पादित होना, भोजन का मल के रूप में परिवर्तित हो जाना, रक्त का निरन्तर शरीर में प्रवाहित होते रहना, शरीर के तापक्रम को नियंत्रित रखना। अग्नि नामक **तत्त्व** के कारण ही संभव हो पाता है। अग्नि नामक **तत्त्व** के बिना हम अपने सांसारिक जीवन की

परिकल्पना भी नहीं कर सकते। अग्नि से ही हमें उष्मा प्रकाश और उर्जा मिलती है। यज्ञ का प्रमुख भाग वन हमारे पर्यावरण को सुरक्षित करती है। सूर्य भी अग्नि नामक **तत्त्व** के आधार पर ही हमें उष्मा और उर्जा देता है। इसलिए श्री भगवान कहते हैं **देवा दास्यन्ते।** चौथे **तत्त्व** वायु के विषय में जब विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि वायु ही हमारे जीवन का आधार है। प्राण, अपान आदि पांच प्रकार की वायु हमारे जीवन को बनाये रखती है। वायु के अभाव में हमारा जीवन कुछ क्षण में ही समाप्त हो जाएगा। अर्थात् जीवन नहीं चलेगा। वायु का गुण स्पर्श है और कार्य गुण शोष्य है। इस गुण के कारण ही आद्रता का समापन होता है। संसार में आद्रता न रहे इसमें प्रमुख कारण अग्नि और वायु होती है। वायु हमें जीवन का आधार देती है और उसी कारण हम जीवित हैं। इसलिए वायु रूपी **तत्त्व** समस्त प्राणियों में व्याप्त है। वायु नामक देव भी हमारे शरीर में और इसके बाहर रहता है तथा हमें जीवन प्रदान करता है। इसी कारण श्री भगवान कहते हैं **देवा दास्यन्ते।**

आकाश पांचवा **तत्त्व** है। आकाश नामक देवता का गुण शब्द है। आकाश के कारण ही हमारी समग्र चेष्टाऐं होती हैं। यदि हम कुछ शब्द नहीं सुनते तो चेष्टा भी नहीं होती। आकाश नामक देव ने हमें अपना गुण शब्द प्रदान किया है। सबके हितार्थ प्रदान किया है। शब्द हमारा इष्ट भोग है। आकाश नामक **तत्त्व** से हम जीवित हैं। आकाश हमें अवकाश प्रदान करता है। जब इस संसार में रिक्तता न होती अर्थात् पोलापल न होता जिसे अवकाश कहते हैं तो हम अपना कोई भी कार्य करने में सफल न होते । इन्हीं देवताओं के क्रम में यम, कुबेर, ब्रह्मा, विष्णु आदि के बारे में समझना चाहिए। प्रत्येक देवता के अपने कार्य हैं और हम शुभ कर्मो के परिणाम में पुण्य लोकों में जो गमन करते हैं और अशुभ कर्मो के परिणाम जो नरकादिक योनियो में जाते हैं वे सम्पूर्ण व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं। ब्रह्मा हमारी उत्पत्ति करते हैं, विष्णु हमारी स्थिति बनाये रखते हैं। शंकर हमारी ज्ञान की व्यवस्था करते हैं। यह सब इष्ट भोग हैं। जो मनुष्यों को देवगण प्रदान करते हैं। इसलिए **देवा दास्यन्ते** ऐसा श्री भगवान कहते हैं। अर्थात् देवगण ही हमें सब कुछ प्रदान करते हैं। देने वाली शक्ति देवगण ही हैं। यह तथ्य **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः** कहकर श्री भगवान ने स्पष्ट किया है।

श्री भगवान ने आगे कहा **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः** अर्थात् देवताओं को दिए बिना जो सांसारिक वस्तुओं को स्वयं भोगना चाहता है अर्थात् स्वार्थपरक बुद्धि से कार्य करता है वह निःसंदेह ही चोर है। किसान कर्म करता है तथा खेत जोतकर बोकर

उसमें खाद पानी देकर फसल उगाने का कार्य करता है। उसके परिश्रम का परिणाम अर्थात् फल अन्न के रूप में देवतागण उसे देते हैं। परिश्रम तो कृषक करता है परन्तु परिणाम देवगणों की कृपा से मिलता है। देवताओं के सहयोग के बिना फसल विकसित नहीं हो सकती। उसमें पुष्टता का प्रकट होना असंभव है। श्रम तथा देवगणों की कृपा अन्न के रूप में फलदायी हुई है। परिश्रम किया गया तब देवताओं की कृपा से अन्न रूपी फल प्राप्त हुआ। इसके विपरीत यदि कोई परिश्रम नहीं करता है और वह अन्न का उपयोग करना चाहता है। कर लेता है तो उसे निःसंदेह ही चोर कहा जाएगा। श्रम के अभाव में फल नहीं मिलेगा यह नियम है। श्रम के अभाव के पश्चात् यदि कोई फल चाहता है तो वह चोर ही ठहराया जाएगा। श्रम नहीं किया गया इस कारण उस मनुष्य को श्रम का परिणाम देवताओं ने नहीं दिया और वह बिना दिए हुए ही फल भोगने को उद्धत होता है तो ऐसे व्यक्ति को चोर की संज्ञा दी जाएगी।

बहुत से राजकीय कर्मचारी समय से अपना कार्य नहीं करते। समय से कर्तव्य का पालन नहीं करते। अपना उत्तरदायित्व ठीक ढंग से नहीं निभाते परन्तु इसके बावजूद भी उन्हें श्रम के लाभ के रूप में उनका पारिश्रमिक प्राप्त हो जाता है। श्रम के बिना अथवा उचित उत्तरदायित्व निभाये बिना जो पारिश्रमिक है वह अवैध और अनैतिक है। देवताओं द्वारा नहीं दिया गया है। बिना उत्तरदायित्व के पालन के जो धन प्राप्त होता है वह निश्चित ही चोरी के स्वरूप में है और ऐसे किसी व्यक्ति ने जो धन प्राप्त किया है वह भी चोर है। यही श्री भगवान के द्वारा प्रकट किए गए शब्दो **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङक्ते स्तेन एव सः** का अभिप्राय है। श्रम विहीन धन तथा अन्न चोरी का ही है। ऐसा उपभोग करने वाला निश्चित ही चोर है। ऐसा श्री भगवान का कथन है।

आज के समाज में आपने अनेक नवयुवकों को देखा होगा जो अध्ययन छोड़ चुके हैं। पूरे दिन कोई कार्य नहीं करते। कार्य न करने के कारण अनावश्यक और असामाजिक कर्मो में संलग्न हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति दिन भर यही विचार करते रहते हैं कि किस प्रकार बिना कार्य किये ही अधिक धन प्राप्त हो जाए और जीवन सुख चैन से बीत जाए तथा अनेक प्रकार के सांसारिक भोग स्वतः ही प्राप्त हो जाऐं। यही भावना ऐसे व्यक्तियों को असामाजिक कार्य की ओर उन्मुख कर देती है। कुछ कार्य न करना बेकार बैठना तथा यह विचार कि बिना कार्य किये ही धन प्राप्त हो सकता है। यह विचार अनैतिक है। इसी की ओर श्री भगवान की दृष्टि है। उनका कहने का यही भाव है जो बिना श्रम किये हुए

श्रम का परिणाम चाहते हैं वह निश्चित ही चोर हैं। क्योंकि श्रम का परिणाम देवताओं की ओर से आता है। प्रकृति की ओर से आता है जो परिणाम की व्यवस्था करती है। ऐसे अनायास नहीं आता है। अनायास इस जगत में कुछ नहीं होता। बिना प्रयास के कुछ प्राप्त भी नहीं होता। प्रयास को ही कर्म कहा जाता है और जब प्रयास होता है तो उसका परिणाम आता है और प्रयास के प्राप्त परिणाम का उपभोग नैतिक है और बिना प्रयास के परिणाम प्राप्त करने का भाव और प्राप्त करने का प्रयास यह सब अनैतिक है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।** देवताओं की पूजा उपासना करना एक प्रकार का यज्ञ है। श्रेष्ठ यज्ञ का स्वरूप है। विधि विधान से जो पूजा उपासना की जाती है वह फलीभूत होती है। इस समय समाज में पूजा उपासना का क्रम अधिक है। सकाम पुरुष देवताओं की उपासना अतिशय प्रियता से करते हैं और यह भाव रखते हैं कि उन्हें वांछित वस्तुऐं प्राप्त हो जाऐं। यज्ञों का अनुष्ठान विधिवत् हो तो फल भी निश्चित होता है। उस पर देवताओं की कृपा रहती है। किसी भी देवता की पूजा उपासना किए बिना यदि कोई व्यक्ति फल की आकांक्षा करता है फल प्राप्ति का प्रयास करता है तो यही चोरी की मानसिकता वाला भाव है यदि उसे किसी प्रारब्धवश कोई फल प्राप्त भी हो जाए तो वह उसका उपयोग कर ले तो वह निश्चय ही चोर है। फल उपासना अर्थात् यजन पूजन के पश्चात् ही प्राप्त हो और उसे श्रम के उपरान्त भोगा जाए तो वह विधि अनुकूल है और बिना श्रम के भोगा जाए तो वह विधि प्रतिकूल है। चोरी के भाव वाला है। यह कृत्य करने वाला निःसंदेह चोर है। ऐसा श्री भगवान का अभिप्राय और भाव है।

श्री भगवान ने बारहवें श्लोक में यह स्पष्ट कहा है कि यज्ञ से अर्थात् श्रम से इष्ट भोग अर्थात् पारिश्रमिक के रूप में वांछित वस्तु उत्पन्न होगी। क्योंकि श्रम के उपरान्त ही देवगण वांछित वस्तुऐं अर्थात् भोग आदि देते हैं। श्रम से विहीन व्यक्ति को यह भोग प्राप्त नहीं हो सकते। यदि श्रम नहीं किया गया और देवताओं ने इष्ट वस्तु नहीं दी तो यह नियमानुकूल है और यदि उनके दिए हुए ही आपने उन सांसारिक वस्तुओं का उपभोग किया तो आप निश्चय ही चोर की श्रेणी में आ जायेंगे। चोर कहे जायेंगे। इस कारण मनुष्य को नैतिक रूप से सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए कर्म करना चाहिए और उससे उत्पन्न इस वस्तु को भोगना चाहिए। ऐसा श्री भगवान का कथन है।

हम सभी के इस जन्म के पूर्व भी हजारों जन्म हो चुके हैं। परन्तु जो इस जन्म में मनुष्य योनि प्राप्त हुई वह सब भगवान की अतिश्रय कृपा के फलस्वरूप हमें प्राप्त हुई है।

हम सब कभी नारकीय योनियों में भी रहे होंगे। जब जब हम पर भगवान की विशेष कृपा हुई तब हमें मनुष्य योनि प्राप्त हुई। हमने अपनी मनुष्य योनि में सत्कर्म भी किए और दुष्कर्म भी किए। सत्कर्म के फलस्वरूप भगवान ने पुनः मनुष्य योनि में भेजकर हमें एक अवसर प्रदान किया कि हम सत्कर्म करें। यह हमारा अभीष्ट कर्म का अभिप्राय है। पूर्व जन्मों के दुष्कर्मो के फलस्वरूप जो पाप संचित हुए वह भी हमारे खाते में पड़े हुए हैं। भगवान ने उसे **सर्वकिल्बिषैः** कहा है। उसका स्पष्ट संकेत हमारे संचित पाप कर्मो की ओर है अर्थात् जो कर्म संचित हैं और जो दुष्कर्मो के परिणाम के रूप में संचित है और उनका यदि परिणाम प्रकट नहीं हुआ है। वे भी **सर्वकिल्विषैः** में आते हैं। उनसे छुटकारा प्राप्त करना है अर्थात् अनेक जन्मों के संचित पाप कर्मो से हमें कैसे मुक्ति मिलनी है ? इस तथ्य का विशेष वर्णन इस स्थल पर किया गया है।

वैसे पाप कर्मो के उन्मोचन के कई उपाय हैं। पृथक्–पृथक् प्रकार के मनीषियों ने पापों के उन्मोचन हेतु अर्थात् उनसे छूटने के लिए पृथक्–पृथक् उपाय बताऐं हैं। भक्तियोग के आचरण में भक्तियोगी भगवान की भक्तिरूप की क्रिया से अपने समस्त पाप भस्म कर डालता है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि में ईंधन का समूह नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भक्ति प्रज्ज्वलित अग्नि में समस्त प्रकार के पापों की राशि भस्म हो जाती है। कर्मयोगी कर्मयोग के आचारण से पापों को विनिष्ट करता है। ज्ञानयोगी ज्ञानयोग के आचरण से पापों को भस्म करता है। भक्तियोग कर्मयोग, ज्ञानयोग के पृथक्–पृथक् मार्ग हैं प्रत्येक अपने मार्ग के आचरण से पापों को विनिष्ट करने का कार्य करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दुष्कर्म अवश्य रहते हैं। जिनके परिणाम स्वरूप पाप संचित रहता है। जिस प्रकार सामान्य जल में कुछ न कुछ गंदगी अवश्य रहती है। इसी कारण हम उसे शुद्ध करके ग्रहण करते हैं। ऐसे यंत्रों का प्रयोग करते हैं कि वह शुद्ध हो। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के जीवन में पापों का संचय अवश्य रहता है। आयुर्वेद के एक सिद्धान्त का उल्लेख प्रसंगवश हो रहा है। आयुर्वेद में यह प्रश्न किया गया कि व्याधियां क्यों होती है ? उसके उत्तर में यह कहा गया कि हमारे अपने कर्मो के कारण होती है। इसका अभिप्राय यह है जो कोई व्यक्ति किसी व्याधि अर्थात् रोग से आच्छादित है। वह पूर्वकालिक कर्म के कारण है। हम औषधि लेते हैं उससे लाभ हो जाता है। सामान्यतः हम ठीक हो जाते हैं। कभी कभी उसी रोग के लिए जो निश्चित औषधि होती है वह हमें लाभ नहीं करती है अर्थात् रोग को निवारित नहीं करती है। इसका क्या कारण है ? इसका

उल्लेख करते हुए आयुर्वेद ने यह कहा कि औषधि का जो प्रभाव है उसको देवतागण हर लेते हैं। अर्थात् समाप्त कर देते हैं। अर्थात् औषधि की शक्ति का जो रोग के निवारण के लिए होती है वह देवताओं के द्वारा नष्ट की जाती है। इस कारण रोग ठीक नहीं होता है। यह हमारे पाप का परिणाम है। जब पाप समाप्त हो जाते हैं तो हमारा रोग भी स्वतः समाप्त हो जाता है।

मनुष्य के जीवन में पाप संचित रहते हैं। अपने कर्मो के आधार पर वे घटते बढ़ते रहते हैं। जिस प्रकार हम धन का संचय करके अपने पास अधिक मात्रा में धन एकत्र कर लेते हैं और जितना खर्च करते हैं उसके पश्चात् जो शेष संचय रहता है वैसे ही पाप के संचय को समझना चाहिए। उसका क्षय अर्थात् पाप कर्मो का क्षय सत्कर्मो के आधार पर होता है। सत्कर्म ही हमारे पाप के संचय को धीरे–धीरे समाप्त करते हैं और जब हम दुष्कर्म करते हैं तो पाप के संचय में वृद्धि होती है और जब सत्कर्म करते हैं तो उनके प्रभाव से पाप का परिणाम दब जाता है। यह कर्म निरन्तर चला करता है। इसी तथ्य को एक साधक जानकर पाप कर्मो के परिणाम को समझकर मात्र सत्कर्मो का आचरण करता है। पापों के संचय को उसके ढेर को विनिष्ट करता जाता है। उच्च स्तर के साधक कर्मो के परिणाम को प्रत्यक्ष जान जाते हैं तथा उनका अर्थात् पाप कर्मो का रहस्य भी उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होता है। जिस प्रकार हम धन के संचय को उसकी मात्रा को सहजतापूर्वक जान लेते हैं कि हमारे पास कितना धन है ? उसी प्रकार अच्छे स्तर के साधक अपने पाप के संचय की मात्रा को जान जाते हैं और उसे अपनी उपासना से भस्म करने का भरसक प्रयास करते हैं।

यज्ञ के अवशिष्ट के उपभोग से पाप समाप्त होते हैं। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै।** अर्थात् यज्ञ से बचे हुए अन्न को ग्रहण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसा कहा है। यह तथ्य रहस्यप्रद है। मनुष्य क्षण प्रतिक्षण कर्म करता है। श्रम करता है। दुष्कर्म में भी श्रम विशेष होता है। ऐसा नहीं है कि चोरी, अपहरण, डकैती, लूट में श्रम नहीं है। इन दुष्कर्मो के पश्चात् ही मनुष्य को धन प्राप्त होता है। उस प्राप्त धन का उपभोग वह अपने सुख के लिए करता है। अपने सम्पर्कित लोगों के लाभ के लिए करता है। एक धनी व्यक्ति जिसे महीने में लाखों रूपये की प्राप्ति होती है। वह उचित रूप से कर भी अदा करता है परन्तु कर की चोरी के लिए उसे बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। खातों को व्यवस्थित करने के लिए

उसे अनेक विशेषज्ञों का परामर्श लेना पड़ता है। इसी प्रकार हम श्रम करते हैं। कर्तव्य कर्म का आचरण करते हैं उसके पश्चात् हमें जो लाभ होता है वह यज्ञ का अवशिष्ट है। जैसे यज्ञ होता है उसमें जो प्रसाद होता है। वह एक व्यक्ति ग्रहण नहीं करता है। यज्ञ का अवशिष्ट अर्थात् प्रसाद सबमें वितरित किया जाता है। एक ही व्यक्ति द्वारा उपभोग कर लेने का शास्त्रीय विधान नहीं है। सभी को वितरित करने का विधान है। प्रसाद सभी ग्रहण करते हैं। अर्थात् यज्ञ के अवशिष्ट को सभी प्राप्त करते हैं। यह मान्यता है कि यज्ञ के प्रसाद से पापों उन्मोचन होता है। यह एक स्वरूप है। यज्ञ के अवशिष्ट से पापों का शमन होता है और समापन होता है। शास्त्रसंगत यज्ञों से और नैतिक श्रम के सम्पादन से जो अवशिष्ट अर्थात् धन प्राप्त होता है उसे ग्रहण करने का शास्त्रीय विधान है। आपने अनेक संस्थाओं में धर्म के लिए कुछ धन देते हुए देखा होगा। वे अपने आप ही तथा स्वतः ही कुछ धन धर्म के लिए देते रहते हैं। इससे धर्म का आचरण स्वतः हो जाता है। यह आय रूपी यज्ञ का धर्म रूपी अवशिष्ट है। इस प्रकार के अवशिष्ट को ग्रहण करने से पापों का उन्मोचन होता है। इसी प्रकार के कृत्य कई शास्त्रज्ञ लोग करते हैं। आज के समाज में इसी तथ्य की कमी है। व्यक्ति श्रम तो करता है परन्तु उस श्रम में कुछ अवांछनीय और अशासकीय लाभ प्राप्त करना चाहता है। उस धन का उपभोग पूरी तरह से स्वयं के लिए करना चाहता है। सब कुछ स्वयं के लिए उपभोग करने की जो प्रवृत्ति है वह इस तथ्य के प्रतिकूल है इस प्रकार पापों की वृद्धि हो जाती है। इस कारण हमें प्रथमतः तो कर्तव्य कर्म करना चाहिए और उचित श्रम से शास्त्रीय कर्म से धन को कमाने का कार्य करना चाहिए। भगवान की कृपा से जो कुछ मिल जाए उसे लोगों के हितार्थ कल्याणार्थ ही खर्च करना चाहिए यही यज्ञ के अवशिष्ट से पापों के उन्मोचन का सिद्धान्त है।

यज्ञ के अवशिष्ट से समस्त पाप उन्मोचित हो जाते हैं। यह तथ्य विशिष्ट भाव वाला है कुछ पापों का उन्मोचन होना तथा समस्त पापों का उन्मोचन होना यह दो पृथक्–पृथक् प्रकार के तथ्य हैं। एक व्यक्ति प्रातः से सायंकाल पूजा उपासना करके भगवान का स्मरण करता है। एक व्यक्ति समय मिलते ही भगवान की पूजा उपासना करता है। कोई कोई व्यक्ति प्रातः और सायंकाल पूजा उपासना करते हैं। कुछ लोग नियम बनाकर नहीं करते हैं जो व्यक्ति सदैव भगवान के स्मरण में लीन रहता है उसकी स्थिति पृथक् प्रकार की है अर्थात् भगवान के स्मरण की पृथक्–पृथक् स्थितियां हैं। नित्य निरन्तर स्मृति रहती है। भगवान के स्वरूप के चिंतन में तब अनन्यता आ जाती है वह स्थिति विशिष्ट है उसी की

महत्ता है। पूजा की औपचारिकता तो बहुत से लोग निभाते हैं। हम जब किसी कार्य में जितना व्यस्त होते हैं उतना ही कार्य करते हैं। हम निरन्तर यात्रा करते हैं तो अधिक दूरी तय कर लेते हैं और जब हम विश्राम आदि करने लगते हैं तो कम दूरी तय कर पाते हैं। समस्त पापों के उन्मोचन हेतु हमें निरन्तर यज्ञ के अवशिष्ट को ग्रहण करना पड़ता है। अर्थात् नैतिक कर्म करना पड़ता है और उस श्रम से जो कुछ प्राप्त होता है वह मात्र स्वयं के लिए नहीं वरन् सभी के लिए उपलब्ध रहे यह भावना रखनी पड़ती है, अथवा परमात्मा का नित्य निरन्तर चिंतन करना पड़ता है तभी हम समस्त पापों से मुक्त हो पाते हैं।

हमारे कर्तव्य कर्मो से जो धन उत्पन्न होता है उसका उचित उपयोग होना यह विशिष्ट है। प्राणीमात्र के लिए उसका प्रयोग होना यह नैतिक है। हमारे श्रम से उत्पन्न धन में प्राणीमात्र का अधिकार है। उसे उसका अधिकार दें दें। प्रत्येक प्राणी को उसका भाग दे दे अवशेष जो बचे उसका हम उपभोग करें तो यह यज्ञ से अवशिष्ट का उपभोग है। वास्तविक तथ्य यह है कि जितने भी प्राणीमात्र हैं वह सब भी परमात्मा के अंश से हमारी तरह चेतन हैं। वे सबके सब सहधर्मिता से हमारे स्वरूप हैं। इस कारण हमारा समस्त प्राणी मात्र से सम्बंध है। निश्चित सम्बंध है। जहां सहधर्मिता का भाव होता है वहां पर स्नेह भाव रहता है और जब स्नेह भाव होता है तो हम उसके अर्थात् स्नेही के प्रति बहुत कुछ समर्पित करते हैं। हमारा बालक जब बीमार हो जाता है तो हम सब काम छोड़कर उसके निरोगी होने के लिए प्रयास करने लगते हैं। चिकित्सक के पास जाते हैं। हमारी संवेदना और हमारा प्रयास सम्बंध के कारण है। यदि पुत्र का सम्बंध न होता तो हम इतने संवेदनशील नहीं होते। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि हमारी संवेदनशीलता सम्बंध के कारण ही है। वैसी ही संवेदना अन्य किसी बीमार के प्रति हो जाए, अर्थात् अन्य किसी रोगी के प्रति रहे तो यह विशिष्ट भाव है। परिचित होने पर हम औपचारिकता निभाते हैं और अपरिचित रोगी के प्रति हम उदासीन भाव रखते हैं, अर्थात् उसकी ओर से मुंह फेर लेते हैं। यह यज्ञ से अवशिष्ट के रूप में नहीं है। साधक प्रत्येक को अपना मानता है। **वसुधैव कुटुम्बकम्** में यहह भाव है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर जो प्राणी हैं वह अपने परिवार के रूप में है। यह विचार तभी आता है जब हम साधना की पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। वैसे यह विचार नहीं आता है। अनायास यह विचार प्रकट नहीं होता है और यह विचार प्रकट हो जाए तो हम सम्पूर्ण पाप कर्मो से उन्मोचित हो जाते हैं।

ऊपर एक भाव है जो कहा गया है हमारा अधिकांश कार्य अर्थात् अधिकांश श्रम

स्वयं के लिए या स्वयं से सम्बंधित व्यक्तियों के लिए होता है। अर्थात् हम अपने लिए करते हैं या अपनों के लिए करते हैं। यह **पचन्त्यामकारणात्** है। सामान्य व्यक्ति अपने लिए जीता है। एक परिवार में एक पिता के चार पुत्र होते हैं। पिता कभी भी यह नहीं चाहता कि हमारे पुत्रों में पारस्परिक मतभेद हो। वैमनस्यता हो, फूट पड़े, लड़ाई झगड़ा हो। पिता का यह भाव रहता है कि सबमें स्नेह रहे। क्योंकि वह अपना उसका परिवार है। परन्तु कभी–कभी उनमें फूट पड़ जाती है तो प्रत्येक भाई दूसरों के अहित के बारे में विचार करने लगता है। अर्थात् पहले तो हम दूसरे के हित की बात करते थे अब अहित की बात करते हैं। इन दोनों स्थितियों में पर्याप्त अंतर है। एक स्वयं के लिए कार्य करना है और एक सभी के लिए कार्य करना है। तो जो लोग **आत्मकारणात** कार्य करते हैं अर्थात् स्वयं को पोषण करने के लिए श्रम करते हैं वह निकृष्ट है और जो अपने श्रम से उपार्जित धन को दूसरों के हित के लिए भी देना चाहते हैं वह उत्कृष्ट है यह **आत्मकारणात्** नहीं है। इसी भाव को श्री भगवान ने प्रकट किया है और जो **आत्मकारणात** कार्य करते हैं वे तो पाप का ही भक्षण करते हैं अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं के लिए कार्य करते हैं समाज के लिए कार्य नहीं करते हैं उसका जो परिणाम होता वह पाप होता है। यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है। हमें अपने श्रम से उपार्जित धन का कुछ भाग अन्य लोगों की सेवा के लिए भी खर्च करना चाहिए। इस तथ्य से श्री भगवान यह स्पष्ट संकेत देते हैं, और जो ऐसा नहीं करते हैं उनके लिए श्री भगवान ने यह कहा कि **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यामकारणात्** अर्थात् जो लोग स्वयं के लिए कार्य करते हैं वे तो पाप का ही भक्षण करते हैं।

बहुत से लोगों को आपने देखा होगा कि वह भिखारियों की भी सहायता नहीं करते वरन् उन्हें भगा देते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि भिखारी हमारे दरवाजे पर भीख मांगने आवे। यदि आ गया तो वे उसे दुत्कार कर भगा देते हैं। यह भी **पचन्त्यामकारणात्** की निकृष्ट स्थिति है। हम कभी कभी भोजन करते हैं और कोई भूखा हमसे मांग देता है तो हम उसे दुत्कारते हैं। ऐसा भोजन पाप के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। हमें भूखों के लिए कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिए। हम अपने भाग का जो भोजन है यदि किसी भूखे व्यक्ति को देते हैं तो वह पुण्य के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और हम अधिक भोजन हो जाने पर उसे फेंक देते हैं परन्तु किसी भूखे व्यक्ति को नहीं देते हैं। यही तथ्य अन्य वस्तुओं के बारे में भी होता है। आपने अनेक धनवान व्यक्तियों को देखा होगा जो धन का अनावश्यक व्यय करते हैं। आवश्यकता न होने पर भी उसे अनावश्यक रूप से खर्च करते हैं उस

अनावश्यक रूप से खर्च किए हुए धन से अनेक व्यक्तियों की रोजी रोटी की व्यवस्था हो सकती है। इस तथ्य को हम जब जान जाते हैं और अनावश्यक धन का उपभोग दूसरों के लिए करने लगते हैं तो यही तथ्य **मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै** के रूप में परिवर्तित हो जाता है और हम पापों से मुक्त हो जाते हैं।

मनुष्य का अपने स्वयं के लिए जो कर्म होता है वह स्वार्थ से सीमित हो जाता है। बद्ध हो जाता है। मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह शास्त्रानुसार कर्तव्य कर्मो का आचरण करें और उस आचरणरूपी श्रम से जो प्राप्त हो वह अपने भाग के अतिरिक्त दूसरों के हितार्थ लगाये। आज के समाज में मनुष्य के अंदर भोगवृत्ति उत्पन्न हो गयी है वह समग्र का उपयोग और उसका उपभोग स्वयं के लिए करना चाहता है। यह प्रवृत्ति सबसे अधिक खतरनाक है। घातक है। उसका कार्य श्रम से उपार्जित धन को दूसरों के लिए खर्च करने का होना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते मात्र अपनी ही सुख सुविधा का ध्यान रखते हैं वे तो पाप का ही भक्षण करते हैं। इससे हमारे संचय में पाप कर्मो की मात्रा बढ़ती है और परमात्मा की व्यवस्था और विधान के अनुसार हमको दुःख ही प्राप्त होता है। इसी कारण श्री भगवान ने कहा कि जो लोग स्वयं के लिए ही कार्य करते हैं वे तो पाप का ही भक्षण करते हैं। यही श्री भगवान के **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यामकारणात्** का अभिप्राय है।

यज्ञ की उत्पत्ति का क्या आधार है ? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक कहकर यज्ञ की उत्पत्ति के अभिप्राय को स्पष्ट किया है।

मूल श्लोक संख्या– चौदह

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञाः कर्मसमुद्भवः।

पदच्छेद :–

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि, पर्जन्यात्, अन्नसम्भवः,

यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः, यज्ञः, कर्मसमुद्भवः।।

भावार्थ :– प्राणी मात्र की उत्पत्ति अन्न के द्वारा होती है। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है।

वर्षा का कारण यज्ञ है तथा यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

व्याख्या :– उपर्युक्त श्लोक में चार तथ्य हैं तथा क्रमिक उत्पत्ति का और उसके कारण का वर्णन है। यह क्रम निम्न प्रकार हैं–

1– समस्त प्राणी मात्र की उत्पत्ति तथा भरण पोषण अन्न के द्वारा ही होता है। अन्नाद्भवन्ति भूतानि।

2– अन्न तभी उत्पन्न हो सकता है जब वर्षा हो। वर्षा के न होने से अन्न की उत्पत्ति संभव नहीं है। पर्जन्यादन्नसम्भवः।

3– वर्षा का आधारभूत कारण यज्ञ है अर्थात् वर्षा यज्ञ के द्वारा ही संभव है। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो।

4– यज्ञ का उत्पन्न होना कर्म के आधार पर ही होता है। यज्ञाः कर्मसमुद्भवः।

अन्नादभवन्ति भूतानि अर्थात् अन्न से समस्त भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं। श्री भगवान का यह कथन दो प्रकार का भाव देता है। एक तो समस्त भूत प्राणी अन्न ग्रहण करते हैं तो उनमें सृष्टि उत्पत्ति की योग्यता अर्थात् सामर्थ्य आती है और दूसरे समस्त प्राणी मात्र अन्न से जीवित रहते हैं। यदि अन्न न हो तो समस्त प्राणी मात्र जीवित नहीं रह सकते। उनका अस्तित्त्व संभव नहीं है। परिणामतः यह स्पष्ट है कि अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है और अंततः मृत्यु हो जाती है।

प्रथमतः उत्पत्ति का तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक है। समस्त प्राणी अन्न ग्रहण करते हैं वह अन्न अनेक प्रकार से पचकर हमें रस के रूप में चैतन्यता प्रदान करता है। अन्न न हो तो यह चैतन्यता का भाव ही समाप्त हो जाएगा। आपने देखा होगा कि उपवास में व्यक्ति क्षीण हो जाता है। अधिक समय तक उपवास करने से क्रमिक रूप से क्षीणता आ जाती है। इस कारण यह स्पष्ट है कि अन्न हमारी शक्ति बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाता है। अर्थात् अन्न ही हमारे जीवन का आधारभूत कारण है। यदि अन्न न होता तो हमारी चैतन्यता नहीं रहती। जीवन काल से पूर्व जब शिशु मां के गर्भ में रहता है तो उसे मां के द्वारा ही भोजन प्राप्त होता रहता है। वह माता के शरीर से प्राप्त भोजन से आगे की वृद्धि को प्राप्त होता है। यह अन्न रूप भोजन है जो नहीं मिलता है तो वह वृद्धि को प्राप्त नहीं हो पाता है। अन्न के प्रभाव से ही मनुष्य को संतान उत्पन्न करने की शक्ति

प्राप्त होती है। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है और उसकी स्थिति बनी रहती है। यह दूसरी स्थिति है अर्थात् मनुष्य अन्न ग्रहण करके ही जीवित रहता है। आत्मा तो चैतन्यता का आधार है परन्तु अन्न चैतन्यता का कारण है। यदि अन्न शक्ति न देता तो प्राणी में संतान उत्पन्न करने की योग्यता और सामर्थ्य नहीं आती।

समस्त प्राणी जब अन्न ग्रहण करते हैं तो उससे उन्हें उर्जा मिलती है। जीवन मिलता है। जीवन चलता है। गति करता है इस गति में प्राणी की विशिष्टता का भी गुण है । अन्न ग्रहण करते हैं तो हमें जीवन की गति हेतु उर्जा मिलती है। प्राणी जीवित रहता है। यह अन्न के आधार से ही होता है। परन्तु धीरे धीरे वह मृत्यु की ओर बढ़ता है। यह मृत्यु की ओर ले जाने का गुण भी अन्न में है। **अन्नाद्भवन्ति भूतानि** अर्थात् अन्न से प्राणी होते हैं। अन्न प्राणी को उत्पन्न करता है। क्योंकि अन्न से प्राणियों को शक्ति मिलती है। अन्न शक्ति देकर उसे स्थिर रखता है। यह मध्य की बात है। प्रलय अर्थात् मृत्यु देता है यह अंत की बात है। यह सृष्टि क्रम उसी से चलता रहता है। जिस प्रकार से यह जगत का चक्र चलता है। उसी प्रकार से प्राणियों की स्थिति व उत्पत्ति का क्रम चला करता है। इसमें तीन तथ्य विद्यमान है। **अन्नाद्भवन्ति भूतानि** का सही अर्थ यही है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी अन्न से जीवित रहते हैं। उनके लिए भी श्री भगवान ने **अन्नाद्भवन्ति भूतानि** कहा है। जैसे गाय, बैल, भैस आदि पशु भी अन्न खाकर जीवित रहते हैं। हम सब अन्न को अधिकांशतः पकाते हैं कच्चा भी खाते हैं परन्तु अन्य पशु आदि घास तथा भूसे को ग्रहण करते हैं। उसे पकाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वही घास तथा भूसा खाकर उन्हें उर्जा मिलती है। कच्चे अन्न को पचाने के लिए भगवान ने जानवरों की शरीर में पाचन शक्ति की व्यवस्था की है। इस प्रकार मांसाहारी जीवों के लिए भी मांसीय अन्न है। पर यह अभिप्राय नहीं है। अन्न शब्द से मात्र वनस्पतियों का ही उल्लेख है। अन्न से सभी जीवन प्राप्त करते हैं। भवन्ति शब्द का अर्थ है होना। अन्न से प्राणी होते हैं यह अर्थ है। प्राणी की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जैसा अर्थ देते हैं।

अन्न की सृष्टि के सम्बंध में **ऐतरेयोपनिषद** में भी विशिष्ट वर्णन आता है। उस व्याख्यान का इस प्रकरण में अवलोकन करे।

1– स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति।। 3/1।।

ईश्वर ने आकांक्षा की लोक तथा अनेक लोकपालों की सृष्टि की जाए तथा इनके

लिए अन्न की उत्पत्ति की जाये।

2– सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्।। 3/2।

ईश्वर ने जलों आदि को तपाया। उन तप्त पंचमहाभूतों से जो मूर्ति उत्पन्न हुई वहीं अन्न कहा गया।

3– तदेनत् सृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षतन्नाशकोद्वाचा ग्रहीतुम।

यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।। 3/3।।

जो अन्न उत्पन्न हुआ वह दूर जाने का प्रयास करने लगा। भोक्ता ने उसे वाणी द्वारा ग्रहण करने का प्रयास किया। यदि अन्न वाणी द्वारा ग्रहण किया जाता तो अन्न का वर्णन करने से ही भूख से निवृत्ति हो जाती।

4–तत्प्राणेनाजिघृक्षतन्नाशकोत्प्राणेन ग्रहीतुं

स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।। 3/4।।

भोक्ता ने अन्न को प्राण इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करना चाहा पर उसे घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सका। यदि अन्न को घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता तो निश्चय ही अन्न को सूंघकर ही तृप्ति हो जाती।

5– तच्चक्षुषाजिघृक्षतन्नाशकोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्टवा हैवान्नमत्रप्स्यत्। 3/5।।

भोक्ता ने अन्न को आंखों द्वारा ग्रहण करना चाहा पर उसको आंखों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सका। यदि अन्न को आंखों से ग्रहण किया जा सकता तो वह निश्चिय ही अन्न को देखकर भूख से निवृत्त हो जाता।

6– तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशकोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैन्च्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।। 3/6।।

भोक्ता ने अन्न को कानों से ग्रहण करना चाहा परन्तु वह उसे कानों से ग्रहण नहीं कर पाया। यदि अन्न को कानों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता तो सुनने मात्र से ही निश्चय

ही भूख से निवृत्ति हो जाती।

7– तत्त्वचा जिघृक्षतन्नाशकोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।। 1/7।।

भोक्ता अन्न को त्वचा द्वारा ग्रहण करना चाहा पर त्वचा द्वारा भी इसे ग्रहण नहीं किया जा सक। यदि त्वचा द्वारा अन्न ग्रहण किया जा सकता तो निश्चय ही अन्न को छूकर भूख से निवृत्ति हो जाती।

8– तन्मनसाजिघृक्षतन्नाशन्कोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्धयात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्। 3/8।।

भोक्ता ने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उसे मन से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सका यदि वह मन से अन्न को ग्रहण कर लेता तो निश्चय ही अन्न को ध्यान करने से भोक्ता की भूख से तृप्ति हो जाती।

9– तच्छिश्नेनजिघृक्षतन्नाशकोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्सयत् ।। 3/9।

भोक्ता ने अन्न को उपस्थ द्वारा ग्रहण करना चाहा परन्तु उसे भोक्ता द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सका। यदि अन्न को उपस्थ द्वारा ग्रहण किया जा सकता तो निश्चिय ही अन्न का परित्याग करके वह तृप्त हो जाता।

10– तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः।। 1/10।।

भोक्ता ने अन्न को अपान वायु से ग्रहण करना चाहा इस प्रकार भी अन्न को ग्रहण कर लिया गया। अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने वाला है। जो वायु अन्न से जीवन की रक्षा करने वाले के रूप में प्रस्तुत है वह अपान वायु है।

इस प्रकार उपनिषद में अन्न की सृष्टि और उसके ग्रहण करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। जब समस्त लोक और लोकपालों की सृष्टि की गयी उस समय भी अन्न की सृष्टि की गयी। श्री भगवान ने यह कहा कि **पर्जन्यादन्नसम्भवः** अर्थात् अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। पृथ्वी और वायु और अग्नि भी अन्न की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। पृथ्वी तथा वायु में क्रियाशीलता तभी आती है जब उसका जल से सम्पर्क हो जाए।

जल के अभाव में पृथ्वी तथा वायु वनस्पति की उत्पत्ति नहीं कर सकते। जल तथा वायु के मिश्रण को ही जलवायु कहा जाता है। जलवायु से ही अन्न उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि वायु के साथ जल का मिश्रण हो तभी वनस्पति की उत्पत्ति होती है। अन्न की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त है। पृथ्वी वनस्पति को आधार देती है। वायु स्पर्श देती है। चन्द्रमा वनस्पति को पुष्ट करता है और जल आद्रता देता है। पृथ्वी के आधार वायु के स्पर्श और चन्द्रमा की पुष्टि और जल की आद्रता तथा सूर्य की अग्नि वनस्पति को उत्पन्न करते हैं। पौधा विकसित होता है। यही पूर्ण फल के रूप में फलित होकर सब प्रकार का अन्न की उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में किसका सहयोग है ? इस पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि किसी अदृश्य शक्ति का इसमें सहयोग है। पौधे का विकास क्रमिक होता है। यह नहीं है कि एक ही दिन में अर्थात् कुछ दिनों में पौधा विकसित हो जाए। पहले अंकुरित होता है फिर बढता है और इस प्रक्रिया में समय लगता है। यह अचानक नहीं होता है। इसका अर्थ है कि इसके विकास की प्रक्रिया में कोई अदृश्य शक्ति कार्य करती है। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है अर्थात् वर्षा के सहयोग से होता है। यह अर्थ **पर्जन्यादन्नसम्भवः** का है।

श्री भगवान ने आगे कहा **यज्ञाद्भवति पर्जन्यो** अर्थात् यज्ञ से वर्षा होती है। यज्ञों का वर्णन हमारे प्राचीन ग्रंथों में आता है। स्थल स्थल पर इसकी व्याख्या की गई है। अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन शास्त्रों में है। वैदिक और पौराणिक यज्ञ विशेष रूप से वर्णित किए गए हैं। श्री भगवान कहते हैं कि यज्ञों से वर्षा होती है। इस तथ्य को आज का वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। यह पृथक् तथ्य है। यज्ञों सम्पादन आज बहुत अल्प मात्रा में होता है परन्तु समाप्त नही हुआ है। आज भी यज्ञ होते हैं और उनका क्रियान्वयन होता है। अनेक आश्रमों में आज भी यज्ञरूपी क्रिया सम्पन्न होती है। यह मान्यता है कि यज्ञों में प्रत्येक देवता का भाग होता है और यज्ञों के सम्पादन से प्रत्येक देवता अपना भाग प्राप्त कर लेते हैं तथा प्रसन्न होकर अन्न की पुष्टि हेतु वर्षा करते हैं। वर्षा का कार्य भगवान इन्द्र के आदेश से सम्पन्न होता है। भगवान इन्द्र प्रसन्न होकर वर्षा करते हैं जिससे यज्ञ की उत्पत्ति होती है। यज्ञ से वर्षा होती है। इसका यही अभिप्राय है। यहां पर कर्तव्य कर्मो को यज्ञ का स्वरूप समझना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार से यह वर्णित किया गया है कि अनेक धार्मिक ग्रंथों में अनेक प्रकार के धार्मिक यज्ञों का प्राविधान है। यज्ञों की क्रियाऐं किसी वस्तु विशेष की प्राप्ति हेतु भी

सम्पन्न होती हैं। जैसे पृथु ने अश्वमेघ यज्ञ का संकल्प किया था। उनके संकल्प से 99 यज्ञ तो पूरे हो गए। 100वें यज्ञ के सम्पादन में इन्द्र के द्वारा राजसूय यज्ञ के घोड़े को बलपूर्वक बुला लिया गया तथा उसे आकाश मार्ग से ले जाया गया। इसका पृथु पुत्र ने पीछा किया। अत्रि मुनि ने इन्द्र को भागते हुए देखा तथा उसे मारने का आदेश दिया। पृथु पुत्र के द्वारा मारने के लिए उद्धत होते देख इन्द्र ने घोड़ा छोड दिया। यज्ञ के समय इन्द्र को यज्ञ में आहुति देकर वहां बुलाना चाहा परन्तु ब्रह्मा जी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। इस प्रकार राजा पृथु का 100वां यज्ञ पूर्ण नहीं हो पाया और वह इन्द्र के पद से विमुख रह गए। इस प्रकार अनेक प्रकरण प्राचीन ग्रंथों में वर्णित किए गए हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ से वर्षा होती है। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है। इसी को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने **यज्ञाद्भवति पर्जन्यो** कहा है।

इस श्लोक अंतिम प्रकरण में **यज्ञाः कर्मसमद्भवः** अर्थात् यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। यज्ञ चाहें किसी प्रकार का हो किसी उद्देश्य को लेकर आयोजित किया जाए परन्तु उसका आधार कर्म ही हैं। पुत्र की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला यज्ञ पृथक् कर्म वाला है और धन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला यज्ञ पृथक् प्रकार का है। संकट के निवारण हेतु सम्पादित किया जाने वाला यज्ञ पृथक् प्रकार का है। इस प्रकार नाना प्रकार के यज्ञों के पृथक्–पृथक् विषय हैं और उनकी पृथक्–पृथक् क्रिया विधि है इससे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञों की उत्पत्ति में आधार कर्म ही है। राजसूय यज्ञों में कर्म की विशिष्टता है। उसमें यज्ञ कर्मो के अतिरिक्त युद्ध रूपी कर्म भी करना पड़ता है। इसलिए श्री भगवान ने यह कहा कि **यज्ञाः कर्मसमुद्भवः** अर्थात् यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

यज्ञ को यदि हम कर्तव्य कर्म के सापेक्ष मान लें तो भी इसका यही अर्थ होता है कि यज्ञरूपी कर्तव्य के बारे में क्रिया विशेष है। बिना क्रिया के कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता। हम अपने परिवार का भरण पोषण करते हैं। हमें इस भरणपोषण के लिए श्रम करना पड़ता है। श्रम करने से धन का उर्पाजन होता है तभी हम अपना कर्तव्य निभा पाते हैं। हम अध्ययन करते हैं तो भी हमें स्वाध्याय रूपी कर्म करना पड़ता है। समय से जागना और सोना पड़ता है। उचित आहार विहार ग्रहण करना पड़ता है। कर्मो में उचित चेष्टा करनी पड़ती है। कर्मो का उचित सम्पादन करना पड़ता है। यह स्वाध्याय रूपी यज्ञ के अनुष्ठान में भी कर्म विशेष है। हम कहीं भी कार्य करते हैं तो हमें समय से अपने कार्य

स्थल पर जाना पड़ता है। कार्य समय से करना पड़ता है। अवकाश होने तक हमें अपने कार्यस्थल में रहना पड़ता है। इस प्रकार हमारे कर्तव्यरूपी कर्म में विशेष श्रम रहता है। भगवान के यजन पूजन रूपी यज्ञ में भी कर्म विशेष है। भगवान के यजन पूजन की विधि समझनी पड़ती है। उसका अनुपालन करना पड़ता है। उसके अनुष्ठान का नित्य सम्पादन करना पड़ता है। उसके परिणाम की प्रतीक्षा करनी पड़ती है और हमारे नित्य कर्म से ही हमें लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्तव्य रूपी यज्ञ में भी कर्म विशेष है।

समस्त प्रकार के यज्ञों के अर्थ में अर्थात् यज्ञादिक कर्म या यज्ञ के स्वरूप में हों। कर्तव्य कर्म ही यज्ञों का आधार है। कर्म के अभाव में यज्ञों का सम्पादन संभव नहीं है। इसी भाव से श्री भगवान ने कहा कि कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। यदि कर्मो का सम्पादन न किया जाए तो यज्ञ की कल्पना संभव नहीं है। इसी तथ्य को विशेष रूप से प्रस्तुत करने के लिए श्री भगवान ने **यज्ञाः कर्मसमद्भवः** कहा है। वैसे जीवन में हम सभी जो कुछ करते हैं उसका आधार कर्म ही हैं। चाहें किसी प्रकार का भी कर्म हो वह मनुष्य को करना पड़ता है। यज्ञ जैसे विशेष कर्म तो मनुष्य को निश्चित करने पड़ते हैं।

इस श्लोक को समाप्त करते हुए श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में यह स्पष्ट किया कि कर्म कहां से उत्पन्न होता है ? अर्थात् कर्म की उत्पत्ति का क्रम क्या है ?

मूल श्लोक संख्या–पंद्रह

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

पदच्छेद :–

कर्म, ब्रह्मोदभवम्, विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात् सर्वगतम्, ब्रह्म नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम्।।

भावार्थ :– कर्मो की उत्पत्ति वेद से समझो, वेद को अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ समझो। इस कारण सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

व्याख्या :– वेदों की उत्पत्ति के सम्बंध में शास्त्रों में वर्णन आता है कि ब्रह्मा जी के मुखों से वेदों की उत्पत्ति हुई। 1– (ऋक्) ऋग्वेद पूर्व के मुख से 2– (यजुः) यजुर्वेद दक्षिण के मुख से, 3– (साम) सामवेद – पश्चिम मुख से। इसके अतिरिक्त आर्युवेद, धनुर्वेद, गान्धववेद, स्थापत्य श्री ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् भगवान ब्रह्मा ने चारों मुखों से इतिहास पुराण रूप पंचम वेद की उत्पत्ति की। सत्य, तप, दान, तथा विद्या यह धर्म के चार पाद तथा चार आश्रमों की भी उत्पत्ति की। जिनकी पृथक्–पृथक् वृत्तियां बतायी गयी।

1– ब्रह्मचर्य आश्रम की चार वृत्तियां :– सावित्र, प्राजापत्य, ब्रह्मा, वृहत।

2– गृहस्थ आश्रम की वृत्तियां हैं – वार्ता, संचय, शालीन, शिलोच्छ।

3– वानप्रस्थ आश्रम की चार वृत्तियां हैं – वैखानस, बालखिल्य, औदुम्बर, फेनप।

4– चार प्रकार की संन्यास वृत्तियां हैं :– कुटी चक्र, बहूदक, हंस, निष्क्रिय।

चार विधाऐं – आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति है, ये भी ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुई हैं।

क. ब्रह्मचर्य आश्रम :–

1– ब्रह्मचर्य की सावित्र वृत्ति :–

उपनयनोपरान्त गायत्री स्वाध्याय हेतु त्रिदिवसीय ब्रह्मचर्य वृत्ति।

2– ब्रह्मचर्य आश्रम की प्राजापत्य वृत्ति– ब्रह्मचर्य व्रत का एक वर्षीय अनुपालन

3– ब्रह्मचर्य आश्रम की ब्राह्मवृत्ति – गुरुकुल के अध्ययन तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना।

4– ब्रह्मचर्य आश्रम की वृहत वृत्ति – जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ख. गृहस्थ आश्रम :–

1– गृहस्थ आश्रम की वार्ता वृत्ति :– शास्त्र के अनुकूल कृषि कर्म का सम्पादन।

2– गृहस्थ आश्रम की संचय वृत्ति :– शुभ कर्मो के सम्पादन में संलग्न हो जाना।

3– गृहस्थ आश्रम शालीन की वृत्ति :– अयाचित वृत्ति।

4– गृहस्थ आश्रम की शिलोच्छ वृत्तिः– अन्न भंडारण के स्थान से अन्न उठ जाने या खेतों में फसल कटने के पश्चात् उसमें जो शेष अन्न बचे उसे ग्रहण करना।

ग. वानप्रस्थ आश्रम :–

1– वानप्रस्थ आश्रम की वैखानस वृत्ति :– कृषकों के श्रम के अतिरिक्त स्वतः उगे पदार्थो से शरीर निर्वाह करना।

2– वानप्रस्थ आश्रम की वालखिल्य वृत्ति :– पूर्व संचित अन्न को नवीन उपज होने पर दान करके शरीर निर्वाह करना।

3– वानप्रस्थ आश्रम की औदुम्बर वृत्ति :– जागृति होने पर दिशानुकूल फलों का सेवन करके शरीर निर्वाह करना।

4– वानप्रस्थ आश्रम की फेनप वृत्ति :– वृक्षों से पकने के उपरान्त गिरे हुए फलों का सेवन करके शरीर निर्वाह करना।

घ. संन्यास आश्रम :–

1– संन्यास की कुटिचक्र वृत्ति :– आश्रम में रहना तथा जंगलों में कुटी बनाकर रहना।

2– संन्यास आश्रम की बहूदक वृत्ति :– ज्ञार्नाजन में निरन्तर संलग्न रहना। कर्मादि के प्रति उदासीनवत् भाव।

3– संन्यास आश्रम की हंस वृत्ति :– तत्त्व दर्शन की उपलब्धि हेतु साधना।

4– संन्यास आश्रम की निष्क्रिय वृत्ति :– तत्त्वदर्शी महापुरुष जिसे ब्रह्मविद्या का साक्षात्कार हो गया है तथा त्रिगुणातीत होकर निरन्तर परमार्थ दर्शन में संलग्न है।

ङ. चार प्रकार की विद्याऐं :–

1– अन्वीक्षिकी विद्या – इस विद्या से मुमुक्षु को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

2– त्रयी विद्या – इस विद्या से सकाम कर्मो का सम्पादन होता है। परिणामतः स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति हो जाती है।

3– वार्ता विद्या – जीवन यापन हेतु जिस विद्या से कृषि व्यापार आदि के संचालन का ज्ञान होता है।

4– दण्डनीति :– इस विद्या से राज्यों के शासन की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है।

कर्मो की उत्पत्ति वेद से समझ अर्थात् **कर्म ब्रह्मोदभवम्** भगवान के इन वाक्यों का अर्थ है कि वेदों में कर्म को व्याख्यापित किया गया है अर्थात् परिभाषित किया गया है कि हमारे किस आश्रम के कर्तव्य कर्म क्या है ? और यज्ञों का क्या विधान है ? तथा मुक्ति कैसे संभव है ? इन तथ्यों का वर्णन वेदों में प्रमुखता से है। कर्तव्य भी कर्म के रूप में वर्णित हैं। यज्ञों के सम्पादन रूपी कर्म का भी वेदों में उल्लेख है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य उपनिषदों में वर्णित है। जिसका प्रमुख विषय है कि इस मानव जीवन का उत्कृष्ट उद्देश्य मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? जिसकी विषद विवेचना उपनिषदों में वर्णित की गयी है। यह सब कर्म के रूप में ही है। इस कारण भगवान ने यह कहा कि कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ समझ।

1– कर्तव्य कर्म क्या है ?

प्रत्येक आश्रम के पृथक्–पृथक् कर्तव्य हैं जिनका वर्णन शास्त्रों में आता है। हम जिस आश्रम में है हमें उसी के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना यथेष्ट है। इसके लिए आवश्यकता यह होती है कि हम अपने कर्तव्य कर्मो को जाने। यह कार्य अत्यंत आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन से हमें अपने कर्तव्य कर्मो का ज्ञान होता है। कुछ कर्तव्य कर्म सभी के लिए समान हैं जिनका पालन करना यथेष्ट है। हम सभी को उनका आचरण करना चाहिए। इनमें कुछ कर्मो का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा रहा है।

1– हम सभी को प्रत्येक प्राणी के प्रति दयाभाव रखना चाहिए। जो हो सके अपनी यथाशक्ति सहायता का भाव होना चाहिए।

2– किसी के प्रति कटुशब्दों का प्रयोग करके उसे उदिग्न नहीं करना चाहिए। कटुशब्द मनुष्य के मर्म स्थल पर चोट करते हैं।

3– प्रत्येक प्राणी के प्रति क्षमा का भाव रखना चाहिए।

4– सभी प्राणियों को भगवान का स्वरूप मानकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।

5– अंतःकरण से भगवान की पूजा उपासना करनी चाहिए उसे अपना सर्वस्व मानकर उसके प्रति पूजा का भाव रखना चाहिए।

6– ब्रह्म मुर्हुत में जागकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर भगवान के प्रति समर्पित भाव से उनका स्मरण करना चाहिए।

7– किसी से भी ईर्ष्या द्वेष का व्यवहार नहीं होना चाहिए।

8– हमारे परिवार के प्रति समाज के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। उनका पालन करना चाहिए।

9– संत पुरुषों के प्रति सद्ग्रंथों के प्रति श्रद्धा भाव रखना चाहिए और पूज्यभाव रखकर वैसा व्यवहार करना चाहिऐ।

10– हमारे शास्त्रो में कर्मो के सम्बंध में तीन तथ्य दिए गए हैं और उनके प्रकारों का भी वर्णन किया है। यह तीन कर्म निम्न प्रकार हैं :–

2– कर्मो के प्रकार :–

क. नित्यकर्म :– जो कर्म नित्य प्रति किये जाते हैं उन्हें नित्य कर्म कहते हैं।

ख. नैमित्तिककर्म :– विशेष अवसरों, विशेष दिनों में किये जाने वाले कर्मो को नैमित्तिक कर्म कहा जाता हैं

ग. काम्यकर्म :– कामनाओं की आकांक्षा तथा उनकी पूर्ति हेतु जो कर्म होते हैं उन्हें काम्य कर्म कहा जाता है।

वेद का कथन है कि पुरुष किसी कर्म का कर्ता नहीं है। मनुष्य स्वतंत्रता से कर्म कर सकता है। परन्तु फल भोगने में वह परतंत्र हो जाता है। इसमें दो तथ्य विशेष रूप से

जानने चाहिए। जिस प्रकार किसी के धन का उपयोग जब दूसरा व्यक्ति कर लेता है तो इसका कारण पूर्वकृत कर्म हैं। यह नवीन कर्म का परिणाम है। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी व्यक्ति को। किसी दूसरे व्यक्ति का धन प्राप्त हो जाता है वह धन समय पाकर नष्ट हो जाता है। यह प्रारब्ध की प्रबलता है। मनुष्य अपनी रूचि के अनुसार बुरा भला बन सकता है। परन्तु यह सब परमात्मा की व्यवस्था के अधीन है। अर्थात् कर्म का परिणाम परमात्मा के अधीन है और कर्म का सम्पादन हम सभी के अधीन है। प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट है कि वह अपनी बाल्यावस्था से ही शास्त्रों के नियमों का पालन करे। समस्त प्रकार के यज्ञों के समय का कार्य नियत है। पूर्णमासी तथा अमावस्या को भी कुछ यज्ञ योजित किये जाते हैं। प्रातः एवं सायंकाल भी यज्ञों के सम्पादन का नियम है तथा अन्य पृथक्–पृथक् प्रकार के यज्ञों के सम्पादन का काल नियत है। इसीलिए भगवान ने कहा कि कर्मो की उत्पत्ति वेद से होती है। **कर्म ब्रह्मोदभवं विद्धि।**

3– मुक्ति कैसे संभव है ?

उपनिषदों अर्थात् वेदों के ज्ञानकांड में परमात्मा की प्राप्ति का विषद वर्णन है। परमात्मा की प्राप्ति का अभिप्राय अर्थात् परिणाम मुक्ति के रूप में कहा जाता है। कठोपनिषद में इस तथ्य का वर्णन किया गया है उसी वर्णन का एक भाव प्रस्तुत है :–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। 1/3/12।।

ये परमात्म स्वरूप आत्मा समस्त प्राणियों में उपस्थित है। गूढ रहस्यप्रद है। प्रत्यक्ष नहीं है। प्रकाशित नहीं होता है अर्थात् प्रतीत नहीं होता। सूक्ष्म राशियों द्वारा, सूक्ष्मतम बुद्धि द्वारा देखा जाना संभव है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानामात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। 1/3/13।।

प्रज्ञावान को यथेष्ट है कि वाणी को मन में निरुद्ध करे मन को बुद्धि में विलीन करें, बुद्धि को महान आत्मा में विलीन करे और उसको शान्तस्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे। यह मुक्ति का प्रकार है और उसका क्रियान्वित स्वरूप है।

मुण्डकोपनिषद में भी परमात्मा की प्राप्ति के सम्बंध में एक प्रकरण का उल्लेख किया जा रहा है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।। 3/1/5।।

यह शरीर के भीतर ज्योतिर्मय, शुभ्र, ईश्वर, निश्चय ही सत्याचरण, तपस्चर्या, ब्रह्मचर्य, सम्यक् ज्ञान से नित्य प्राप्त हो जाता हो जाता है। जिसके शरीर तथा मन के समस्त दोष समाप्त हो चुके हैं। ऐसा यत्न करने वाला मुमुक्षु उसे प्रत्यक्ष देख लेता है।

श्री भगवान ने आगे कहा **ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्** अर्थात् वेद को अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होना समझे। वेद अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। पौराणिक ग्रंथों में कहा गया कि ब्रह्मा के मुख से वेदों का प्रकाट्य हुआ है। श्री भगवान कहते हैं कि वेदों का प्रकाट्य अविनाशी ब्रह्म से हुआ है। ब्रह्मा की उत्पत्ति अविनाशी ब्रह्म से हुई है। सृष्टि की उत्पत्ति विषयक प्रकरण श्रीमद्भागवत में वर्णित है। उस सृष्टि की उत्पत्ति विषयक प्रकरण का अवलोकन करें।

जब इस जगत की सृष्टि नहीं हुई थी। तब समस्त जगत जल में विलीन था। शेष शैय्या पर एक मात्र श्री हरि विराजमान थे। सृष्टि नहीं थी। इस कारण वह सृष्टि कर्म से पृथक् अपने आनन्द में निमग्न थे। उनकी उदासीनवत् निष्क्रिय अवस्था थी। श्री हरि ने समस्त भूत प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने में लीन कर रखा था। मात्र काल शक्ति जागृत थी। इसी काल शक्ति ने पुनः सृष्टि के लिए प्रेरित किया। जिससे श्री हरि को स्वस्वरूप में प्रविष्ट अनन्त लोकों का दर्शन हुआ। श्री हरि की दृष्टि सूक्ष्मादि शरीर के सूक्ष्म **तत्त्व** पर हुई। सृष्टि रचना के निमित्त काल आधारित रजोगुण में क्षोभ होने से भगवान ब्रह्मा का विष्णु भगवान की नाभि कमल से प्रादुर्भाव हुआ। भगवान ब्रह्मा के तेज से असीम जगत का भंडार प्रकाशित हो गया।

स पदमकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधेन।

स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः।।

इस प्रकार भगवान ब्रह्मा का प्रादुर्भाव उस अविनाशी ब्रह्म से हुआ। अविनाशी ब्रह्म से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव तथा भगवान ब्रह्मा के मुख से वेदों के प्रादुर्भाव का श्री भगवान का कथन **ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्** इस प्रकार सिद्ध होता है। उस ब्रह्मा का सृष्टि से पूर्व तथा प्रलय के पश्चात् भी अस्**तित्त्व** रहता है। जिस प्रकार सामान्य प्राणी की सुषुप्तावस्था होती है। शरीर थक जाने के पश्चात् मनुष्य विश्राम करता है। कुछ इसी प्रकार प्रलयकाल के पश्चात् की स्थिति रहती है। क्योंकि उसकी स्थिति सृष्टि पूर्व थी और प्रलय के पश्चात् भी रहती है। अन्य किसी की स्थिति सृष्टि पूर्व और पश्चात् नहीं रहती है। इस कारण वह परम अविनाशी कहलाता है। इस कथन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सभी कुछ उस अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है।

श्री भगवान ने अंत मे कहा कि **तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** अर्थात् सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इस तथ्य को समझने के लिए गीता जी के निम्न श्लोक का भाव देखिए।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामाभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। 9/24।।

भगवान निश्चित ही समस्त प्रकार के यज्ञों के भोक्ता और स्वामी हैं। इस तथ्य को जो तत्त्व से नहीं जानते उनका पतन हो जाता है अर्थात् वे अपने श्रेय साधन से गिर जाते हैं।

जब श्री भगवान समस्त यज्ञों के भोक्ता अर्थात् भोगने वाले हैं तथा उसके स्वामी है। इस कारण उनकी यज्ञ में प्रतिष्ठा है। श्री भगवान इस संसार की सृष्टि के कारण है। समस्त भूत प्राणियों की स्थिति अर्थात् उनका पालन पोषण करते हैं। इस पालन पोषण की व्यवस्था में अनेक वनस्पतियों को उत्पन्न कर देते हैं। उत्पत्ति, स्थिति के साथ वे प्रलय का भी कारण हैं। यज्ञ इसी के मध्य की स्थिति है। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा यज्ञ में होना सत्य ही है। यज्ञ में जो पदार्थ, पात्र, घृत अग्नि, आहुति तथा मंत्रो का प्रयोग होता है वह

सबका सब ब्रह्म ही है। इस कारण यज्ञ में जो परिणाम होता है वह भी ब्रह्म ही है। इसीलिए यज्ञ की प्रतिष्ठा भी ब्रह्म में है और वह नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।

प्राणी मात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है अन्न से वर्षा होती है, वर्षा यज्ञ से होती है, यज्ञ को कर्मो से उत्पन्न हुआ समझो। कर्मो की उत्पत्ति वेद से होती है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न होना जानिए। इस कारण ब्रह्म ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान अग्रिम श्लोक कह रहे है।

मूल श्लोक संख्या– सोलह।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।

पदच्छेद :–

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम, न, अनुवर्तयति, इह, यः,

अघायुः, इन्द्रियारामः, मोघम्, पार्थ, सः, जीवति।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! जो पुरुष इस संसार में इस प्रवर्तित चक्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता है वह इन्द्रिय विषयों में रमण करने वाला पाप बुद्धि मुनष्य अनावश्यक जीता है।

व्याख्या :– श्री भगवान ने जिस चक्र का पूर्व में वर्णन किया है अर्थात् यह कहा है कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है। अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्मो से उत्पन्न होता है। कर्मो की उत्पत्ति वेदों से होती है और वेदों का प्रादुर्भाव अविनाशी ब्रह्म से हुआ है तथा वह अविनाशी ब्रह्म भी इसलिए यज्ञ में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इस चक्र को जो लोग नहीं मानते हैं। उनकी विचारधारा पृथक् प्रकार की होती है। वे किस विचार धारा को मानते हैं ?उसका भी वर्णन श्री भगवान ने 16वें अध्याय में किया था।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।। 16/8।।

यह जगत असत्य अर्थात् मिथ्या है बिना प्रतिष्ठा के, ईश्वर के बिना स्त्री पुरुष के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है। इस कारण मात्र काम ही इसका हेतु है। इसके अन्यत्र कुछ भी इसका हेतु नहीं है ऐसा मानते हैं।

उपरोक्त श्लोक में जिस तथ्य का वर्णन है। वह पूर्व वर्णित किए गए संसार के चक्र के विचार के प्रतिकूल है। आज के करोड़ों मनुष्यों की यही विचारधारा है कि यह संसार स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला है। अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति का अन्य कोई कारण नहीं है। इसका एक मात्र कारण **अपरस्परसम्भूतम्** ही है। इस भावना से कई तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्य उन्हीं को मानने लगता है और आचरण करने लगता है। मात्र कामनाऐं तथा उनकी पूर्ति हेतु प्रयास करता है। उसका एक मात्र उद्देश्य अपनी कामनाओं की पूर्ति रह जाता है। ऐसे व्यक्ति आस्तिकता का परित्याग भी कर देते हैं और नास्तिक हो जाते हैं। अपनों के सिवाय और क्षणिक आनन्द के सिवाय उन्हें कुछ प्रतीत नहीं होता है। कामनाओं की पूर्ति हेतु जीवों को विनिष्ट करते हैं और जीवनपर्यन्त आकांक्षाओं के वशीभूत रहते हैं। वृद्धावस्था आने पर समाज और परिवार से ऐसे ही व्यक्ति उपेक्षित हो जाते हैं। यह विचार मात्र पाप के आचरण में वृद्धि करता है तथा व्यक्ति को अनावश्यक कार्यो में फंसाता है और दुःखों का समूह एकत्र कर देता है।

श्री भगवान ने कहा था अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। यह कथन स्वीकार करने वाले भी हैं और अस्वीकार करने वाले भी हैं। आज का मनुष्य यह मानता है कि खेतों में समय से जुताई बुवाई आदि होती है तथा समय से कृत्रिम उपायों से पानी देते हैं तब अन्न की उत्पत्ति होती है। बिना श्रम के अन्न की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। ऐसे व्यक्तियों का विचार पुष्ट रहता है। वे भगवान के इस कथन को अधिक मान्यता नहीं देते हैं कि अन्न वर्षा से होता है। ऐसे विचार न रखने वाले लोग यह मानते हैं कि अन्न की उत्पत्ति श्रम से होती है। उसमें भगवान की कृपा का कोई महत्व नहीं है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि पृथ्वी पर भगवान की कृपा से बरसात होती है और यदि न होती तो जलस्तर बहुत नीचे पहुंच जाता। वहां पर हमारे कृत्रिम उपाय कार्य नहीं करते हैं। जहां पर वर्षा नहीं होती है वहा अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पशु–पक्षियों की मृत्यु होने लगती है लोग अन्न को तरसते हैं। ये वर्षा के न होने के कारण होता है। इस कारण अन्न वर्षा से होता है। यह स्पष्ट हो जाता है। इसके प्रतिकूल भाव रहना **नानुवर्तयतीह यः है।**

वर्षा का कारण यज्ञ है। भगवान के इस कथन को मानने वाले अर्थात् इस मान्यता

का विचार रखने वाले मनुष्य आज के संसार में अत्यधिक अल्पमात्रा में है। आज का मनुष्य तथा वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करने को लगभग तैयार नहीं है। वह नहीं मानता कि यज्ञ से वर्षा होती है। वर्षा का कारण वन जंगल हैं। इस तथ्य को आज का मनुष्य स्वीकार करता है। आज यह तथ्य प्रचलित हो रहा है कि वनों का संरक्षण करो उन्हें न काटो। यदि वन नहीं रहेंगे तो वर्षा नहीं होगी। यह विचार यह मान्यता भी उचित प्रतीत होती है। इस मान्यता की पृष्टि हेतु शोध हुए वह सही समझ में आते हैं। भगवान के ये शब्द कि यज्ञ से वर्षा होती है। यह कथन भी सही है। पूर्व समय में यज्ञों का सम्पादन वृहद स्तर पर होता था। स्थान स्थान पर आश्रम थे। इसी को आधार मानकर भगवान ने यह शब्द कहे है। श्री भगवान समस्त तथ्यों को जानने वाले हैं। वे त्रिकालज्ञ हैं। इस कारण उनके इस कथन को हमें मान्यता प्रदान करनी पड़ेगी। आज वर्षा का जो क्रम विकृत हो गया है अर्थात् वर्षा समय से नहीं होती है या बहुत अधिक होती है। वह यज्ञों के अनुष्ठान में कमी के कारण है। यज्ञों के सम्पादन के लिए मनुष्य के पास समय नहीं है। श्री भगवान का यह कथन कि यज्ञ से वर्षा होती है। इसको किसी प्रकार सिद्ध किया जा पाना संभव नहीं है परन्तु जो इस कथन को नहीं मानते हैं। उन्हीं के लिए श्री भगवान ने **नानुवर्तयतीह यः** कहा है।

यज्ञों की उत्पत्ति कर्म से होती है। यज्ञों की सम्पादन व्यवस्था अत्यंत सीमित हो जाने के कारण मनुष्य का विश्वास यज्ञों के सम्पादन में बहुत कम हो गया है। अनेक लोग कतिपय कारणों से या समाज में दिखावे के लिए यज्ञों का आयोजन करते हैं परन्तु वे यज्ञों के सम्पादन में विश्वास नहीं रखते उनका ऐसा मानना होता है कि यज्ञ में जो घृत और सामग्री का प्रयोग होता है वह अग्नि में अनावश्यक रूप से जल जाता है और यदि उसका उपयोग भोजन में कर लिया जाए तो स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है। उनकी दृष्टि में यज्ञ क्रिया का कोई महत्व नहीं है और वे उसे निर्रथक और अनावश्यक कर्म मानते हैं। यज्ञ के सम्पादन में जिन द्रव्यों और घृत आदि का प्रयोग होता है। द्रव्य अग्नि के सम्पक्र में आते हैं तो उनसे जो धुंआ आदि निकलता है वह हमारे वायुमंडल में फैल जाता है। जिससे वायु की शुद्धि होती है। देवताओं को उनका भाग प्राप्त होता है और वर्षा समय से हो ऐसा वातावरण बनता है। परन्तु जो लोग यज्ञों के सम्पादन के कारण में यह विचार नहीं मानते हैं। उनके लिए ही श्री भगवान ने यह कहा कि **नानुवर्तयतीह यः।**

भगवान ने आगे कहा कि कर्म की उत्पत्ति वेदों से होती है। वेदों में मनुष्य के

कर्तव्य कर्मो का विस्तार से उल्लेख किया गया है। वेदों में ही मनुष्य के वर्ण आश्रम धर्म का भी उल्लेख है। इसको पूर्व में व्याख्यापित किया गया है। इस तथ्य को भी आज का मनुष्य स्वीकार नहीं करता है। विश्व में पर्याप्त संख्या में लोग वेदों के विषय में जानते नहीं हैं। भारत में भी ऐसी ही स्थिति है कि हमारे राष्ट्र के जो आधारभूत व्यक्ति हैं जो उच्च सवैधानिक पदों पर कार्यरत है वे भी वेदों के विषय में जानकारी नहीं रखते। अर्थात् उनकी वेद विषयक जानकारी शून्य ही है। इसलिए वे इस तथ्य को मान्यता नही देते कि कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है। वे कर्मो की उत्पत्ति को मनुष्य से मानते हैं। अर्थात् मनुष्य ही कर्म करता है। इन्हीं विचार वाले पुरुषों के लिए श्री भगवान ने यह कहा कि **नानुवर्तयतीह यः।**

श्री भगवान ने आगे कहा कि वेदों का प्रादुर्भाव अविनाशी ब्रह्म से हुआ है। यह स्थिति स्पष्ट है। ब्रह्म से वेद तथा वेदों से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से वर्षा और वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणी की उत्पत्ति होती है। अर्थात्

ब्रह्म ——→वेद ——→ कर्म ——→ यज्ञ ——→ वर्षा ——→अन्न——→प्राणी।

ये प्रवर्तित चक्र है जिसके अनुसार मनुष्य को व्यवहार करना चाहिए। प्रवर्तित चक्र के व्यवहार का अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहले परमात्मा को माने, तत्पश्चात् वेदों को माने। वेदों मे जो कर्तव्य कर्म हैं उनको समझे। कर्तव्यकर्म रूपी कर्मो का आचरण करे। अपनी उत्पत्ति का हेतु अन्न है यह मान्यता दृढ़ रखे तथा अन्न की उत्पत्ति हेतु वर्षा आधारभूत **तत्त्व** है। इस अवधारणा को दृढ़ कर ले। इस सृष्टि का प्रवर्तित चक्र न मानने वाले के लिए श्री भगवान ने **नानुवर्तयतीह यः** कहा है अर्थात् जो लोग इस चक्र को नहीं मानते हैं वे **अघायुरिन्द्रयारामो** अर्थात् अनावश्यक जीते हैं।

परमात्मा का विषय श्रद्धा का विषय है और हमें परमात्मा के अस्**तित्त्व** पर विचार करना चाहिए। यह मान्यता दृढ़ हो जाने पर मनुष्य साधक हो जाता है। दूसरी ओर जो परमात्मा के अस्**तित्त्व** को स्वीकार नहीं करता और स्वीकार न करने के कारण परमात्मा की ओर नहीं बढ़ता है वह संसार की ओर बढ़ जाता है। यह सब संसार है। संसार में इन्द्रियों के सुख, का समूह है। हम यदि परमात्मा की ओर नहीं बढ़ते हैं तो संसार के सुख की ओर बढ़ जाते हैं उनमें रमण करते हैं। क्योंकि उसमें सहजता प्रतीत होती है। रमने में अच्छा लगता है। इसके प्रतिकूल परमात्मा का संसार है जिसमें परमात्मा के संदर्भ के विषय है और इसी को अध्यात्म कहा जाता है। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों से सुखानुभूति करता है

तो उस सुख की अनुभूति में वह खो जाता है। रम जाता है। साधारणतः अधिकांश मनुष्यों की अपने इन्द्रिय सुखों मे रूचि रहती है। जिस प्रकार मनुष्य सर्दी में गर्म स्थान में रहने की इच्छा करता है और गर्मी में ठंडे स्थान में रहना चाहता है यह इन्द्रियों का आराम है। सुस्वादु भोजन करना और न मिलने पर दुःख का आभास करना। सुस्वादु भोजन में सुख की अनुभूति और स्वादरहित भोजन में दुःख का आभास। यही मनुष्य का लक्षण है। अच्छे शब्दों में सुख का आभास, कटु शब्दों में दुःख का अनुभव यह इन्द्रिय विषयों के कारण होता है और जो लोग शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि पांच विषयों में नित्य निरन्तर रमण करते हैं वे परमात्मा के अस्तित्त्व को मानते हुए भी उसकी अनुभूति करने की ओर नहीं बढ़ पाते हैं। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयों का परित्याग कर देता है वह पुनः आस्तिक होकर परमात्मा की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील होता है। जब हम इन्द्रियों के विषय में तल्लीन होकर उनका आनन्द लेते हैं तो हम **इन्द्रियारामः** कहे जाते हैं और जब हम इन्द्रियों के भोगों में तन्मय हो जाते हैं तो हमारा जीवन व्यर्थ हो जाता है इसी **तत्त्व** को प्रकट करने के लिए **अघायुरिन्द्रयारामो मोघं पार्थ स जीवति** अर्थात् इन्दिय्र भोगों में रमण करने वाला व्यक्ति इस पृथ्वी पर बेकार ही जीता है।

श्री भगवान ने इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग में जो उपर्युक्त कथन किया है उसमें अघायु पद का भी प्रयोग किया है। अघायु का अर्थ पाप बुद्धि होता है और पाप बुद्धि पुरुष निरर्थक ही जीवित रहता है। इस कथन के दो तथ्य हैं। प्रथम तथ्य यह है कि **इन्द्रियारामः** पापात्मा अर्थात् पाप बुद्धि हो जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि वह निरर्थक ही जीवित रहता है। **इन्द्रियारामः** मनुष्य पापात्मा कैसे हो जाता है ? उसकी बुद्धि पाप में कैसे फंस जाती है ? इसे समझे। जब मनुष्य सुख भोगता है आनन्द का अनुभव करता है और इसके पूर्व सुख और आनन्द की चाहना करता है तो सुख और आनन्द को प्राप्त करने में निरन्तर व्यस्त रहता है परन्तु सुख और आनन्द की सीमा नहीं है। वे असीमित हैं। असीम होने के कारण मनुष्य एक के पश्चाात् एक ऐसे कृत्य करता है जो उसको पतन की ओर ले जाते हैं अनेक पाप कर्मो में उसे लिप्त कर देते हैं उसकी बुद्धि पापमय हो जाती है और उसका जीवन निर्रथक हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य है जो इसके लिए प्रयत्नशील नहीं होता वह निश्चित ही पाप कर्मो में लगा रहता है ओर जो इसके लिए प्रयत्नशील हो जाता है वह पाप से निवृत्त हो जाता है। प्रथमतः भोगों की

कामना करना और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना तथा उसी में अपना समय नष्ट करना। यह पाप आत्मा पुरुष का लक्षण है और ऐसे पापात्मा पुरुष का जीवन व्यर्थ हो जाता है। इसी कथन को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने कहा **अघायुरिन्द्रयारामो मोघं पार्थ स जीवति**।

शास्त्रों, विद्वानों, मनीषियों, संतों, दार्शनिकों का यह मत है कि परमात्मा की अनुभूति कर लेना ही इस जीवन का लक्ष्य है। यह परम उद्देश्य फलीभूत हो जाए। शीघ्र ही इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाए। इसके लिए मनुष्य को प्राण प्रण प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य यदि इन्द्रियों के सुखों में लिप्त हो जाता है तो वह पाप ही करता है। पाप ही भोगता है। पापों की लिप्तता में जीवन निरर्थक हो जाता है। हमारा कोई उद्देश्य हो और हम इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्य ही न करें तो उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में हमारा अभीष्ट नहीं मिलता है और हमारा समय भी बच जाता है। हम एक गृहस्थ का कर्तव्य कर्म जब पालन करते हैं तो अपने परिवार की सेवा के लिए उनके जीवन यापन के लिए श्रम करते हैं। यदि श्रम ही न करें तो हमारा जीवन व्यर्थ ही कहा जाएगा। इसी प्रकार एक साधक का कर्तव्य है कि वह भगवान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय करे। साधना करें। यदि वह नहीं करता है तो उसका समय निरर्थक हो जाएगा। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने कहा कि जो इस प्रवर्तित तथ्य को नहीं मानता है अर्थात् न तो परमात्मा को मानता है और न वेदों को मानता है और न यज्ञों को मानता है वह प्राणी निर्रथक जीता है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ है और ऐसा व्यक्ति मृत व्यक्ति के समान है। उसका जीवन निर्रथक हो जाता है सार्थक नहीं रहता। इसलिए हमें सृष्टि के इस क्रम को मानना चाहिए।

श्री भगवान ने अग्रिम दो श्लोकों में उन महापुरुषों का वर्णन किया है जो आत्म संतुष्ट हैं, आत्मरत हैं और उनके लिए कोई कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रह गए हैं।

मूल श्लोक संख्या–सत्रह व अठ्ारह।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।

पदच्छेद

यः, तु, आत्मरतिः, एव, स्यात्, आत्मतृप्तः, च, मानवः,

आत्मनि, एव, च, संतुष्टः, तस्य, कार्यम्, न विद्यते।।

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अकृतेन, इह, कश्चन,

न, च, अस्य, सर्वभूतेषु, कश्चित्, अर्थव्यपाश्रयः।।

भावार्थ :– जो साधक आत्मरत हैं, आत्मतृप्त हैं, स्वयं में ही संतुष्ट हैं उस उत्कृष्ट साधक के लिए कोई भी कार्य नहीं है। उस उत्कृष्ट साधक का इस जगत में कार्य करने का और न करने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि इसका समस्त भूत प्राणियों से किंचित मात्र भी स्वार्थपरक सम्बंध नहीं है।

व्याख्या :– वाणी को मन में निरूद्ध करना, मन को बुद्धि में विलीन करना, बुद्धि को जीवात्मा में विलीन करना तथा जीवात्मा को परमात्मा में एकाकार करना ये एक क्रिया है। इसको क्रियात्मक स्वरूप में लाना विशिष्ट कार्य है। संसार जब समाप्त होता है तब यह संभव हो पाता है। अर्थात् जब तक संसार से सम्बंध रहता है तब तक यह असंभव रहता है। यह संभव हो जाने पर साधक की स्थिति उत्कृष्ट हो जाती है। उत्कृष्टता की प्रतीती आत्मरति है, आत्मतृप्ति है, आत्म संतुष्टि है। इस जगत में जब तक सूर्य तथा अग्नि अर्थात् बिजली आदि का प्रकाश रहता है तब तक अंधकार प्रतीत नहीं होता है और जब सूर्य आदि का प्रकाश विलुप्त हो जाता है तब चारों ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होता है वैसे ही जीवन में जब तक प्रकाश नहीं आता तब तक मनुष्य अंधकार में ही रहता है। इस तथ्य से एक बात स्पष्ट होती है कि संसार में प्रकाश के लिए सूर्य आदि की आवश्यकता होती है और यदि सूर्य आदि नहीं रहते अर्थात् रात्रि होती है तो स्वतः ही अंधकार हो जाता है। जिस संसार से हम सम्बंध रखते हैं उस संसार में अंधकार ही अंधकार है। संसार में जो भी वस्तुऐं है जो भी स्थितियां हैं जिनसे हम सम्पर्क रखते हैं वे सब अंधकार से लिप्त हैं

और उन्हीं वस्तुओं में हम खोये रहते हैं। जब तक संसार में रति रहती है तब तक हम संसार में तृप्ति खोजने का प्रयास करते हैं और संसार में संतुष्टि का प्रयास रहता है तब तक हमारे जीवन में अंधकार रहता है। क्योंकि संसार में आत्मरति भी नहीं संतुष्टि भी नहीं है और तृप्ति भी नहीं है।

आत्मरति साधना की निरन्तरता से आती है। जिस प्रकार सांसारिक व्यक्ति संसार के क्षेत्रों में रम जाता है संसार के कर्मो में रमने की स्थिति आपने स्वतः स्वयं ही अनुभव की होगी। हम बाल्यावस्था से अब तक संसार में ही रहे हैं प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना पृथक्–पृथक् कार्य है और हम सभी अपने पृथक्–पृथक् कार्य में रमे रहते हैं। अधिकांश व्यक्ति कहते हैं कि हमारे पास समय नहीं है बहुत काम है। आज तो हम मिल नहीं पायेंगे क्योंकि हम व्यस्त हैं। आपका कार्यक्रम अन्य स्थान पर है। इसलिए हमारा मिलना संभव नहीं हो पाएगा। इतना काम मनुष्य के पास है कि उसे मरने की फुर्सत नहीं है। इतना कार्य बढ़ा हुआ है कि परिवार के बारे में भी वह सोंच नहीं पाता है। लोग कहते हैं कि क्या करें रात्रि में भी कार्य करना पड़ता है दिन में तो फुर्सत नहीं रहती और रात्रि में भी चार पांच घंटे ही सोने का समय मिलता है। इस प्रकार की व्यस्तता अनेक मनुष्यों के जीवन में रहती है। कुछ विशिष्ट लोग इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि उनसे मिल पाना संभव नहीं होता है। मिलने का कार्यक्रम मिलने पर ही हम उनसे कुछ मिनट ही मिल पाते हैं और इसके लिए भी बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है। हम सभी विशेष लोगों से मिलना चाहते हैं और उनके पास आपसे मिलने का समय नहीं है। तो विशिष्ट लोगों से मिलने की जो इच्छा है वह हमारे अपने स्वार्थ के कारण है और हमी लोगों ने उन्हें विशिष्ट बनाया है। परमात्मा को इस ब्रह्मांड का सर्वाधिक विशिष्ट व्यक्ति है परन्तु हम उससे मिलने का प्रयास नहीं करते और जब प्रयास नहीं करते तो उससे मिलना संभव भी नहीं हो पाता है। क्योंकि हम कहीं और रत है। हमारी रति संसार में है।

इस संसार रति के प्रतिकूल आत्मरति है। संसार के विषय में कुछ भी विचार न करना संसार की स्थिति के बारे में कुछ भी न सोंचना। सांसारिकता को तिलांजलि दे देना, संसार के विषय भोगों से पूरी तरह निवृत्त हो जाना। संसार में क्या हो रहा है ? उसकी ओर से अपनी दृष्टि को सहजता से हटा लेना। संसार में रत और चेष्टा करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्ध समाप्त कर लेना। भोजन जैसा प्राप्त हो जाये, जो भी सहजता से उपलब्ध हो वह पूर्ण सात्त्विक हो और वैसा ही उसे ग्रहण कर लेना। अपना प्रिय या अपना

अप्रिय जो सामने आये उसमें समान भाव रखना। प्रिय और अप्रिय में अंतर अर्थात् भेद को समाप्त कर देना। यह स्थिति भावपूर्ण है जो लानी पड़ती है। ऐसी स्थिति सहजता से उपलब्ध नहीं होती। वाणी को मन में निरूद्ध करना यह क्रिया है। इससे पूर्व भी एक क्रिया है वाणी को परमात्मा के नाम जप में लगा देना, नाप जप, मंत्र जप साधक को आरम्भ करना चाहिए। जिस प्रकार एक बालक प्रथमतः अक्षर का ज्ञान करता है। पहले प्रथम अक्षर का ज्ञान करता है और धीरे–धीरे उसे समस्त अक्षरों का ज्ञान हो जाता है। उसे पहले पढ़ाया जाता है और वह अभ्यास करता है अभ्यास करते करते उसमें निरन्तरता आ जाती है और उसे अ अक्षर से ज्ञ तक का बोध हो जाता है। अक्षर बोध के लिए उसे वस्तुओं को सांकेतिक रूप से समझाया जाता है। अक्षर बोध और उनसे सम्बंधित वस्तुओं का बोध यह एक साथ चलता है। अक्षर भी समझ में आता है और वस्तु भी बालक के संज्ञान में आ जाती है। इसी प्रकार वाणी से मंत्र का जप करना अर्थात् भगवान के नाम का उच्चारण करना यह प्रारम्भिक स्थिति है। यह शनैः शनैः परिपक्वता की ओर स्थिरता की ओर जाती है। पहले कुछ समय तक परमात्मा के नाम का जप चलता है, परन्तु इस नाम जप में सांसारिकता बाधक होती है और वह नाप जप को विस्मृत करती है या उसमें व्यवधान डालती है। सांधक की सांसारिकता जैसे जैसे समाप्त होती जाती है वैसे वैसे नाप जप में स्थिरता आती जाती है। यह साधक के प्रयास और सांसारिकता के परित्याग से शीघ्र हो जाता है। अर्थात् वैराग्य का भाव उदय हो जाना इसकी पुष्टता का आधार है। इसमें साधक को प्रयत्नपूर्वक निरन्तरता लाने का प्रयास करना चाहिए। नाप जप में अंतर का समापन शीघ्रता से नहीं होता और जब तक नाप जप में अंतर रहता है तब तक स्थिरता और निरन्तरता नहीं आती। तब तक साधक अंतर रहित स्थिति को प्राप्त भी नहीं कर पाता। परमात्मा के नाप जप की अंतररहित स्थिति साधना की उच्च स्थिति है।

वाणी जप के भी अनुभव की कई स्थितियां हैं। एक प्रकार के जप में साधक की ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती है अर्थात वह किस मंत्र का या परमात्मा के किस नाम का जप कर रहा है यह सुन सकते हैं। यह स्थूल स्थिति है। दूसरे प्रकार के जप में ओठ तो हिलते हैं पर ध्वनि नहीं निकलती। तीसरे प्रकार के जप में जो भगवान के नाप का स्मरण होता है वह मात्र कंठ से होता है। उसकी प्रतीति या उसका आभास मात्र साधक ही करता है। अन्य को उस जप का आभास नहीं होता। यही स्थिति नाप जप की उत्कृष्ट स्थिति कही जाती है, जो शीघ्रता से नहीं आती। कंठ जप में साधक दूसरों से बातचीत भी

करता रहता है अर्थात् वह सांसारिक व्यवहार करता रहता है और जप भी करता रहता है। तीनों प्रकार के भगवान के नाम के स्मरण को अर्थात् जप रूपी क्रिया को मनीषियों ने वर्गीकृत किया है। इस स्थल पर इतना समझना चाहिए कि वाणी से अर्थात् कंठ से जो निरन्तर भगवान के नाप का जप होता है उस जप के लिए जो निरन्तरता प्राप्त होती है वह अंतर रहित स्थिति कही जाती है। यह स्थिति आत्मरति की पहली अवस्था है। यह अवस्था साधना से प्राप्त हो जाती है। वाणी जप की निरन्तरता से स्वतः ही कई लाभ प्राप्त होने लगते हैं। साधक शान्त होने लगता है। उसका चित्त संसार के चिंतन से और विषयों से विरत होने लगता है। संसार के भोगों के प्रति उसमें अनासक्ति का भाव आने लगता है। यह संसार निरर्थक प्रतीत होता है। स्वप्न के समान आभासित होता है। वाणी जप में निरन्तरता आ जाती है तो उस वाणी का मन में लय करना पड़ता है। यह भी एक प्रक्रिया है। आत्मरति स्थिति प्राप्त होने की दूसरी स्थिति है। मन को साधारणतया प्रमथनशील और चंचल कहा जाता है। वाणी जप के साथ उसका तारतम्य बिठाना पड़ता है। जिस प्रकार दो वाहन एक ही दिशा में जा रहे हो एक ही पथ पर चल रहे हो तो उन्हें साथ साथ चलाने के लिए दोनों चालकों को प्रयत्न करना पड़ता है। एक ही गति पर संचालन करना पड़ता है। एक गति पर चलने के लिए वाहन में जो नियंत्रण प्रणाली है उस पर नियंत्रण करना पड़ता है। वाहन की गति में तभी सामंजस्यता आ पाती है। इसमें पर्याप्त सावधानी भी बरतनी पड़ती है। थोड़ी सी असावधानी में सामंजस्यता टूट जाती है समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब हम भगवान के नाप के जप में तारतम्यता स्थापित कर लें तो उसे मन के साथ स्थापित करने का प्रयत्न करें। भगवान के नाम का जो जप हो उनका स्वरूप मन में आभासित होना चाहिए। चूंकि वाणी तो जप करती है परन्तु जब तक चंचल और प्रमथन शील स्वभाव का मन संसार में घूमा करता है तब तक जप के साथ मन की सामंजस्यता नहीं स्थापित हो पाती। यह आत्मरति स्थिति के प्रतिकूल बात है। वाणी से भगवान के नाप का जप हो और उनका स्वरूप भी साथ में प्रकट हो तो यह स्थिति आत्मरति की स्थिति कही जाती है।

मन तथा बुद्धि दोनों की गति को वाणी के साथ लगायें। क्योंकि मन के संकल्पों का विकल्प बुद्धि के द्वारा संभव हो पाता है और मन के विचार बुद्धि के द्वारा विनिश्चत किये जाते हैं। जो भी सांसारिक चिंतन है वह पूरी तरह से समाप्त करें। भगवान के स्वरूप में मन और बुद्धि को लगा दें। वाणी से जप की निरन्तरता स्थापित करें। इस कार्य में

संसार तथा विषय भोगों का चिंतन सर्वाधिक हानिप्रद है। अपनी मन बुद्धि से संसार को समाप्त करना है अर्थात् हम संसार के विषय में जो भी चिंतन कर रहे हैं वह सबका सब निरूद्ध करें। जिस प्रकार किसी पात्र में जल रोकने के लिए उसे छिद्र विहीन बनाना पड़ता है उसी प्रकार हमें आत्मरति स्थिति को प्राप्त करने के निमित्त मन बुद्धि रूपी पात्र के छिद्रों को समाप्त करना पड़ता है। संसार के विषयों के प्रति घृणा बुद्धि करनी पड़ती है। संसार की नश्वरता का ध्यान करना पड़ता है। जो हमारे पास हमारे से सम्पर्कित हैं वह है ही नहीं क्षणिक हैं, समाप्त होने वाले हैं, वह निश्चित रूप से समय के साथ समाप्त हो जायेंगे। यह विचार दृढ़ करना पड़ता है। यह विचार दृढ़ करने पर मन बुद्धि को हम रोक सकने में समर्थ हो जाते हैं और जब तक यह विचार दृढ़ नहीं होता तब तक मन बुद्धि दोनों स्थिर नहीं रहते हैं।

वाणी जप की निरन्तरता का तथा भगवान के स्वरूप में मन तथा बुद्धि का लय हो जाना यह आत्मरति का दूसरा आयाम है। दूसरी स्थिति है। यह उत्कृष्ट साधना है जो शीघ्रता से साधक को प्राप्त नहीं होती है। मन बुद्धि के साथ वाणी जप का तारतम्य जब बैठता है तो साधक को अपनी उत्कृष्टता का आभास स्वयं रहता है। स्वतः हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक प्रफुल्लित रहता है। उसमें आतंरिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव हो जाता है उसके अंतर में स्वतः प्रसन्नता रहती है। इस स्थिति की विशिष्ट पहचान है कि वह साधक उदिग्न नही होता। किसी भी घटना से विचलित नहीं होता। वाणी मन बुद्धि की सामंजस्यता हो जाने पर साधक को अपनी स्थिति संसार से पृथक् प्रतीत होती है। वैसे हम सभी सामान्य रूप से संसार में रहते हैं यह एक सामान्य स्थिति है। धनी निर्धन, मूर्ख और विद्वान में तो भेद हो सकते हैं, परन्तु सामान्य मनुष्य की स्थिति में कोई भेद नहीं होता। यह अंतर उत्कृष्ट साधना से प्रतीत होने लगता है। उत्कृष्ट साधक में और सामान्य व्यक्ति में अंतर आ जाता है। तर्क संगत बातें करना तर्कपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करना, संक्षिप्त बोलना, श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण को तत्काल जान लेना। यही इसकी पहचान है। यही इसका लक्षण है। यह आत्मरत की दूसरी स्थिति समझनी चाहिए।

आत्मरति की तीसरी स्थिति स्वयं के अनुभव की है। उस अनुभव में निरन्तरता का आभास होने लगता है। चन्द्रमा के प्रकाश की प्रतीती, चन्द्रमा की प्रत्यक्ष प्रतीती यह समझने योग्य तथ्य है। दोनों को समझे। साधक विशेष रूप से इस स्थिति को जानें। साधना में रत साधकगण इसके संकेत को समझे। बादलों में छिपे हुए चन्द्रमा को हम देख

नहीं पाते। बादल हटने पर उसका स्पष्ट दर्शन हम सभी करते हैं। उसका प्रकाश हमें प्रतीत होता है। चन्द्र दर्शन भी होता है। दोनों एक साथ होते हैं। जब चन्द्रमा दिखा तो वैसे ही उसी क्षण उसका प्रकाश भी प्रतीत होता है। बादल हट गया, कोहरे का विनाश हो गया। कोहरे के गहन होने पर सूर्य की रोशनी भी ढक जाती है। इसी प्रकार अज्ञानतारूपी कोहरे से आवृत व्यक्ति बार बार अंधकार में उसी प्रकार गिरता है। जिस प्रकार अंधकार के पथ में यात्रा करने वाला व्यक्ति अपने गंतव्य को प्राप्त नहीं होता। ऐसा पथिक पथ में गिरता है। आत्मा का प्रकाश वाणी जप तथा मन बुद्धि की तारतम्यता से प्रतीत हो जाता है। यह स्थिति आत्मरति की अंतिम स्थिति है।

स्थिति प्राप्त होने पर इस स्थिति की निरन्तरता रखनी भी पड़ती है। पश्चात् में भी हो जाती है। प्राथमिक स्थिति तो रखनी पड़ती है। परिपक्वता होने पर स्वयं ही रहती है। क्योंकि परिपक्वता होने पर भगवान का संसर्ग हो जाता है और संसार से विरक्ति हो जाती है। मोह समाप्त हो जाता है। परमात्मा से आत्मरत साधक का सम्बन्ध रहता है। वह साधक से सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः आत्मरति स्थिति साधना की सिद्ध स्थिति है जिसमें साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ब्राहमी की स्थिति आ जाती है। जिस प्रकार सूर्य निकलने पर प्रकाश निरन्तर रहता है। समाप्त नहीं होता है। उसी प्रकार सिद्ध हो जाने पर भी साधक आत्मरति की स्थिति में सदैव रहता है। उसे इसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। यह स्थिति प्रयत्नशीलता से परे है।

हम सभी सांसारिक भोगों में तन्मय हो रहे हैं। भांति भांति के सांसारिक विषयों का आप अवलोकन करें। विषयों में और उनके ग्रहण करने की तन्मयता में कितनी प्रबलता है? सम्पूर्ण जगत ही उसमें समाहित हो गया है। विषयों के असंख्य प्रकार नित्य निरन्तर प्रकट हो रहे हैं। उद्भवित हो रहे हैं बन रहे हैं। लोग विषयों में से विषय निकाल लेते हैं। भोगों में से भोग निकाल लेते हैं। शाखा प्रशाखायें स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। नये नये प्रकार, नित्य नयी विधियां, नवीन विधाऐं और प्रक्रिया निरन्तर ही अन्वेषित की जा रही है। पुराने मूल्यों, पुराने मौलिक आयामों में नवीनता खोजने का प्रयास चल रहा है। विषय एक वस्तु है जिसका कार्य मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर देना है। मनुष्य की सही चेतना विकृत करने का कार्य विषय भोगों के द्वारा ही किया जाता है। जैसे मदिरापान है। वह मनुष्य के मस्तिष्क को ही विकृत कर देती है। उचित क्या है ? अनुचित क्या है ? इसके विवेक को समाप्त करने का कार्य करती है। हम सब यही कार्य कर रहे हैं। परन्तु हम स्वयं ही विकृत

हो रहे हैं। हम स्वयं भी अपनी चेतना को बिगाड़ते हैं। यह प्रमुख कार्य है। मदिरा के भी अनेक प्रकार खोजे गये हैं। अनेक प्रक्रियाओं से उन्हें ग्रहण किया जाता है। बहुमूल्य मदिरा में अनेक प्रकार की विकृतियां हैं। पर आपने क्या विचार किया है कि मूल्य के आधार पर भी हम अपने मस्तिष्क को कितना विकृत कर रहे हैं। सभी प्रकार की मदिरा हमारी चैतन्यता को ही तो विकृत करती है। हमारे मस्तिष्क की क्रिया विधि को ही तो बिगाड़ती है। कम मूल्य की हो या बहुमूल्य हो उसका परिणाम क्या है ? इस विषय पर हम कभी विचार नहीं करते हैं और उस विषरूप **तत्त्व** में आनन्द का तृप्ति का आभास करने का प्रयत्न करते हैं। यह कितनी आश्चर्यप्रद बात है कि लोग उसमें रत हैं। संसार का अधिक समुदाय और अधिकाधिक जनसंख्या इसी माध्यम से अपने मस्तिष्क को विकृत करने का कार्य करती है।

संसार में इसी प्रकार से अनेक व्यसन हैं। जिसमें रत होकर मनुष्य तृप्ति का और संतुष्टि का अनुभव करता है। वह ऐसे व्यसनों में आनन्द का आभास करता है। एक धनाढ्य व्यक्ति ग्रीष्मकाल में ठंडे स्थानों में जाता है। क्योंकि उसे गर्मी में रहना पसंद नहीं है। कोई पूछता है कि ऐसे स्थानों में क्यों जाते हैं ? तो उसका उत्तर होता है वहां बहुत लोग आते हैं और तरह तरह के आनन्द प्राप्त करते हैं। यहां पर पसीना बहता रहता है। वहां पसीने का नाम नहीं है। आनन्द ही आनन्द है। सर्वत्र हजारों लोग आते हैं घूमते हैं हर तरह की व्यवस्था रहती है। इस प्रकार वह तृप्ति का अनुभव करता है उसमें संतुष्ट रहता है। यह रत रहना, संतुष्ट रहना, तृप्त होना सांसारिक है। मृग तृष्णा की भांति है। समाप्त होने वाला है। अस्**तित्त्व** विहीन है। क्षणिक है। फिर भी जब हम सांसारिक वस्तुओं में इतना रत हो जाते हैं तृप्ति का अनुभव करते हैं और तृप्ति का यह मिथ्याभास ही हमारे विनाश का कारण होता है।

एक उत्कृष्ट साधक ने परमात्मा में रत रहकर परमात्मा का संसर्ग प्राप्त कर लिया है उसकी तृप्ति और संतुष्टि की तो कोई कल्पना किया जाना संभव नहीं है। सांसारिक भोगों की कल्पना इसके आगे ठहरती नहीं है। संसार तथा परमात्मा में तृप्ति तथा संतुष्टि का कोई मिलान नहीं है उसकी कोई तुलना नहीं है। परमात्मा की तृप्ति, संतुष्टि अतुलनीय है। गीता ज्ञान के प्रथम खण्ड में भोगों की तीव्रता का वर्णन हमने किया था। इस स्थल पर पुनः करना पड़ रहा है। यह वृहदारण्यक उपनिषद से लिया गया है। जिसमें अनेक प्रकार के पृथक् पृथक् लोकों के आनन्द का वर्णन हुआ है :–

1– मनुष्य लोक का एक आनन्द :– मनुष्य, समस्त प्रकार से सुदृढ हो और संसार के समस्त प्रकार की भोग सामग्रियों से युक्त हो तथा संसार के स्वामित्व की स्थिति में हो तो इसे मनुष्य लोक का एक आनन्द कहा जाता है।

2– पितृ लोक का एक आनन्द :– उक्त मनुष्य लोक के 100 आनन्दों के बराबर है।

3– गंधर्व लोक का आनन्द :– उक्त पितृ लोक के 100 आनन्दों के बराबर है।

4– कर्म देवों का एक आनन्द :– उक्त गंधर्व लोक के 100 आनन्दों के बराबर है।

5– अजान देवों का एक आनन्द :– उक्त कर्म देवों के 100 आनन्दों के बराबर है।

6– प्रजापति लोकों का एक आनन्द :– उक्त अजान देवों के 100 आनन्दों के बराबर है।

7– ब्रह्म लोक का एक आनन्द :– उक्त प्रजापति के 100 आनन्दों के बराबर है।

इस प्रकार मनुष्य लोकों के दस शंख आनन्द ब्रह्मलोक के एक आनन्द के तुल्य हैं। यह आनन्द का विषय रुप है।

जिस आनन्द में हम रत रहते हैं तथा तृप्ति और संतुष्टि का अनुभव करते हैं वह बहुत तुच्छ है। निकृष्ट है। हमारी सांसारिक भोगों में रतता, तृप्तता, संतुष्टि से परमात्मा की रतता, तृप्ता, संतुष्टि में किसी भी प्रकार की तुलना नहीं है। प्रजापति लोक का जो आनन्द है वह परमात्मा के अनुभव आनन्द के समकक्ष तुच्छ है। यह तो एक तथ्य है जिसे हम अनुभव करते हैं। हमारा परमात्मा से संसर्ग हो जाने पर हमारी स्थिति अत्यंत उत्कृष्ट हो जाती है। जिस मनुष्य ने इस संसर्ग की स्थिति का अनुभव कर लिया है तथा उस परमात्मा की दया का अनुभव कर लिया है उसके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं हो सकता। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है। परमात्मा सर्वोच्च सत्ता है उसका आभास शीघ्रता और सहजता से नहीं होता। परन्तु जब भावना या क्रिया से हो जाता है तब कुछ भी पाना अवशेष नहीं रहता है। हम सब सांसारिक वस्तुओं को पाने की कामना में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं और उन वस्तुओं को स्थितियों को प्राप्त करके उसमें तृप्ति और संतुष्टि का अनुभव करते हैं यह सामान्य प्रक्रिया है। परमात्मा की प्राप्ति हो जाये तो कुछ पाना अवशेष नहीं रहता। अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो जाता है। सब कुछ प्राप्त हो जाने पर साधक रत हो रहता है। उसे आत्म संतुष्टि प्रतीत होती है अर्थात् तृप्ति का आभास हो

जाता है। कुछ पाने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। यह नियम है, यह विधि है, यह प्रक्रिया है। जब सब कुछ प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्राप्ति अवशेष नहीं रहती तो उसके लिए कर्तव्य कर्म नहीं रह जाता। कर्तव्य कर्म तब तक रहता है जब तक स्वयं के लिए या दूसरों के लिए कुछ प्राप्त करना अवशेष रहता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर श्री भगवान कहते हैं **कार्यं न विद्यते** अर्थात् कोई कार्य नहीं रहता। कोई कर्तव्य कर्म नहीं रहता। कर्तव्य कर्म अवशेष कहा रहता है। समाप्त कब हो जाता है ? कर्म की स्थिति जब तक रहती है जब तक व्यक्ति संसार से कुछ पाने का प्रयास करता है और जब कुछ पाने का भाव समाप्त हो जाता है तो कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

कर्तव्य कर्म मात्र सिद्ध मनुष्यों के लिए नहीं रहता क्योंकि उसने वह वस्तु प्राप्त कर ली है। उस **तत्त्व** का आभास कर लिया है जो कर्म का सर्वोच्च लक्ष्य है। कर्म का सम्पादन वहां पर समाप्त हो जाता है। भगवान इस तथ्य को और स्पष्ट करते हैं तथा जो श्लोक कहते हैं वह तीन तथ्यों में विभक्त हैं। तीन स्थितियों को प्रकट करता है।

1– इस जगत में वह कोई कर्म करे उसका कोई अर्थ नहीं है।

2– इस जगत में वह कोई कर्म न करे इसका भी कोई अर्थ नहीं है।

3– क्योंकि वह सिद्ध पुरुष का इस जगत के मनुष्यों से कोई स्वार्थपरक सम्बन्ध नहीं रखता।

परमात्मा में रत हो जाना, उसमें तृप्त हो जाना और उसमें संतुष्ट हो जाना यह दुर्लभ स्थिति है पर सिद्ध मनुष्यों को सुलभ हो जाती है। संसार में बहुत प्रकार के कर्म हैं। परन्तु जो भी प्रकार हैं वह कर्म सबके सब संसार के उद्देश्यों की पूर्ति कराते हैं। दूसरा उसका अन्य कोई अर्थ नहीं है। यह तथ्य स्पष्ट है। दूसरा तथ्य यह है कि हम जो कुछ भी कर्म करते हैं वह स्वार्थवश करते हैं। बिना स्वार्थ के कोई कर्म नहीं होता। हम अपने परिवार को पालते पोसते हैं। अपने बच्चों को पढ़ाते लिखाते हैं तो भी हमारा एक उद्देश्य रहता है। मन में भी यह भाव रहता है कि जब हमारा शरीर नहीं चलेगा तो वह सहायता करेगा। वृद्धावस्था में शरीर के बोझ को थामेगा। बीमार होने पर हमारी चिकित्सा करायेगा। यह भावना रहती है। हमारे जीवन का सिद्धान्त कुछ इसी तथ्य पर आधारित है। हमारे कर्मो का अर्थ रहता है। कुछ न करने का कोई अर्थ नहीं रहता। हम जो करते हैं वह

दूसरों के निमित्त करते हैं और स्वार्थ की भावना से करते हैं। अधिकांशतः जो दूसरों के निमित्त होता है। वे भी अपने ही होते हैं। या तो वे परिवारीजन होते हैं या इष्ट मित्र होते हैं या सम्पर्कित लोग होते हैं। इस प्रकार स्वार्थ भावना से कर्म होता है और जब तक स्वार्थ भावना से कर्म होता है तब तक मनुष्य कर्मयोगी नहीं हो पाता है। वह जगत के प्रपंचों में ही घूमा करता है।

प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक जीवन में दिनचर्या होती है। प्रातः से रात्रि तक उसी क्रम से वह चलता रहता है। प्रातः से रात्रि तक जो भी कर्म होता है उसका अर्थ तथा अभिप्राय अवश्य होता है। यहां तक कि जो आवश्यक कार्य व्यक्ति करता है उसका अर्थ तथा अभिप्राय होता है। कुछ व्यक्ति समय काटने के लिए नाना प्रकार के कर्म करते रहते हैं। उसका अर्थ समय काटना होता है। यह मनोरंजन करना होता है। हम सभी जो भोजन करते हैं उसका अभिप्राय भूख अर्थात् क्षुधा का समापन होता है। हम जो भी अध्ययन करते हैं। उसका अर्थ जानकारी का एकत्रीकरण होता है। हम इसी प्रकार जीवन पर्यन्त कार्य करते रहते हैं। उसका एक अर्थ होता है अभिप्राय होता है। उद्देश्य होता है। सिद्ध मनुष्य की कोई सामान्य दिनचर्या नहीं होती है और होती भी है तो उसका कोई अर्थ नहीं होता । वह प्रातःकाल उठकर ब्रह्ममुहुर्त में ध्यान कर सकता है। पूजा उपासना कर सकता है। नहीं भी कर सकता है। क्योकि ध्यान पूजा उपासना का जो अंतिम परिणाम है अर्थात् जो **तत्त्व** की अनुभूति है वह उसे पहले ही प्राप्त कर चुका है। इसलिए पूजा उपासना ध्यान आदि ऐसे पुरुषों के लिए औपचारिकता है वह करता भी है तो ठीक है और नहीं भी करता है तो भी ठीक है। क्योंकि पूजा उपासना ध्यान का जो आत्यंतिक परिणाम है जिसे **तत्त्व** की उपलब्धि कहा जाता है वह उसे प्राप्त हो चुका है। हम जो भी कर्म करते हैं उसमें किसी वस्तु क्रिया स्थिति को प्राप्त करने के लिए करते हैं। यदि वह प्राप्त हो जाये तो उस कर्म का औचित्य समाप्त हो जाता है। यही इस विषय में भी है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि सिद्ध पुरुषों के लिए कोई कर्म अवशेष नहीं रहता है।

एक सामान्य व्यक्ति पर जगत के संसार के नियम लागू होते हैं। पर सिद्ध पुरुष पर लागू नहीं होते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए जो कर्तव्य कर्म हैं। वह सिद्ध के लिए कदापि नहीं है। सामान्य व्यक्ति की जो दिनचर्या है वह सिद्धों की नहीं होती। यह तथ्य देखकर सामान्य व्यक्ति भ्रमित हो जाता है। श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध में विद्याधर चित्रकेतु की एक कथा आती है। चित्रकेतु सुमेरु पर्वत की मनोरम स्थली में बिहार करता

था। वह शारीरिक रूप से अत्यंत बलवान था। संतजन आदि उसकी स्तुति में संलग्न रहते थे। उसके पास भगवान का दिया गया एक दिव्य विमान था। वह उससे कभी भी कहीं भी जा सकता था। एक बार वह भगवान शंकर के निवास स्थान पर पहुंच गया। उस समय भगवान शंकर की सभा में ऋषि मुनि सिद्धजन महर्षि बैठे हुए थे। भगवान शंकर की प्रिया माता पार्वती भी बैठी हुई थी। भगवान शंकर एक हाथ से उनका आलंगन करते हुए अपने आसन पर आरूढ़ थे। चित्रकेतु भगवान शंकर की महिमा तथा उनके कर्म स्वरूप को न समझ करके उनके इस कृत्य पर अपने विमान से ही उनका उपहास करने लगा। चित्रकेतु ने अपने मद में चूर होकर यह कहा कि भगवान शंकर आप तो समस्त विश्व के गुरू हैं जगत गुरू की पदवी से विभूषित हैं। परन्तु संत महापुरुषों की सभा में अपनी पत्नी को लज्जा का परित्याग करके उनका आलिंगन कर रहे हैं। यह आपका निलज्जतापूर्ण कृत्य है। यह सुनकर भगवान शंकर ने कुछ नहीं कहा तथा उसके इस कृत्य पर वह हंसने लगे। माता पार्वती ने चित्रकेतु को असुर होने का श्राप दे दिया। इस दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि सिद्ध सत्ता जगत में जो कुछ क्रिया करता है उसका कोई अभिप्राय नहीं होता। उसके कर्म जगत के नियमों के प्रतिकूल भी हो सकते हैं परन्तु अधिकांशतः प्रतिकूल होते नहीं है। क्योंकि प्रतिकूलता तथा अनुकूलता का उसके लिए कोई अर्थ नहीं होता। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं कि सिद्ध पुरुषों के लिए कोई कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता।

सामान्य व्यक्ति का कार्य स्वार्थ से परिपूर्ण होता है। जब वह दूसरों के लिए कार्य करता है तो यह आकांक्षा करता है कि दूसरे भी उसके लिए कर्म करें। वह दूसरों को लाभ पहुंचाता है तो यह अपेक्षा करता है कि दूसरे उसे भी लाभ का कुछ अंश प्रदान करें। सामान्य व्यक्ति दूसरों का यदि कोई सहयोग करता है तो उसके मन में यह भाव रहता है कि दूसरे व्यक्ति भी उसका सहयोग करें। इसी भावना से इस संसार की समस्त क्रियाऐं चलती रहती हैं और समग्र व्यवहार होता रहता है। यह व्यवसायिक भावना है जो समस्त जगत में व्याप्त है। हमारे सम्पूर्ण कर्म स्वार्थपरक भावना को लेकर होते हैं। इस संसार में बड़े बड़े व्यवसाय इसी के आधार पर चलते हैं। विशाल सम्मेलन, विशाल वार्ताऐं दो पक्षों के मध्य बातचीत का यही आधार है। यह विशुद्ध स्वार्थपरक भावना है तथा स्वार्थपरता की नीति के आधार पर चल रही है। जब मनुष्य इस भावना के और इस सिद्धान्त के ऊपर हो जाता है तो वह जो भी करता है उसमें किसी प्रकार की स्वार्थी भावना नहीं रहती है। वह दूसरों से अपेक्षा नहीं करता है। किसी गरीब व्यक्ति की सहायता करना। किसी बीमार

व्यक्ति की सेवा करना। किसी असहाय को सहारा देना। किसी आवश्यकता वाले व्यक्ति की सहायता करना। वह उसके प्रतिफल के रूप में कुछ नहीं चाहता। उन व्यक्तियों के कार्य बिना किसी स्वार्थ की भावना को लेकर होते हैं। यही सिद्ध पुरुष का विशेष लक्षण है। उसे अपने कार्य के परिणाम की आवश्यकता नहीं रहती है। वह समग्र प्राणियों को निस्वार्थ भाव से सब कुछ देता है। उसकी यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि उसका किसी से कोई स्वार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्री भगवान के कथन का यही अर्थ है।

श्री भगवान ने यह श्लोक विशिष्ट रूप से सिद्धों की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु प्रस्तुत किया है। सिद्ध जन कोई भी कार्य करते हैं तो उसका कोई अर्थ नहीं है। यदि वे कोई कार्य नहीं करते हैं तो भी उसका कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि सिद्ध पुरुषों का किसी व्यक्ति से कोई स्वार्थपरक सम्बन्ध नहीं होता। सिद्ध पुरुष स्वार्थ रहित होकर कार्य करते हैं। एक बार एक व्यक्ति एक संत के दर्शनार्थ गया। संध्याकाल था। सूर्य अस्त होना चाह रहे थे। जब वे दर्शन के लिए प्रकट हुए तो वे भोजन कर रहे थे। संध्याकाल में संतगण साधना करते हैं। भोजन तो संध्याकाल में निषिद्ध माना जाना है। मेरे मन में यह तथ्य आया भी परन्तु इस बात को मैं समझ नहीं सका। पर यह विचार गीता के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि संत जन सामान्य नियमों से आबद्ध नहीं होते हैं उनके लिए समस्त सामान्य नियम समाप्त हो जाते हैं। शास्त्रों में जो सामान्य नियम है वह सामान्य पुरुषों के लिए हैं। विशिष्टजन अर्थात् सिद्धपुरुष उनका अतिक्रमण कर जाते हैं।

श्री भगवान ने इसी तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए अग्रिम श्लोक का प्रकटीकरण किया है और यह बताया है कि आसक्ति विहीन कर्म करने का क्या परिणाम होता है ?

मूल श्लोक संख्या–19

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्यचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।

पदच्छेद :–

तस्मात्, असक्तः, सततम्, कार्यम्, कर्म, समाचर,
असक्तः, हि, आचरन्, कर्म, परम्, आप्नोति, पूरुषः।।

भावार्थ :– इस कारण सतत आसक्ति विहीन होकर कर्म का व्यवहार करें। क्योंकि आसक्ति विहीन होकर कर्म के व्यवहार से पुरुष परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या :– हम जो भी कर्म करते हैं वह अपनी इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति तथा मन से भोगों को भोगने के लिए करते हैं। यह सबका सब आसक्तिपूर्ण कर्म है। हम विचार करें कि हमारे जो भी कर्म हैं उनमें एक तो विशेष रूप से हमारे इन्द्रिय सुख की कामना का भाव रहता है और दूसरे हमारे अपने परिवार और सगे सम्बंधियों के हित का भाव रहता है। यह दो तथ्य ऐसे हैं जिनके लिए हम जीवन पर्यन्त कार्य करते हैं। इन्द्रिय सुख किसी कारणवश न मिले तथा हमारे सम्पर्कित व्यक्ति परेशान हों तो हम स्वतः उदिग्न हो जाते हैं। यह सामान्य बात है। इसी को शास्त्रों में परिभाषित करते हुँए आसक्ति का स्वरूप कहा है। श्री भगवान ने भी इसी को आसक्ति कहा है। हमें किसी कारणवश धूप में रहना पड़े। सर्दी झेलनी पड़े। कतिपय कारणों से बरसात में रहना पड़े तो यह सबकी सब प्रतिकूल परिस्थितियां हैं जिनके आने पर हम स्वतः ही उदिग्न हो जाते हैं। क्योंकि धूप में रहना, सर्दी झेलना, कतिपय कारणों से बरसात में रहना यह प्रतिकूलता है। जिसमें हमें कष्ट का अनुभव होता है। भयंकर गर्मी में उमस रहती है और यदि अनुकूलता न हो तो उदिग्नता आ जाती है। सर्दी में किसी कारणवश बाहर रहना पड़े। वस्त्र आदि का उचित प्रबन्ध न हो तो उद्विग्नता आना स्वाभाविक है। यह विषय भोगों के कारण होता है। हम सर्दी और गर्मी जैसी प्रतिकूल स्थितियों से बचना चाहते हैं। यह इसलिए है कि हमें इसमें दुःख का आभास होता है। हमारे समस्त कार्यकलाप इसी के समापन के लिए होते हैं। यह सब आसक्ति का एक स्वरूप है। सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख क्षणिक हैं। इसे सहन करें। यह सहनशीलता ही आसक्ति विहीनता है। सर्दी गर्मी में यदि हम उद्विग्न हो गए और सुख दुःख आने पर हमें व्यग्रता का अनुभव हुआ तो इसका अर्थ है कि हम आसक्ति में हैं। यह एक सामान्य तथ्य प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक इन्द्रिय और उससे सम्पर्कित प्रत्येक सुख भोग प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रियों के रूप में हमारे स्वजन भी हैं। उन्हीं का प्रतिरूप हैं। हमारा कोई सम्पर्कित व्यक्ति कहता कि हमें आपने अमुक विषय का भोग नहीं कराया तो यह उसकी आसक्ति है। कोई विषय हो यदि स्वयं अकेले ग्रहण कर लेते हैं। अन्य व्यक्ति भी जब यह जानते हैं कि ऐसा हमने किया है तो उनके मन में यह लालसा होती है कि वह भी इसमें सम्मिलित हों। इस सम्बंध में जहां जहां तक विचार करेंगे तो उसमें एक समानता प्रतीत होगा। यह समस्त कार्य तथा वस्तु एक समान है

जिसमें हम सभी आसक्त हैं और इसी प्रकार से कार्य कर रहे हैं।

श्री भगवान ने कहा **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'** इस कारण निरन्तर आसक्ति विहीन होकर कर्म का भली प्रकार से व्यवहार कर। आसक्ति विहीन होकर कर्म करना क्या है ? यह समझना पड़ेगा। हम सब कर्म करते हैं परन्तु उसका उद्देश्य अपने सुख तथा अपनों के सुख की ओर रहता है। इसका त्याग हमें करना पड़ेगा। इसे सुगमता से समझने के लिए एक कवि का यह भाव देखिए।

वृक्ष कभी न फल भखै। नदी न संचै नीर।

परमारथ के कारनै साधुन धरा शरीर।।

वृक्ष कभी अपने फल नहीं खाता, नदी कभी अपने लिए जल का संचय नहीं करती तथा दूसरों के हितार्थ साधुजन मानव शरीर का धारण करते हैं। यह प्राचीन कवि का भाव आसक्ति विहीन कर्मो का उदाहरण है। जिसे उसने सहजता से समझाने के लिए प्रस्तुत किया है। हम विचार करें कि हम सब कुछ अपने लिए करते हैं। यहां तक कि धनवान व्यक्ति अनावश्यक कार्यो में क्षणिक सुख के लिए जो धन बर्बाद करते हैं उससे अनेक गरीब व्यक्तियों की पेट की क्षुधा समाप्त हो सकती है। आज के समाज में इस प्रकार के अनेक कार्य हो रहे हैं जिनसे दंभाचरण होता है। न तो उससे अपने को और न ही दूसरों को लाभ होता है। यह घोर आसक्ति का उदाहरण है। इस आसक्ति दोष से आज अधिकांश लोग आवृत हैं। इसका कोई अर्थ नहीं है। न ही इसका कोई अभिप्राय है। परन्तु यह आसक्ति दोष विषदरूप से समाज में व्याप्त हो गया है।

प्रथम चरण में हम अपने कार्यो का अवलोकन करें यह देखें कि हमारे कार्यो में कितना भाग अपने लिए है ? और कितना भाग अपनों के लिए है ? यदि सम्पूर्ण कार्य हम अपने लिए कर रहे हैं और अपनों के लिए कर रहे हैं तो हम आसक्ति रूप दोष से पूरी तरह से ढके हुए हैं। यह स्थिति अत्यंत निकृष्ट है। हमारे पास जो धन है, ऐश्वर्य है, पद है, प्रतिष्ठा है, सम्पत्ति है वह अपने लिए ही खर्च करना अर्थात् स्वयं के लिए खर्च करना। अपनों के लिए प्रयुक्त करना। अर्थात् अपने परिवारी, सम्बन्धी जनों के लिए खर्च करना यह आसक्ति रूप दोष में पूरी संलग्नता है। हम अपने धन, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति का

कुछ भाग दूसरों की सेवा में लगायें। उन लोगों की सेवा में लगाये जो अत्यंत गरीब हैं, दीन, हीन हैं, जिनके पास खाने को अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने को आवास नहीं है, हमारा झुकाव उस ओर होगा तो हमें आत्म संतुष्टि का आभास होगा। इस सहायता रूपी कार्य में दिखावा नहीं होना चाहिए। बहुत से लोग अपनी प्रतिष्ठा के लिए अपने सम्मान तथा वाहवाही के लिए यह सब करते हैं। यह आसक्ति विहीन कर्म नहीं है। जिस कर्म से कुछ चाहत हो अर्थात् प्रतिष्ठा मिले, सम्मान मिले वह आसक्ति विहीन कर्म नहीं है वह आसक्ति युक्त कार्य है। आज के युग में बहुत से लोग अन्याय से धन कमाकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके धन एकत्रित करते हैं वह कुछ गरीबों के लिए खर्च कर देते हैं उसका कोई विशेष अर्थ नहीं होता। वह आसक्ति विहीन कार्य नहीं है।

हमने यदि अन्याय से अपने पद का दुरुपयोग करके कुछ धन एकत्र कर लिया है कुछ सम्पत्ति बना ली है तो वह हमारे साथ मृत्यु के उपरान्त जाने वाली नहीं है। यही रहने वाली है। अंततः धन और सम्पत्ति हमारा साथ छोड़ देगी। अन्याय से अर्जित धन तो साथ नहीं जाएगा परन्तु अन्याय रूपी कर्म जो आसक्ति से किया गया है वह हमारे साथ अवश्य जाएगा और हमें इस लोक में भी तथा मृत्यु के उपरान्त जाने वाले लोक में भी उसका दुष्परिणाम स्वयं ही भोगना पड़ेगा। इस कारण हम जिस स्थिति में है उसमें हमें आसक्ति का परित्याग करके अपने लिए तथा अपनों के लिए ही कर्म नहीं करना चाहिए। हो सकता है यह विचार आपको व्यवहारिक रूप से वास्तविक प्रतीत न हो परन्तु वास्तविकता यही है हम जो भी कार्य अपने लिए करते हैं अपनों के लिए करते हैं अपने तथा अपनों के सुख हेतु करते हैं वह सबका सब आसक्तियुक्त है उससे ही हमारा बंधन हो जाता है। हम जितना कार्य दूसरों के हित के लिए करेंगे दूसरों के कल्याण के लिए करेंगे और उसमें फलेच्छा का त्याग रहेगा तो यही आसक्तिविहीनता से किया गया कर्म माना जाता है। पूर्व में हमारे पूर्वजों ने इसी प्रकार कर्म किए हैं। पशु–पक्षी भी अपने लिए अपने रहने की व्यवस्था कर लेते हैं यदि हमने मात्र अपने लिए तथा अपनों के लिए कार्य किया तो हम पशु पक्षी की श्रेणी में आ जाते हैं मानव की श्रेणी से पृथक् हो जाते हैं।

श्री भगवान ने अनासक्त भाव से निरन्तर कार्य करने को कहा है। इसका अर्थ है कि हमारे समस्त कार्य सतत अनासक्ति रूप से होने चाहिए। उसमें आसक्ति का त्याग हो

जाना चाहिए। हम श्री भगवान के इस वचन के प्रतिकूल अपने तथा अपनों के लिए सतत कार्य कर रहे हैं। यही आसक्ति का भाव है। एक व्यापारी प्रातः से रात्रि तक अपना व्यापार करता है और यह विचार करता है कि किस प्रकार से हम अपने व्यवसाय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करें ? इस कार्य हेतु वह दूसरों को ठगने का और मूर्ख बनाने का प्रयास करता है। यह प्रक्रिया एक दिन की नहीं है। जीवन पर्यन्त की है। वह अपने पुत्रों को भी व्यवसाय में अधिक लाभ कमाने की विधि बताता है। वह सिखाता है कि हम किस प्रकार से दूसरों को अधिक से अधिक पागल बनाकर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह कार्य व्यापारी तो स्वयं करता है और अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा देता है। प्रारब्धवश इस कार्य से धन तो आ जाता है और उस धन से हम अनेक सम्पत्तियां खरीदते हैं बनाते हैं। समाज के लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने बहुत विकास किया है। बड़ा धन एकत्र कर लिया है। वह कहां था ? और कहां पहुंच गया ? यह सब सतत आसक्ति है जो हमारे आसक्ति भाव से कार्य करने को प्रकट करती है।

एक धनवान व्यक्ति ने बहुत सा धन कमाया और उसने अपने रहने के लिए एक भव्य भवन का निर्माण कराया। उस भवन का मूल्य करोड़ों अरबो में है। उसमें सम्पूर्ण सुविधाऐं हैं उसके रखरखाव के लिए अनेक नौकर चाकर है। भवन में यह सम्पूर्ण व्यवस्था है। जो उसे देखता है वह सम्मोहित हो जाता है। क्योंकि इतनी अधिक सुन्दरता उस भव्य भवन में भरी गयी है। इस प्रकार भवन का स्वामी उस भवन की अनेक सुख सुविधाओं का उपयोग करता रहता है। सुख सुविधाऐं भोगता है। परन्तु यह सब सुख सुविधाऐं कब तक भोगा जा पाना संभव है उसकी सीमाऐं हैं। समय का बंधन है। जिस प्रकार एक गरीब व्यक्ति को काल समाप्त कर रहा है। काल का अस्तित्त्व उस भव्य महल में भी है। काल उस भव्य भवन सहित स्वामी को भी समाप्त कर रहा है। कुछ वर्षो पश्चात् काल के प्रभाव से उसकी मृत्यु हो जाती है। उस भवन में जो आसक्ति है वह समाप्त नहीं हुई है। परन्तु आसक्ति करने वाला समाप्त हो गया है। यह वास्तविकता है। यथार्थ का दर्शन है। इसमें कोई दो मत नही हैं। यह सब आसक्ति भाव से हुआ है। अपने लिए जो कुछ बनाया गया वह काल के प्रभाव से समाप्त हो गया है। वह हमारे साथ जाने वाला नहीं है परन्तु वस्तु के प्रति जो आसक्ति है वह साथ जाने वाली है। यह सतत आसक्ति है और इसके प्रतिकूल जो भाव है वह आसक्ति विहीनता का भाव है।

हमने जो उपरोक्त प्रकार के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उससे हमें अपनी स्थिति का अवलोकन कर लेना चाहिए। हम संसार में जो कुछ कर रहे हैं जिस कार्य में व्यस्त हैं उसमें अपनी आसक्ति का अनुमान लगा लेना चाहिए। हम अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य कर रहे होंगे। यह निश्चित है कि हो सकता है हमारी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जावे परन्तु उसमें जो कुछ भी हमें मिला है वह सबका सब नाशवान है और उसमें ही हमारी प्रियता हो जाती है यही निरन्तर आसक्ति है। खेत में जो अन्न उत्पन्न होता है उसका उपयोग खेत नहीं करता है वह हमारे लिए उत्पन्न होता है। विचार करें कि यदि खेत में जो कुछ उत्पन्न होता है वह खेत ने ही जमा कर लिया होता उसका उपभोग कर लिया होता तो संभवतः खेत में अन्न का ऊंचा पहाड़ लग गया होता और वह समय के साथ खराब हो जाता है। अन्न खराब होता तो उसका उपयोग दूसरों के लिए नहीं होता। उससे दूसरों की भलाई नही होती। खेत ने अपनी गोद में से जो कुछ अन्न उपजाया है वह दूसरों के उपभोग के लिए प्रस्तुत किया है, दे दिया है। उससे अनेक लोगों का जीवन सुरक्षित हुआ है। यह कार्य खेत ने बहुत लम्बे समय से किया है। सतत किया है। श्री भगवान का यह कथन **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'** का एक उदाहरण है। यही अनासक्त भाव है कि खेत जो कुछ भी उत्पन्न करता है वह दूसरों के हित के लिए करता है स्वयं के लिए नहीं करता। हम सब स्वयं के लिए करते हैं।

इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग में श्री भगवान ने कहा **'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** ये पद कहे हैं। इसका अर्थ होता है अनासक्त भाव से जो पुरुष कर्म करता है वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। नदियों में जल रहता है तो अन्य लोग उसका उपयोग करते हैं। नदी जल बांटती है। उससे अनेक नहरे निकाली जाती हैं। नदी का जल हम सभी असंख्य लोगों के पीने के कार्य में आता है तथा जल का उपयोग हम अनेक प्रकार से करते हैं। नदी अपने जल का स्वयं उपयोग नहीं करती। उसका यही स्वभाव है कि वह अपने जल का उपभोग दूसरों की सेवा के लिए करती है। नदी जब इस तरह का कार्य करती है तो उसे संतोष होता है। नदी का यह कार्य अनासक्त भाव के कार्य जैसा है वह सदियो से निरन्तर अनासक्त भाव से कार्य कर रही है और अंततः अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में विलीन हो जाती है। जल अधिक होने पर उसे अन्य लोगों को समर्पित कर देती है। कम होने पर समुद्र उसे वर्षा के द्वारा फिर

फलीभूत कर देता है और वह जो कुछ भी जल अपने पास रखती है उसे संचित नहीं करती वह दूसरों के उपयोग के लिए समर्पित कर देती है। यही अनासक्त भाव है। इस प्रकार वह अंततः समुद्र में विलीन हो जाती है। अर्थात् अपने परम उद्देश्य को प्राप्त कर लेती है। नदी एक लम्बे मार्ग पर बहती है जैसे मनुष्य का जीवन चलता है। नदी का उद्देश्य समुद्र को प्राप्त करना है और मनुष्य का उद्देश्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना है। नदी अपनी यात्रा में दूसरों के हित के लिए ही कार्य करती है। हम भी यदि ऐसा कर सके तो निश्चित ही अपने मानव जीवन के परम उददेश्य को प्राप्त करने में सफल हो सकेंगे। यही श्री भगवान के **'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** का अर्थ है। इस संसार में अनासक्त भाव से जो साधक कर्म करते हैं वे अपना सब कुछ बिना किसी अपेक्षा के दूसरों को समर्पित कर देते हैं। ऐसा करने पर वे अपने लक्ष्य परमात्मा को स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। यह कर्मयोग का विशिष्ट स्वरूप है। गरीबों के लिए, असहायों के लिए, उचित पात्रों के लिए जो मनुष्य जीवन पर्यन्त लगे रहते हैं उनके कल्याण के लिए कार्य करते हैं वे साधना करते हुए प्रतीत नहीं होते परन्तु उनका यह कार्य उनको उत्कृष्ट कोटि का साधक बना देता है। कार्य की यह उत्कृष्टता उन्हें परमात्मा से मिला देती है। ऐसे साधक स्वयं के लिए भवन नहीं बनाते हैं स्वयं के लिए धन एकत्र नहीं करते हैं सबके हित के लिए कार्य करते हैं। ऐसा करने से उन्हें परमात्मा स्वयं प्राप्त हो जाता है। हमारा जो बंधन है वह स्वयं के लिए कर्म करने के कारण है। हम अपने लिए काम नहीं करें दूसरों के लिए करे दूसरों के हित की बात विचारे तो परमात्मा इससे प्रसन्न होता है क्योंकि परमात्मा स्वयं भी दूसरों के हित के लिए कार्य करता है। यही परमात्मा का विशिष्ट गुण है। परमात्मा की तरह से जो मनुष्य कार्य करता है वह भी परमात्मा के समान उत्कृष्ट कर्मयोगी हो जाता है और उसे भी परमात्मा की उपलब्धि हो जाती है। **सर्व भूत हितेरताः** अर्थात् समस्त भूत प्राणियों के हित में जो लगा हुआ है वह परमात्म स्वरूप हो जाता है। कर्मयोग का विशिष्ट मंत्र जान जाता है यही श्री भगवान के उपरोक्त कथन का भाव है कि ऐसा साधक जो आसक्ति विहीनता से कार्य करता है वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

श्री भगवान इस श्लोक के उपरान्त एक विशिष्ट श्लोक प्रस्तुत करके जनक आदि राजाओं के सम्बन्ध में विशिष्ट तथ्य कह रहे हैं इस श्लोक में लोक संग्रह को दृष्टिगत् रखकर कर्म करने की बात कह रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–बीस।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।

पदच्छेद :–

कर्मणा, एव, हि, संसिद्धिम्, आस्थिताः, जनकादयः,

लोकसङ्ग्रहम्, एव, अपि, सम्पश्यन्, कर्तुम्, अर्हसि।।

भावार्थ :– राजा जनक आदि आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसी कारण लोकसंग्रह को दृष्टिगत् रखकर आसक्तिरहित कर्म करने के तू योग्य हैं।

व्याख्या :– राजा जनक के बारे में एक कथा शास्त्रों में आती है एक बार एक ऋषि ने अपने शिष्य को ब्रह्म विद्या का उपदेश लेने के लिए राजा जनक के पास भेजा। शिष्य शास्त्रों में पारंगत विद्वान था वह गुरू की आज्ञा के अनुसार ब्रह्म विद्या का उपदेश लेने हेतु राजा जनक के राज्य में गया। राजा जनक को जब यह तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने उसका सम्मान किया जब शिष्य को राजा जनक के राजमहल में पहुंचाया गया तो वह अत्यंत आमोद प्रमोद में व्यस्त थे। जिस स्थान पर वे आमोद प्रमोद में व्यस्त थे उसी स्थान पर उस शिष्य को बुलाया गया। शिष्य ने राजा को आमोद प्रमोद में संलग्न देखा तो उसके मन में यह विचार आया कि जो मनुष्य भोगों में तन्मय हो रहा है वह मुझे ब्रह्म विद्या का क्या उपदेश देगा ? परन्तु गुरू की आज्ञा के अनुसार उसने महाराजा जनक से ब्रह्म विद्या के उपदेश की याचना की। महाराजा जनक ने शिष्य के मन में आये हुए विचार को जान लिया और उन्होंने शिष्य की याचना स्वीकार की। राजा जनक ने शिष्य को तेल से भरा हुआ पात्र देकर सम्पूर्ण राजमहल की शोभा देखने को कहा और उसे यह निर्देश दिया कि पात्र से तेल बाहर न गिरे। शिष्य को सम्पूर्ण राजमहल के ऐश्वर्य को दिखाया गया परन्तु उसकी दृष्टि तो तेल से भरे हुए पात्र पर थी इस कारण उसने राजमहल के किसी वैभव को नहीं देख पाया। वापस आने पर राजा ने शिष्य से राजमहल की सुन्दरता और वैभव के बारे में पूछा तो उसने उत्तर दिया कि मैं राजमहल के वैभव को देख नहीं पाया क्योंकि मेरी दृष्टि तो तेल से भरे हुए पात्र पर थी। राजा ने तब उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश देते

हुए कहा कि सांसारिक भोगों में रहकर भी जो मनुष्य परमात्मा में अपनी दृष्टि तैल पात्र की तरह लगा देता है वह परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। हमारी दृष्टि जब सांसारिक भोगों में तन्मय हो जाती है तो हम परमात्मा से दूर हो जाते हैं और जब हमारी दृष्टि परमात्मा में संलग्न हो जाती है तो हम सांसारिक भोगों में रहते हुए भी परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं यही ब्रह्म विद्या का विशिष्ट आशय एवं उपदेश है।

मनुष्य की आसक्ति कर्मो में रहती है। सांसारिक भोगो में रहती है तो वह भोगासक्त हो जाता है और आसक्तिविहीनता की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता। सामान्य रूप से मनुष्य सांसारिक भोगों में आसक्त रहते हैं और यह आसक्ति की भावना ही सिद्धि में बाधक है। सिद्धि होने पर आसक्ति का भाव नहीं रहता। **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** अर्थात् आसक्ति रहित कर्मो से जनक आदि राजा सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं। इसके पूर्व में **'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** कहा गया है। 19वें श्लोक का उत्तरार्ध तथा 20वें श्लोक का पूर्वार्ध जोड़कर जो भाव बन रहा है उसे गंभीरता से देखे।

'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।।

आसक्ति रहित कर्म का आचरण करता हुआ साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है अर्थात सिद्ध हो जाता है। आसक्ति रहित कर्मो के आचरण से ही जनक आदि राजा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे।

महाराजा जनक ने सिद्धि कर्मो में अनासक्त भाव से आचरण करने के कारण प्राप्त की थी ऐसा श्री भगवान का कथन है। जनक के साथ आदि पद लगाकर यह स्थिति स्पष्ट की गयी है कि जनक की तरह से ही अन्य राजाओं ने भी सिद्धि अनासक्त भाव से कर्माचरण के द्वारा प्राप्त की थी। कर्मणा के साथ एव शब्द लगाकर यह स्पष्ट किया गया है कि आसक्ति विहीन कर्मो से सिद्धि प्राप्त हो जाती है और हम भी आसक्ति रहित कर्मो को करके ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि आमोद प्रमोद और भोगों में रहकर भी राजा जनक भोगों में आसक्त नहीं थे। यह सिद्ध की स्थिति है वह अनेक प्रकार के सांसारिक भोगों का संयोग होने पर विचलित नहीं होता है। न ही उसमें कोई प्रतिक्रिया होती है और वह उदासीनवत् भाव से स्थिर रहता है। जबकि एक सामान्य

व्यक्ति के अन्दर भोगों को देखकर हलचल होती है और वह भोगों को ललचायी हुई दृष्टि से देखता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है। सुन्दर सुस्वादु भोजन देखकर सुन्दर सुस्वाद भोजन ग्रहण करने की इच्छा यदि होती है यही आसक्ति है। सिद्ध मनुष्य में यह ललचानापन नहीं होता है वह शान्त और स्थिर रहता है। जिस प्रकार वायु से शान्त स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है हिलती डुलती नहीं है। उसी प्रकार सिद्ध मनुष्य भोगों के प्रति कतई आकृष्ट नहीं होता है।

सामान्य व्यक्तियों को जब राजा महाराजाओं तथा आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्तियों के यहां भोजन करने का अवसर प्राप्त होता है तो वह प्रफुंल्लित हो जाता है क्योंकि उसने इस प्रकार के भोजन देखे ही नहीं हैं। सम्पन्न पुरुषों के यहां अनेक प्रकार के विशिष्ट व्यंजन रहते हैं। लेकिन व्यंजनों को देखकर सिद्ध पुरुष उन्हें ललचायी हुई दृष्टि से नहीं देखता है तथा उनको ग्रहण करके भी उनके स्वाद को अपनी स्मृति में नहीं रखता है। जबकि एक सामान्य व्यक्ति स्वाद ले ले कर भोजन ग्रहण करता है और वह ऐसी विशिष्ट व्यवस्था में आसक्त हो जाता है। समय आने पर वह उसका वर्णन भी करता है तथा वैसा ही भोजन प्राप्त करने की इच्छा भी करता है। हम जिस किसी स्तर के व्यक्ति होते हैं उसी स्तर की हमारी सुख सुविधाएं होती हैं और जब हम अपने स्तर से बहुत आगे जाकर अनेक प्रकार के व्यंजनों का स्वाद लेते हैं तो उनमें आसक्त हो जाते हैं और जो कोई साधक अनेक प्रकार के व्यंजनों और सांसारिक भोगों में आसक्त नहीं होता है उसे ही सिद्ध माना जाता है। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है कि आसक्ति विहीनता से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है उसमें परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है। समय के साथ परिस्थिति के साथ रूचि के अनुकूल जब व्यंजनों का और भोगों का संयोग होता है तो हम उनमें डूबना चाहते हैं इसी को आध्यात्म की भाषा में आसक्ति कहा जाता है और यदि न डूबना चाहे तो यही साधना है जो हमें सिद्धि तक ले जाती है।

एक सिद्ध पुरुष पृथक्–पृथक् प्रकार के व्यंजन देखता है उसकी दृष्टि में खट्ठा मीठा कडुवा कुछ भी नहीं है स्वाद का पृथक्–पृथक् आनन्द नहीं है। वह सभी को समभाव से देखता है उसमें कोई ललचाने का भाव नहीं है। अनेक प्रकार के व्यंजन उसे सामान्य प्रकार के लगते हैं उनमें कोई अंतर प्रतीत नहीं होता है। उसके समक्ष यदि हम 56 प्रकार के व्यंजन परोसते हैं तो साधक की दृष्टि उनके प्रति समभाव से रहती है। वह न तो किसी क्रम से खाता है और न ही उनमें आसक्त होता है वह केवल अपनी क्षुधा को

समाप्त करने के लिए भोजन करता है। हम जब भोजन में स्वाद खोजते हैं तो आसक्ति में पड़ जाते हैं आसक्त हो जाते हैं और जब उसमें क्षुधा की निवृत्ति का भाव खोजते हैं तो अनासक्त भाव से ओत प्रोत हो जाते हैं। यह स्थिति एकदम स्पष्ट है आसक्ति और अनासक्ति के भाव को समझाने वाली है।

जनक आदि ज्ञानीजनों ने सांसारिक भोगों में स्वाद की खोज नहीं की। वह भोगों को निर्विकार भाव से देखते थे। उनकी दृष्टि में वह परमात्म था उनकी दृष्टि में भोग नहीं था। राज्य के लोगों के प्रति वह उदासीनत भाव से व्यवहार करते थे। यदि वह व्यवहार न करते तो श्री भगवान ने जनक का नाम पहले नहीं लिया होता। यह अनासक्ति भाव ही उन्हें सर्वोच्च स्थिति में पहुंचाता है। हमें भी अनासक्ति भाव से सिद्धि प्राप्त होगी और हमसे भी पूर्व जिन मनुष्यों को प्राप्त हुई है वह भी अनासक्ति भाव से हुई है जो सिद्धि प्राप्त हुई है उसमें पहले भी वही तत्त्व था और आज भी वही तत्त्व है। जो सिद्धि जनक आदि ने प्राप्त की थी उसे हम भी प्राप्त कर सकते हैं। बस अनासक्त भाव को प्रकट करने का कार्य हमें करना है। यहां पर भोजन का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया परन्तु यह उदाहरण समस्त भोगों के सम्बन्ध में गहराई से विचार करने के सम्बन्ध में है। समस्त भोगों में अनासक्त भाव होना चाहिए तभी हम परमसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं।

श्री भगवान ने 20वें श्लोक के उत्तरार्ध में **लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि** अर्थात् लोकसंग्रह को दृष्टिगत् रखकर आसक्तिविहीन कर्म करने के तू योग्य है। ऐसा श्री भगवान क्यों कह रहे है ? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने 21वां श्लोक कहा है। 20वें श्लोक के इस उत्तरार्ध अंश का सम्बन्ध में 21वें श्लोक से है। इसलिए 20वें श्लोक के इस उत्तरार्ध अंश की व्याख्या 21वें श्लोक के अंश के साथ की जाएगी। श्री भगवान द्वारा कहे गए 21वें श्लोक के भाव का अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक संख्या– इक्कीस।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

पदच्छेद :–

यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः, तत्, तत्, एव, इतरः, जनः,

सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोकः, तत्, अनुवर्तते।।

भावार्थ :– (लोक संग्रह को दृष्टिगत् रखकर आसक्तिविहीन कर्म करने के योग्य है) क्योंकि उत्कृष्ट व्यक्ति जैसा जैसा कर्म करता है अन्य व्यक्ति भी उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं। उत्कृष्ट व्यक्ति जो प्रमाण प्रस्तुत करता है उसी के अनुसार अन्य भी व्यवहार करते हैं।

व्याख्या :– सृष्टि के आदिकाल से दो प्रकार के पुरुष रहे हैं श्रेष्ठजन तथा सामान्यजन। श्रेष्ठजन जैसा जैसा व्यवहार करते हैं वैसा वैसा अन्य लोग भी आचरण करने लगते हैं यही लोक संग्रह कहा जाता है अर्थात् समस्त प्रजा राजा आदि श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण देखकर व्यवहार करने लगती है यथा राजा तथा प्रजा की उक्ति बहुत प्रसिद्ध है। इसका अभिप्राय यही है कि राजा अर्थात् श्रेष्ठजन जैसा भी व्यवहार करते हैं उसे देखकर उसके अधीनस्थ वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं। अनेक शास्त्रों में विशेष कर उपनिषदों में जो नियम बनाये गये थे उन्हें व्यवहार के लिए बनाया गया था और वे सब मानव के आचरण से सम्बंधित थे और उन्हें आचरण तथा व्यवहार को दृष्टि में रखकर व्याख्यापित किया गया था वर्णित किया गया था। जिन नियमों में आसक्ति की विहीनता प्रतीत होती है वे कर्म करने योग्य है इसे **कर्तुमर्हसि** कहा गया है। इस प्रकार के नियमों का प्राचीन ग्रंथों उपनिषद में विशिष्ट उल्लेख है।

1– **वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।**

भावार्थ :– वेदों का ज्ञान प्रदान करके गुरू ने अपने शिष्य को उपदेशित किया। सत्य बोलो, धर्म का व्यवहार करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो। गुरू हेतु आवश्यक धन लाओ, प्रजावृद्धि क्रम का अतिक्रमण न करो, सत्य से कभी प्रमाद न करो, धर्म से कभी प्रमाद न करो, कुशल अर्थात् कर्तव्य कर्मो में प्रमाद न करो, अपनी उन्नति करो, वेदों के अध्ययन

अध्यापन में प्रमाद न करो, देवगणों तथा पितृगणों के कार्य से प्रमाद न करो।

2– मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माक ँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेया ँ सोब्राह्माणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। हिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

भावार्थ :– माता देव स्वरूप है। पिता देवस्वरूप है। आचार्य भी देव स्वरूप हैं। अतिथि देव स्वरूप हैं जो जो पाप रहित कर्म हैं उनका आचरण करना चाहिए। पापयुक्त कर्मो का आचरण नहीं करना चाहिए। हम सभी के जो जो सुआचरण हैं उनका ही तुम्हारे द्वारा आचरण होना चाहिए। हमसे उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि उपस्थित हों तो उन्हें आसन देकर उनकी सेवा करनी चाहिए। श्रद्धा से युक्त रहकर उनको दान देना चाहिए। श्रद्धारहित दान कभी नहीं देना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान देना चाहिए। सामाजिक लज्जा, भय, से बुद्धिमतापूर्ण दान देना चाहिए।

3– अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकत्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राहाणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धमकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्रह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम् एवमु चैतदुपास्यम्।

भावार्थ :– इसके उपरान्त भी यदि आपको कर्तव्य कर्म के आचरण में संदेह हो जाए अथवा आचरण व्यवहार के सम्बन्ध में कश्चित् संदेह हो तो जो उत्कृष्ट विद्वान हो, युक्त हो, सद्विचारी हों, मूल वाणी से सरल हो, धर्म का ही आचरण करते हों, ब्राह्मण हों, जिस किसी प्रकार से उचित व्यवहार करते हों उन्ही के अनुसार हमें आचरण करना चाहिए। दोषी व्यक्ति के व्यवहार से सम्बंधित संदेह हो जाए तो भी शास्त्र वेत्ताओं से विचार करना चाहिए। उस पुरुष से जिस प्रकार शास्त्रज्ञ पुरुष व्यवहार करे वैसा ही हमें व्यवहार करना चाहिए। यह शास्त्र का आदेश है यही उपदेश है। यही वेदों की गूढ़ता है। इस प्रकार का

तुम्हें व्यवहार करना अभीष्ट है तथा आचरण और व्यवहार में इसे लाना चाहिए।

उपरोक्त उपनिषद मंत्रों में आसक्तिविहीन कर्मो का उल्लेख है। शास्त्रों के अनुसार जो आचरण होना चाहिए। उसको वर्णित किया गया है इससे लोकसंग्रह होता है। सामान्य जन श्रेष्ठजनों को देखकर उनकी क्रियाविधि को देखकर आचरण करने लगते हैं। यह प्रक्रिया लोक संग्रह कहलाती है। यह सृष्टि के आदिकाल से निरन्तर गति में रही है और सृष्टि के अंत तक निरन्तर गति में रहेगी। यह शाश्वत व्यवस्था है। निश्चित व्यवस्था है। यह व्यवस्था कभी भंग नहीं होती है, जो इस व्यवस्था का अतिक्रमण करता है उसे बंधन होता है। पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है और अनेक प्रकार की नारकीय योनियों में घूमना पड़ता है। जो इस व्यवस्था का पालन करता है उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है और वह जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

सृष्टि के आदिकाल से समाज रहा है। समाज की अवधारणा का यह प्रचलन नवीन नहीं है तभी तो यह कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य आदिकाल से समाज में जी रहा है। नियम कानून का पालन कर रहा है। पहले के समाज में संतजनों को ऋषियों को श्रेष्ठ कहा जाता था। यह सम्पूर्ण व्यवस्था उन्हीं के अधीन थी राजा भी उन्हीं की अनुमति से कार्य करता था। वे राज्य के संविधान के निर्माता थे। राज्य से पृथक् रहकर राज्य की कानून व्यवस्था का दायित्व उनके पास था। ऐसे श्रेष्ठजन जैसा चाहते थे जो भी चाहते थे वैसा आचरण राज्य के लोग करते थे। यह व्यवस्था अत्यंत पारदर्शी थी। समाज में त्रुटिपूर्ण कार्य करने का विचार मन में नहीं आता था। नियमों का आचरण प्रत्येक व्यक्ति करता था चाहे वह राजा हो अथवा प्रजा हो। क्योंकि महात्माजन और साधुजन भी नियमों का पालन कठोरता से करते थे तथा नियमों के पालन का आदेश देते थे और उसका निरीक्षण भी करते रहते थे। यह ऋषि मुनियों द्वारा शासित व्यवस्था में जो उनका आचरण था वह श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण कहलाता था श्री भगवान ने यह शब्द उसी व्यवस्था के लिए कहे है। संतजन श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं वैसा अन्य लोग भी करते हैं **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः** का यही अभिप्राय है।

उत्कृष्ट मनुष्य जो जो आचरण करते हैं वैसा अन्य व्यक्ति भी करते हैं तथा वह जो प्रमाण कर देता है उसका अन्य लोग व्यवहार करते हैं। इसके प्रतिकूल भी एक तथ्य है कि दुराचारी लोग जो आचरण करते हैं जैसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं उसकी समाज में

निन्दा होती है तथा लोग उस आचरण से दूर रहते हैं। इस प्रकरण में एक रहस्यप्रद बात यह भी प्रकट होती है कि श्रेष्ठजन श्रेष्ठता का आचरण करते हैं और करते रहते हैं दुराचारी मनुष्य समयानुसार अपना आचरण परिवर्तित कर लेते हैं। वह व्यवहार में अपना स्वार्थ देखते हैं। स्वार्थानुकूल आचरण करते हुए स्वयं दूषित हुआ करते हैं। श्रेष्ठजन अपने उचित व्यवहार का परित्याग नहीं करते हैं परन्तु जो श्रेष्ठ नहीं है जो दुराचारी हैं वह भी अपने व्यवहार का परित्याग नहीं करते परन्तु वैसा आचरण सभी लोग नहीं करते। दुराचरण की निन्दा समाज में अवश्य होती है और उसका अनुकरण भी नहीं होता। वर्तमान में दुराचरण के अनुकरण की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है। वह काल के प्रभाव से समय के अनुसार हमें माननी चाहिए परन्तु वह स्थायी नहीं है। श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण ही स्थायी है। यहां पर श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरित कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है।

भगवान श्री रामचन्द्र ने 14 वर्षो का वनवास भोगा। वनवास के अन्तकाल में रावण ने भगवान रामचन्द्र की पत्नी सीता का हरण कर लिया था। युद्ध हुआ तो परिणामतः रावण की मृत्यु हुई। रामचरित मानस में बाल्मीकि रामायण में इसका विस्तृत उल्लेख हुआ है। सीताहरण के पूर्व भगवान श्रीराम ने सीता जो को अग्नि में वास करने को कहा था। इसका अर्थ यह है कि रावण ने सीता जी के प्रतिरूप का ही अपहरण किया था। वास्तविक सीता जी का तो अग्नि में वास हो गया था। प्रतिरूप सीता ने भी रावण जैसे ऐश्वर्यवान यशस्वी राजा की अधीनता स्वीकार नहीं की और रावण को लज्जित होना पड़ा। रावण का अंततः विनाश हो गया भगवान श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ और माता सीता के साथ वह राज्य का सुख भोगने लगे। राज्य के एक नागरिक ने माता सीता के लंका निवास पर आपत्ति प्रस्तुत की तथा माता सीता के चरित्र पर संदेह किया। भगवान राम को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने माता सीता का परित्याग कर दिया और उन्हें राज्य से बाहर निकाल दिया। यह विशिष्ट लोक संग्रह है जिसकी कल्पना संभव नहीं है। इस कारण वह कल्पनातीत है। इस प्रकार का व्यवहार सहज नहीं है। परन्तु हम सभी इस विशिष्ट व्यवहार का स्मरण करते हैं और भगवान श्रीराम की महानता का उल्लेख करते हैं।

महाभारत युद्ध के पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर जाकर महाराजा धृतराष्ट्र के दरबार में दुर्योधन कर्ण आदि की उपस्थिति में महाभारत युद्ध न करने तथा शान्ति प्रस्ताव प्रस्तुत करने का प्रयास किया। भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध न करके पाण्डवों को जीवकोपार्जन हेतु पांच गांवों का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। दुर्योधन ने यह कहा कि बिना युद्ध

के सुई की नोक के बराबर भी भूमि पाण्डवों को नहीं देंगे और इसके अतिरिक्त भगवान श्रीकृष्ण को पकड़कर बंदी बनाने का प्रयास भी किया गया। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने ऐश्वर्य के आधार पर सबको परास्त कर दिया। भगवान त्रिकालज्ञ हैं वे जानते थे कि महाभारत का युद्ध अवश्यसम्भावी है। महाभारत युद्ध की तैयारियां होने लगी। दुर्योधन भगवान श्रीकृष्ण को मारने को उद्धत हो गया था परन्तु वह हस्तिनापुर जाकर उनसे युद्ध की सहायता की प्रार्थना करने लगा। भगवान ने उसका स्वागत किया और अपनी नारायणी सेना उसके द्वारा मांगे जाने पर उसे दे दी। श्री भगवान के मन में दुर्योधन के प्रति कोई दुराव नहीं आया। ये आज के युग में संभव नहीं है कि कोई हमें अपने राज्य में अपने घर में मारने का प्रयास करे और वह हमारे घर में जब आये तो हम उसका स्वागत करें और अपनी प्रिय वस्तु दे दे। यह भी एक विशिष्ट लोकसंग्रह का प्रकार है।

धृतराष्ट्र की उपस्थिति में उनके दरबार में द्रोपदी का अपमान हुआ उनके चीरहरण का प्रयास किया गया इसमें धृतराष्ट्र की अनुमति तथा मूक सहमति थी और इसका परिणाम महाभारत युद्ध के रूप में प्रकट हो गया। धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र के मोह में अनेक प्रकार के अत्याचार पाण्डवों पर किये। महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ तथा कौरवों की पराजय हुई। दुर्योधन भी अपने भाईयों सहित महाभारत के युद्ध में मारा गया। महाराजा युधिष्ठर राजा बने तथा पाण्डवों के राज्य का शुभारम्भ हुआ। पाण्डवों ने महाराजा धृतराष्ट्र और गांधारी को पिता की तरह सम्मान दिया। उन्हें सदैव माता पिता की तरह मानते रहे एक अन्यायी व्यक्ति को युधिष्ठिर ने प्रश्रय प्रदान किया। उन्हें संरक्षण दिया और माता पिता के समकक्ष भी समझा यह भी उत्कृष्ट श्रेणी का लोकसंग्रह है जो हमें शिक्षा देता है कि हमें अपने वृद्ध पारिवारिक लोगों का समुचित सम्मान करना चाहिए चाहें वे अन्यायी क्यों न हो ? आज की व्यवस्था यद्यपि इसके प्रतिकूल हो गयी है। हम अपने विशिष्ट वृद्धजनों का सम्मान नहीं करते।

भीष्म पितामह महाभारत काल के विशिष्ट पुरुष थे। आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण करके राज्य सुख से अपने को वंचित रखा। अधिकार होने पर भी राज्य के योग्य होने पर भी उन्होंने कभी राज्य सुख की तथा स्त्री सुख की आकांक्षा नहीं की। अपने पिता शान्तनु की इच्छा पूर्ति हेतु उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने तथा राज्य सुख से वंचित रहने का व्रत लिया। कई अवसर ऐसे आये जब वंश परम्परा की दुहाई देकर उनके व्रत को खंडित करने का प्रयास किया गया परन्तु उन्होंने जो व्रत ले लिया था उसको उन्होंने आजीवन पालन

किया। पिता के सुख के लिए इस प्रकार का व्रत लेना तथा राज्य सुख से अपने को पृथक रखना यह उत्कृष्ट श्रेणी का लोक संग्रह है जो इतिहास में भी कहीं प्रतीत नहीं होता। वर्तमान में तो नितान्त असंभव है। इस प्रकार लोक संग्रह हेतु दुर्लभ श्रेणी के कृत्य भी हमारे पूर्वजों ने किये जो नहीं संभव था वह भी किया। हमें सांसारिक भोग राज्य सुख आदि न मिले तो हम उसका उपभोग नहीं कर सकते और यदि राज्य सुख और भोग उपलब्ध हों और उसे हम ग्रहण न करें तथा अपने को संयमित रखे तो इसे ही लोक संग्रह माना जाता है और इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर श्री भगवान ने कहा **लोकसङ्ग्रहमेंवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि** ।

आज के युग में उत्कृष्टता तथा उत्कृष्ट पुरुष की परिभाषा परिवर्तित हो गयी है। आज के युग में संत महात्माओं के स्थान पर राज नेताओं, अधिकारियों तथा विशिष्ट श्रेणी के पहुंच वाले लोगों को श्रेष्ठ पुरुष स्वीकार किया जा रहा है। संत महात्माओं का वर्चस्व और उनकी शासन पर नियंत्रण की स्थिति लगभग समाप्त हो चुकी है। महात्माजन भी ऐश्वर्य के वशीभूत होकर आचरण कर रहे हैं। विशिष्ट संत नहीं हैं। ऐसा कदापि नहीं है। आज विशिष्ट संत और पूज्यपाद संत उपस्थित हैं। अनेक संतों पर इतने गंभीर आरोप लगे है जिससे उनकी उत्कृष्टता बाधित हुई है। समाज में जो आज विकृति प्रतीत हो रही है वह कई कारणों से है। इसमें पहला कारण संतजनों की व्यवस्था को राजकीय व्यवस्था से पृथक् कर देना है। शासकीय सिद्धान्तों का अनुकरण, अनुसरण का सर्वथा अभाव हो गया है। यह पहला कारण है दूसरा कारण यह है कि राजनेताओं, अधिकारियों तथा विशिष्ट लोगों द्वारा जो कर्म किये जा रहे हैं उनमें पर्याप्त विकृति उत्पन्न हो गयी है। यह सामाजिक व्यवस्था के प्रतिकूल है, लोगों में सामाजिक कृत्यों के प्रति पारदर्शी होने की व्यवस्था का सर्वथा अभाव हो गया है। इस कारण जो विशिष्ट लोग व्यवहार कर रहे हैं वह नीचे के सामान्य लोग भी अपने आचरण में ला रहे हैं। विशिष्ट लोगों के कर्म सामान्य लोगों के लिए उदाहरण स्वरूप होते हैं और वे आचरणीय होते हैं। जब विशिष्टजन ही कर्तव्य कर्मो का अनुपालन नहीं कर रहे हैं उसी प्रकार सामान्य लोग भी नहीं कर रहे हैं। इससे लोक संग्रह की व्यवस्था छिन्न भिन्न और विकृत हो गयी है।

श्री भगवान कहते हैं **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः** अर्थात् जैसा आचरण श्रेष्ठ लोग करते हैं वैसा ही उसी प्रकार का आचरण अन्य लोग करने लगते हैं। जब आज के श्रेष्ठ लोग उचित आचरण नहीं करेंगे तो अन्य लोग भी श्रेष्ठजनों के आचरण को

देखकर उचित आचरण नहीं करेंगे। आज की आपाधापी तथा आर्थिक छीनाझपटी इसी कारण से है। त्रुटि ऊपर से है। श्रेष्ठजन के आचरण से है। श्रेष्ठता और उत्कृष्टता आचरण में न होने के कारण समाज विकृत हो गया है। श्री भगवान के कथन का जो अभिप्राय है वह विस्तृत है और ऊंचे शिखर पर अवस्थित राज्य व्यवस्था में बैठे हुए लोग श्रेष्ठ नहीं है तो नीचे की व्यवस्था अवश्य ही उससे प्रभावित होगी। जैसा आचरण राज्य व्यवस्था के लोग करेंगे वैसा वैसा आचरण अन्य लोग भी करेंगे। इस कारण त्रुटि ऊपर से है इसलिए त्रुटिपूर्ण आचरण नीचे भी हो रहा है। श्री भगवान के कथन को पुष्टि मिल रही है। यह आधारभूत तथ्य है ऊपर के लोग जिनसे राजकीय व्यवस्था व्यवहार में आ रही है वे श्रेष्ठ हों नैतिक हों, तभी नीचे का समाज नैतिक होगा। अगर श्रेष्ठजन अनैतिक कार्य करेंगे तो उनके कार्यो की देखादेखी नीचे के लोग भी अनैतिक कार्य में लिप्त रहेंगे।

प्रत्येक समाज में प्रत्येक स्तर के लोग रहते हैं परिवार में भी स्तर है। पितामह, पितामही और उनके समकक्ष परिवारीजन, पिता माता तथा उनके समकक्ष परिवारीजन और अपने से आयु संवर्ग में बड़े परिवारीजन उन सबका हमारे परिवार के सदस्यों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। अगर यह नियंत्रण समाप्त हो जाए तो विकृति आती है जैसे किसी के पितामह पिता आदि प्रातः पूजा उपासना आदि नहीं करते हैं तो बालक पर उसका बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वह भी वैसा ही आचरण करने लगता है वह भी प्रयास करता है कि हम भी पूजा उपासना न करें। इसके प्रतिकूल किसी के पितामह आदि स्नान आदि से निवृत होकर पूजा उपासना करते हैं तो वैसा बालक भी करता है यही श्री भगवान के इस कथन का अभिप्राय है कि जैसा श्रेष्ठ लोग करते हैं वैसा अन्य लोग भी करने लगते हैं। यहां पर श्रेष्ठता में पितामह, पिता, माता, भाई आदि हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में जो उत्कृष्ट लोग होते हैं उनकी ओर ही आचरण और व्यवहार के लिए अन्य लोग देखते हैं। श्रेष्ठजनों को इस कारण उचित व्यवहार करना चाहिए। समाज में उत्कृष्ट लोगों पर अन्य निम्न लोगों की दृष्टि रहती है। निम्न स्तर के लोग यह देखते रहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने किस प्रकार का आचरण किया है ? और वैसा ही हम भी करेंगे। इसी कारण श्री भगवान ने कहा कि **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः** अर्थात् जैसा श्रेष्ठ लोग आचरण करते हैं वैसा अन्य लोग भी करने लगते हैं।

मैने एक दिन एक मंदिर में एक पांच वर्षीय छोटे बालक को देखा। वह अपने पिता के साथ श्री भगवान के दर्शनार्थ आया था। पिता ने पहले मंदिर की सीढ़ियों पर अपने जूते

निकाले तो बालक ने भी वैसा ही किया। पिता ने समीप लगे हुए नल पर अपने हाथ पैर धोये तो बालक ने भी पिता से हाथ पैर धुलाने का आग्रह किया। पिता मंदिर की ओर बढ़ा तो पुत्र ने भी उसका अनुकरण किया। पिता ने कुछ पुष्प लेकर श्री भगवान को अर्पित किए, पुत्र ने भी पुष्प मांगे और श्री भगवान को अर्पित किए। पिता ने हाथ जोड़ कर मंत्र पढ़ना आरम्भ किया तो पुत्र ने भी हाथ जोडकर पिता की मुख मुद्रा पर ध्यान दिया। मंत्र ज्ञात न होने के बावजूद उसने पिता के द्वारा कहे गए मंत्रों को ध्यान से सुना और यह जानने का प्रयास किया कि पिता ने क्या कहा है ? तत्पश्चात् पिता भगवान मूर्ति के समक्ष बैठ गया तो पुत्र ने भी वैसा ही किया और वह मूर्ति के समक्ष बैठ गया। पिता ने हाथ जोड़े तो पुत्र ने भी वैसा ही अनुकरण किया दोनों समान्तर बैठे हुए थे परन्तु पुत्र की दृष्टि अपने पिता के कार्यकलापों पर थी। पिता ने मस्तिष्क झुकाकर भगवान को दंडवत प्रणाम किया तो पुत्र ने भी वैसा ही किया। इस प्रकार पुत्र की दृष्टि बराबर पिता पर रही। पिता उठा तो पुत्र भी उठा और वह उसके साथ चल दिया। इस प्रकार इस प्रकरण में पिता श्रेष्ठ पुरुष है और पुत्र अन्य लोगों के रूप में है। यही श्री भगवान के कथन का भाव है। **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः** अर्थात् जिस प्रकार का आचरण श्रेष्ठ लोग करते हैं वैसा अन्य लोग करते हैं।

श्री भगवान के यह शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं कि जैसा जैसा आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं वैसा वैसा आचरण अन्य लोग करने लगते हैं। आज के समय में समाज में जो अव्यवस्था व्याप्त है धन पद सम्पत्ति आदि के लिए जो आपा धापी हो रही है। वह श्रेष्ठ पुरुषों के मनमाने आचरण के कारण उत्पन्न हुई है। श्रेष्ठ जनों ने अर्थात् उच्च पदों पर विराजमान महानुभावों ने आर्थिक लाभ के लिए मनमाना आचरण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में मनमाने आचरण का प्रदर्शन होने लगा। निम्न स्तर के लोग यह कहते हैं कि अमुक श्रेष्ठ व्यक्ति ऐसा कर रहे हैं तो हम क्यों न करे ?, इसी भाव को दृष्टि में रखकर आज के समाज में अनेक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है जिसका हम प्रतिदिन दर्शन करते हैं।

श्री भगवान ने श्रेष्ठ पुरुषों के श्रेष्ठ आचरण की अनिवार्यता के पश्चात् स्वयं के आचरण का भी स्पष्टीकरण दिया है और अग्रिम तीन श्लोकों में श्री भगवान ने स्वयं के कर्तव्य कर्मो का श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण की तरह से ही अनुकरण करने को कहा है।

मूल श्लोक संख्या– बाइस, तेईस, चौबीस

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।

पदच्छेद :–

न, मे, पार्थ, अस्ति, कर्तव्यम्, त्रिषु, लोकेषु, किंचन,

न, अनवाप्तम्, अवाप्तव्यम्, वर्ते, एव, च कर्मणि।।

यदि, हि, अहम्, न, वर्तेयम्, जातु, कर्मणि, अतन्द्रितः,

मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः।।

उत्सीदेयुः, इमे, लोकाः, न कुर्याम्, कर्म, चेत्, अहम्,

संकरस्य, च, कर्ता, स्याम्, उपहन्याम्, इमाः, प्रजाः।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकों में कोई कर्तव्य कर्म नहीं है तथा ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्राप्त न हो। ऐसा होने पर भी मैं कर्तव्य कर्मो का ही आचरण करता हूं। यदि मैं किसी भी क्षण जागरूक होकर कर्माचरण न करूं तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाए क्योंकि समस्त मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुकरण करते हैं। इसलिए मैं सचेत होकर कर्माचरण न करूं तो ये लोक विनिष्ट हो जाए तथा मैं विनिष्टता का कारण हूं तथा अपनी प्रजा का

विनाशक बनूं।

व्याख्या :– श्री भगवान ने बाइसवें श्लोक से अपने ब्रह्म स्वरूप भाव का प्रकटीकरण आरम्भ किया। तेइसवें और चौबीसवें श्लोक में इसकी विशिष्ट अभिवक्ति कर दी और तीनों लोकों में कोई कर्तव्य कर्म नहीं है कुछ भी अप्राप्त नहीं है समस्त जीव मेरे ही मार्ग का अनुकरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूं तो यह समस्त लोक ही विनिष्ट हो जाऐं। ऐसा प्रस्तुतिकरण किया है। उपरोक्त श्लोकों में जो विशिष्ट भाव हैं उनका अवलोकन कीजिए।

1– भगवान द्वारा सृजित लोकों में भगवान हेतु कोई कर्तव्य कर्म का न होना।

2– तीनों लोकों की प्रत्येक वस्तु भगवान को प्राप्त है उनके लिए कुछ भी अनुपलब्ध नहीं है ऐसा कहना।

3– उक्त स्थितियों के बावजूद श्री भगवान कर्तव्य कर्मो का आचरण करते रहते हैं।

4– यदि श्री भगवान जागरूक रहकर कर्तव्य कर्म न करें तो लोकों में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाए।

5– यह समस्त जगत भगवान द्वारा आचरित कर्मो का ही व्यवहार करते हैं।

6– भगवान सचेत अवस्था में कर्म का आचरण न करें तो समस्त लोक ही विनिष्ट हो जाए।

7– इस विनिष्टता का हेतु श्री भगवान बन जाये तथा वह अपनी प्रजा के विनाशक के रूप में प्रकट हो।

प्रत्येक मनुष्य अप्राप्त की प्राप्ति हेतु संघर्ष करता है उसकी सम्पूर्ण गतिविधि इसी के निमित्त होती है। यह क्रिया प्रक्रिया आज से नहीं वरन् आदिकाल से चली आ रही है। अप्राप्त को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य रहा है और रहेगा। भगवान कहते हैं कि हमारे लिए कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। सब कुछ प्राप्त है। **नानावाप्तमवाप्तव्यम्** श्री भगवान ने इससे पूर्व 17वें श्लोक में भी कहा था जो आत्मरत हैं आत्मतृप्त हैं आत्म संतुष्ट हैं उसके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। श्री भगवान इस श्लोक में कह रहे हैं **न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्** अर्थात् मेरे लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मरत, आत्मतृप्त, तथा आत्मसंतुष्ट व्यक्ति भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। भगवान के लिए

भी कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता और आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्ट, आत्मरत व्यक्ति के लिए भी कोई कर्तव्य कर्म अवशेष नहीं रहता यह समानता आने का विशिष्ट भाव है। भगवान जो कुछ करते हैं उसके भी कोई अर्थ नहीं है और आत्मतृप्त व्यक्ति भी जो कुछ करता है उसका भी कोई अर्थ नहीं होता है। वह दूसरों की भलाई के लिए कार्य करता है।

मनुष्य कुछ पाने के लिए सब कुछ करता है और यह जगत मनुष्य के कर्मो के द्वारा सम्पूर्णता से प्राप्त किया जा पाना असंभव है। यह तथ्य स्पष्ट है कि कोई कितना भी धनी हो जाए पर उसे सम्पूर्ण जगत नहीं मिल सकता। उसके आधिपत्य में समग्र संसार नहीं आ सकता। कोई व्यक्ति समस्त जगत का स्वामी नहीं हो सकता। आज के सर्वाधिक धनी लोगों के पास भी जगत का बहुत थोड़ा सा भाग या अंश होता है। इस कारण कोई अपने कर्तव्य कर्म से सब कुछ प्राप्त कर लेगा ऐसा संभव नहीं है। इस कारण इस प्राप्ति के विषय में एक तथ्य स्वीकार करना पड़ता है कि हमें सब कुछ प्राप्त हो गया है इसकी परिकल्पना करनी पड़ती है। इस परिकल्पना का इस अवधारणा का नाम संतोष है। जब हम यह विचार दृढ़ कर लेते हैं कि हमें सब कुछ प्राप्त हो गया है तो हमारे अंदर संतोषरूपी धन का उदय हो जाता है और वह हमें आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट कर देता है। संसार में कुछ भी पाना अवशेष नहीं है। यही स्थिति विशिष्ट है क्योंकि संसार को समग्रता से पाया जा पाना संभव नहीं है।

श्री भगवान ने कहा कि हमें कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है अर्थात् सभी कुछ प्राप्त है वह भी तीनो लोकों में एक लोक में नहीं। हम जब एक घर बनाते हैं और उसमें अनेक वस्तुऐं एकत्र कर लेते हैं और अनेक सुविधाएं व्यवस्थित करते हैं यह घर हमारा है हम इसके स्वामी हैं और इसमें जो कुछ भी है वह हमारी सम्पत्ति है तो हमें सब वस्तुऐं सुख सुविधाऐं प्राप्त हो जाती हैं। उसमें स्वामीपने का भाव है। इस कारण यह सभी प्राप्त है। हमने घर बनवाया है उसमें वस्तुऐं एकत्रित की हैं वे सब प्राप्त रहेंगी अर्थात प्राप्त हैं। हम उन वस्तुओं पर स्वामित्व भी रखते हैं और उनका उपभोग भी करते हैं। भगवान ने उसी प्रकार तीनों लोकों की रचना की है और समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उसी ने की है। मनुष्य के उपभोग के लिए असंख्य वस्तुऐं निर्मित कर डाली है। श्री भगवान ने ही मनुष्य को बुद्धि दी है। इसी कारण भगवान द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं से हम अपने उपभोग की वस्तुऐं निकाल लेते हैं। मनुष्य ने भगवान की व्यवस्था से अपने काम आने वाली वस्तुऐं निर्मित कर दी हैं। पर भगवान का स्वामित्व निरन्तर बना हुआ है। इसी स्वामित्व के कारण श्री भगवान

ने यह कहा कि हमने तीनों लोकों की रचना की है। इस कारण मैं उनका स्वामी हूं तथा तीनों लोकों की वस्तुऐं हमें स्वयं प्राप्त हैं। कुछ भी अप्राप्त नहीं है। वह इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। इसीलिए श्री भगवान ने ऐसा कहा है। वस्तुतः हम किसी छोटी वस्तु के स्वामी हो सकते हैं परन्तु वास्तविक स्वामी तो श्री भगवान हैं जिन्होंने तीनों लोकों की रचना की है और निरन्तर अपना स्वामित्व बनाये रखा है। इसी कारण वह जैसा कुछ चाहता है वैसा ही इस पृथ्वी पर होता है।

हमें प्रत्येक जीवनपयोगी वस्तु मिल जाए तो हम काम क्यों करेंगे ? कदाचित नहीं करेंगे। आवश्यकता से अधिक वस्तुऐं मिल जाने पर भी हम कार्य को उद्धत रहते हैं। उन्हें इस संसार में उत्कृष्ट समझा जाता है। श्रम किया गया और श्रम का पर्याप्त परिणाम मिल गया यह कर्तव्य कर्म है। भगवान ने कहा कि मुझे तीनों लोकों में प्रत्येक वस्तु प्राप्त है। जब प्रत्येक वस्तु प्राप्त होने पर कर्तव्य कर्म की आवश्यकता नहीं रही फिर भी कुछ अप्राप्त न होने पर श्री भगवान कर्तव्य कर्म करते रहते हैं। उनके कर्तव्य कर्म का एक उद्देश्य है। लोगों की व्यवस्था करना। भगवान का प्राकट्य हुआ। भगवान ने बाल्यावस्था से ही अपना कर्तव्य कर्म आरम्भ कर दिया। अनेक बलशाली राक्षसों का वध कर दिया और जीवन के अन्त तक अपना कर्तव्य कर्म करते रहे। प्रकट होने का उद्देश्य पूरा करते रहे। श्रीमद् भागवत महापुराण में श्री भगवान के कर्तव्य कर्मो का उल्लेख विस्तार से है फिर भी वे कर्तव्य करते हैं। कर्तव्य कर्मो का व्यवहार करते हैं। **वर्त एव च कर्मणि** का यही अभिप्राय है।

पवित्र नदी गंगा को स्वच्छ करने का अभियान चल रहा है। इस अभियान में प्रख्यात राजनेता, अधिकारी, उद्यमी, प्रबुद्धवर्ग, चिकित्सा व्यवसायी, सभी सम्मिलित होते हैं। जो लोग इस अभियान में सम्मिलित होते हैं वह उनका कर्तव्य कर्म नहीं है, राजनीतिज्ञ और प्रशासनिक अधिकारी कार्य करते हैं तो वे औपचारिकता को दृष्टि में रखकर करते हैं यदि वे इसे अपना कर्तव्य कर्म मान ले तो विशिष्ट कार्य होगा। प्रबुद्ध वर्ग भी अपने अपने व्यवसाय में कार्य करता रहता है यह उनके अपने अपने कर्तव्य कर्म हैं। इस मुख्य कर्तव्य कर्म के अतिरिक्त वे गंगा को स्वच्छ करने के अभियान में सम्मिलित हो जाते हैं। मुख्य कर्म तो अलग है पृथक् प्रकार के हैं फिर भी गंगा स्वच्छता का कर्तव्य कर्म उनके द्वारा किया जा रहा है वे सब यह कार्य न करे तो भी स्वच्छता हो आयेगी और यदि वे कर्तव्य कर्म मानकर करते हैं तो यह विशिष्ट बात है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के कर्तव्य कर्म है

और वह अन्य विशिष्ट कर्तव्य कर्म करता है तो वह विशिष्ट हो जाता है।

भगवान का प्रमुख कर्म सृष्टि निर्माण का है तथा सृष्टि निर्माण के उपरान्त सृष्टि की स्थिति अर्थात् पालन पोषण रूपी कर्तव्य कर्म करना उनका कार्य है। अंततः श्री भगवान ही प्रलय उपस्थित कर देते हैं भगवान का विशिष्ट कर्म उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। परन्तु वह अवतरित होकर कर्तव्य कर्म करते हैं तथा राक्षसों के विनाश की लीला करते हैं। भगवान श्रीराम का अवतरण रावण जैसे महाबलशाली के विनाश के लिए हुआ था। वह अपने विशिष्ट कर्म को छोड़कर पृथ्वी पर प्रकट हो गए। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव अत्याचारी राक्षसों के विनाश हेतु हुआ था। वह भी अपनी विशिष्ट कर्म छोड़कर पृथ्वी पर प्रकट हो गए। श्री भगवान ने इसी भाव से यह कहा कि मुझे तीनों लोकों में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। फिर भी मैं कर्तव्य कर्म करता हूं। कर्मो में बरतता हूं। भगवान अपना विशिष्ट कर्म छोड़कर पृथक् प्रकार के कर्तव्य कर्मो का व्यवहार करना ही उनका कर्तव्य कर्म है और वह भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह से। यही इस श्लोक का अर्थ है अभिप्राय है।

वाहन चालक वाहन का संचालन सचेत अवस्था में करता है। उसकी दृष्टि साथ चल रहे और आगे पीछे चल रहे वाहनों पर भी रहती है। अपने वाहन पर उसका पूर्ण नियंत्रण रहता है और वह दूसरों के सापेक्ष उसे संचालित करता है। इस क्रम में थोड़ी सी चूक होने पर भी दुर्घटना हो सकती है। इस कारण वाहन का संचालन सचेत रहकर करना पड़ता है। सांसारिक जीवन में भी ऐसे बहुत कार्य हैं जिनका संचालन बहुत सचेत रहकर करना पड़ता है। कर्तव्य कर्मो का सम्पादन भी एक कुशल चालक की तरह से हम करते हैं तो हम कुशलतापूर्वक इस संसार समुद्र से पार हो जाते हैं और यदि थोड़ी सी चूक हुई तो हमें उसका भयंकर परिणाम भुगतना पड़ता है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है जो हम सभी जानते हैं।

श्री भगवान ने आगे कहा किसी भी क्षण जागरूक रहकर सचेत अवस्था में कर्तव्य कर्म का आचरण न करूं तो सब कुछ अव्यवस्थित हो जाए। क्योंकि समस्त मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुशरण करते हैं **न वर्तेयं कर्मण्यतन्द्रितः** किसी काल में सावधान होकर न बरतू न व्यवहार करूं ऐसा इसके भाव से स्पष्ट होता है। भगवान प्रत्येक क्षण सावधान रहते हैं। वह भक्त की पुकार पर स्वयं उपस्थित होते हैं। द्रोपदी के चीरहरण की घटना

जब घटित हुई तो भगवान वहां तत्काल पहुंचे और उन्होंने द्रोपदी को अपमानित होने से बचाया। जातु पद यहां सटीक है। विशिष्ट है। भगवान प्रत्येक क्षण सचेत रहते हैं वे सोते नहीं है। ऋषि दुर्वासा ने पाण्डवों के यहां पहुंच कर उनका आतिथ्य ग्रहण करना चाहा तो श्री भगवान द्रोपदी की पुकार पर उपस्थित हो गए और उन्होंने दुर्वासा के क्रोध से पाण्डवों की रक्षा की। अनेक पौराणिक ग्रंथ जब आप पढ़ेंगे तो पायेंगे कि अनेक स्थलों पर श्री भगवान ने तत्काल पहुंच कर भक्तों की रक्षा की। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि श्री भगवान अपने कर्तव्य कर्मो के लिए प्रत्येक क्षण सचेत रहते हैं। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के तीसरे अध्याय में गजराज मोक्ष की कथा आती है। गजराज जब ग्राह्य से युद्ध में हारने लगा तो उसने श्री भगवान से कातर भाव से प्रार्थना की और उसके द्वारा की गयी प्रार्थना के अंतिम पदों के भावों का अवलोकन कीजिए–

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।

योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्।। 3/4/27।।

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग–

शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय।

प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये

कदिन्द्रियाणामनवाप्यवत्मर्ने।। 3/4/28।।

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।

तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्।। 3/4/29 ।।

योगीजन योग क्रियाओं द्वारा कर्म आकांक्षा कर्म परिणाम को समाप्त करके हृदय में जिस परमात्मा का दर्शन करते रहे हैं उस परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। सात्त्विक, राजस, तथा तामसरूपी शक्तियों के वेग असहनीय हैं जो अजितेन्द्रिय हैं वे आपका साक्षात्कार करने में असमर्थ है। अनन्त शक्ति स्वरूप सबका आश्रय आपको नमस्कार हो। हे परमात्मन! आपकी दुष्तर माया से आत्मा आच्छादित है। इसी कारण वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है। आपका माहात्म्य असीम है। आप सर्वशक्तिमान कृपा स्वरूप परमात्मा है और

मैं आपकी शरण में हूं।

श्री भगवान प्रत्येक क्षण जागृत अवस्था में रहकर सचेत रहकर कर्माचरण करते हैं। इस तथ्य के भाव में दो अर्थ हैं। भगवान भक्तों की सहायता करते हैं तथा दुष्टों को दंडित भी करते हैं। उनकी व्यवस्था में कोई कमी नहीं है। क्योंकि वह प्रत्येक समय जागृत हैं सचेत हैं कर्तव्य कर्मो के आचरण का भली प्रकार से क्रियान्वयन करते हैं। इससे पूर्व के श्लोक में भी यही स्पष्ट किया गया था कि जैसा जैसा आचरण श्रेष्ठजन करते हैं वैसा वैसा आचरण अन्य लोग भी करते हैं। श्री भगवान इस श्लोक के उतरार्ध भाग में यह कह रहे हैं कि– **मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः** अर्थात् मनुष्य सभी प्रकार से मेरे मार्ग का अनुकरण करता है। श्री भगवान के इस कथन के कई भाव प्रकट हो जाते हैं। जहां तक विचार करे विचारों की श्रृंखला उपस्थित होती है परन्तु इस श्लोक के पूर्वार्द्ध अंश से कर्तव्य कर्मो के आचरण का भाव स्पष्ट होता है। अन्य भाव निम्न प्रकार उपस्थित होते हैं।

1– श्री भगवान जिस प्रकार के कर्तव्य कर्मो का आचरण करते हैं वैसा वैसा आचरण अन्य मनुष्य भी करने लगते हैं।

2– श्री भगवान जिस प्रकार के कर्तव्य कर्मो का उदाहरण देते हैं वैसा ही अन्य मनुष्य भी कर्मो के द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

3– हम अपनी क्रियाशीलता जन्म से मृत्यु तक बनाये रखते हैं परन्तु मनुष्य को अंततः श्री भगवान के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुकरण करना पड़ता है।

4– हम जीवन भर अपनी मनमानी प्रवृत्ति से कार्य करते हैं परन्तु अंततः हमें श्री भगवान की व्यवस्था के अनुरूप ही उनके मार्ग का अनुकरण करना पड़ता है।

5– हम सभी मनुष्यों में जो जीवन नाम का तत्त्व है जो चैतन्यता है वह सब भगवान के द्वारा ही प्रदान की गयी है। क्योंकि हम उसके द्वारा बनाये गये मार्ग का अनुकरण करते हैं।

6– हम यदि उसका स्मरण रखते हैं तो वह भी हमारा स्मरण रखता है। हम जैसा व्यवहार करते हैं वह भी वैसा व्यवहार करके अपने अनुसार अपने मार्ग के अनुकरण को हमें बाध्य

करता है।

7– हम सब उसके अनुकरण को बाध्य हैं क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है प्रारम्भ भी नहीं है और अंत भी नहीं है।

8– दुष्कर्मी व्यक्ति भी अंततः हमारे द्वारा बनाये गये नियमों के अनुरूप अनुकरण को बाध्य है उसे भी अंततः हमारे मार्ग का अनुकरण करना पड़ता है।

9– ज्ञानी ज्ञान योग से कर्म योगी कर्म योग से भक्ति योगी भक्ति योग से मेरे मार्ग का अनुकरण करता है।

10– सृष्टि के आरम्भ में मैं जब सृष्टि की रचना करता हूं तब भी मनुष्य को मेरे मार्ग का अनुकरण करना पड़ता है।

11– प्रलय काल में जब सृष्टि को अपने में समेटता हूं तो भी मनुष्य को मेरे मार्ग का अनुकरण करना पड़ता है।

भगवान को कर्म के विषय, कर्मो के सम्पादन के विषय में, उनके परिणाम के विषय में पूर्ण ज्ञान है। इस कारण वह कर्म सम्पादन, व्यवहार उचित रूप से करते हैं। हमें यदि किसी स्थान के बारे में पूर्ण ज्ञान हो तो हम उसके बारे में पूरी तरह से बता सकते हैं और यदि हमें जानकारी ही न हो तो उस मार्ग के बारे में हम कैसे बता सकते हैं ? कर्म की जानकारी पूर्ण रूप से श्री भगवान को है इस कारण वह उसका व्यवहार और वर्णन सचेत होकर करते हैं। उसी सचेत व्यवहार का श्रेष्ठजन आचरण करते हैं। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है। श्री भगवान सभी ओर हाथ पैर वाले है। सभी ओर नेत्र और मुख वाले हैं और सबको व्याप्त रहकर स्थिर रहते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।

श्री भगवान के हाथ पैर सर्वत्र हैं उनके नेत्र सब ओर हैं सिर और मुख भी सब ओर हैं। सर्वत्र कान हैं और वे सबको व्याप्त करके स्थिर रहते हैं।

भगवान की दृष्टि सब ओर है हाथ पैर मुख भी सब ओर हैं। भगवान अपनी दृष्टि

सब ओर रखते हैं। इसका अभिप्राय है कि वह सब कुछ देखते हैं। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। इस अर्थ से वे सबके शरीर में उपस्थित हैं तथा हृदय में विराजमान हैं। इस भाव से वही सबकी चेष्टाओं पर अपनी दृष्टि रखते हैं।

यह तथ्य स्पष्ट करता है कि वह सचेत होकर व्यवहार करते हैं। मनुष्य तो सो जाता है पर वह सोते नहीं है। वह जागकर कर्मो का सटीक आचरण करते हैं। श्री भगवान सब ओर हाथ पैर मुख नेत्र वाले हैं। इसलिए उनकी संज्ञान दशा है। श्री भगवान के सचेत रहने का अभिप्राय उसमें उपस्थित गुण विशेष हैं। भगवान की यह स्थिति स्पष्ट करती है कि उनकी दृष्टि सम्पूर्ण व्यवस्था पर है वह इस जगत की समस्त व्यवस्था के क्रियान्वयन को अपने में समाहित किये हुए हैं। सचेत रहने पर क्या परिणाम होगा ? इसे अग्रिम श्लोकों में कह रहे हैं।

माता पिता परिवार की उत्पत्ति का कारण होते हैं। वही परिवार का भरण पोषण करते हैं। प्रत्येक का पृथक्–पृथक् उत्तर दायित्व रहता है। प्रत्येक जब अपना उत्तर दायित्व निभाता है तब परिवार रूपी संगठन सुचारू रूप से चलता है। इस दायित्व में कर्माचरण विशेष है। प्रत्येक का अपना अपना कर्तव्य कर्म है। माता शिशु को पालती पोसती है। पिता उस पालन पोषण में सहयोग करता है। शिशु के बड़े होने पर पिता उसकी शिक्षा की व्यवस्था करता है तथा माता उसे शिक्षा का बोध कराती है उसे समय से विद्यालय भेजती है। उसके भोजन की व्यवस्था करती है। पिता उसके लिए पुस्तकें और शिक्षा सम्बन्धी सामग्री की व्यवस्था करता है बालक के बड़ा होने पर मां उसे शिष्टाचार की शिक्षा देती है तथा पिता उसे सामाजिक गतिविधियों का बोध कराता है यह एक क्रम है जिसका निर्वहन प्रत्येक व्यक्ति करता है। इस निर्वहन से व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहती है।

इस उपरोक्त व्यवस्था की तरह श्री भगवान भी पूरे विश्व की व्यवस्था करता है। वह समस्त विश्व को रचता है। इस सृजन में प्रकृति मां की तरह से सहयोग करती है। भगवान पिता रूप में रहते हैं और अपने उत्तर दायित्व का निर्वहन करते हैं। श्री भगवान इसी तथ्य को प्रकट करने हेतु यह कहते हैं :–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाने न कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9/10।।

श्री भगवान की अध्यक्षता में प्रकृति इस समग्र जगत की रचना करती है। इसी हेतु यह समग्र जगत प्रवर्तित हुआ करता है अर्थात् चक्रानुसार घूमता रहता है। परिवार की संकल्पना सृष्टि की संकल्पना की तरह से है जिससे परिवार सृजित होता है इसी प्रकार प्रकृति सृजित हुई है। पहले प्रकृति सृजित हुई और उसमें श्री भगवान अध्यक्ष रहे उनकी अध्यक्षता में प्रकृति ने ब्रह्मांड का निर्माण किया। इसी आधार पर परिवार बन गए। यह सम्पूर्ण व्यवस्था चल पड़ी। भगवान इस व्यवस्था की सुचारूता हेतु कर्तव्य कर्म करते हैं। पिता ही अव्यवस्थित हो जाए तो परिवार की व्यवस्था बिगड़ती है। इस कारण पिता के कर्तव्य कर्म की बाध्यता है। उसी प्रकार श्री भगवान के कर्तव्य कर्म की बाध्यता है। वह कर्म करते हैं और निरन्तर करते रहते हैं। श्री भगवान ने यह कहा कि **उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्** कि मैं कर्तव्य कर्म न करूं तो समस्त लोक विनिष्ट हो जाऐं। यदि भगवान कर्म न करें तो वस्तुतः समस्त लोकों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाए। इसलिए भी श्री भगवान को यथासंभव निरन्तर कर्तव्य कर्मो का पालन करना पड़ता है तभी इस ब्रह्मांड की व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से चलती रहती है।

इस ब्रह्मांड की व्यवस्था को जब हम देखेंगे तो यह व्यवस्था अति विशाल है। हम इस अति विशाल व्यवस्था की संरचना को देखे और श्री भगवान के कर्तव्य कर्मो पर दृष्टि डालें तो हमें यह ज्ञात होगा कि श्री भगवान ने किस प्रकार से इस समग्र ब्रह्मांड की रचना की है और उसकी व्यवस्था को अब तक बनाये रखा। सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख शास्त्रों में आता है। प्रत्येक सम्प्रदाय में भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में अपने अपने मत प्रस्तुत किए हैं। उनमें पर्याप्त पृथकता और प्रतिकूलता है पर हमारा अर्थ यहां पर प्रतिकूलता से नहीं है। भगवान ने सृष्टि रचना रूपी कार्य किया है और उसकी स्थिति के लिए कर्तव्य कर्मो का आचरण निरन्तर करते हैं। तभी यह सृष्टि की विशाल व्यवस्था निरन्तर गतिशील रहती है। यदि श्री भगवान कर्तव्य कर्मो का आचरण छोड़ दे तो यह सब लोग ही विनिष्ट हो जाए। सृष्टि व्यवस्था पर एक दृष्टि जब हम डालते हैं तो प्राप्त जानकारी के अनुसार यह ब्रह्मांड हमें विशालतम प्रतीत होता है। श्री भगवान ब्रह्मांड की रचना बड़े सुव्यवस्थित ढंग से करते हैं और अन्य लोकों की रचना भी वे ही करते हैं। शास्त्रों में अनेक लोकों का वर्णन प्राप्त होता है। हमारे खगोल शास्त्रियों ने जिन लोको (ग्रहो) को खोज पाया है तथा उनकी विशालता का अन्वेषण किया है उसका एक स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

1– बुध	परिधि 6300 मील लगभग	1– यूरेनस	परिधि 51880 मील लगभग
2– चन्द्र	परिधि 6600 मील लगभग	2– नेय्चयून	परिधि 56580 मील लगभग
3– मंगल	परिधि 15466 मील लगभग	3– शनि	परिधि 1,30,000 मील लगभग
4– शुक्र	परिधि 3500 मील लगभग	4– बृहस्पति	परिधि 1,39,000 मील लगभग
5– पृथ्वी	परिधि 24901 मील लगभग	5– सूर्य	परिधि 13,51,000 मील लगभग

आज तक खगोल शास्त्रियों ने जिन ग्रहों की खोज कर ली है वह तो स्पष्ट है परन्तु अनेक शास्त्रों में ऊपर तथा नीचे के 14 लोकों का वर्णन आता है उन 14 लोको में सात उर्ध्व अर्थात् ऊपर के लोक हैं। जिन्हें 1– भूलोक, 2– भुवर्लोक, 3–स्वर्लोक, 4–महर्लोक, 5– जनलोक, 6– तपलोक तथा 7– सत्यलोक कहा जाता है। इसी प्रकार सात लोक नीचे के है जिन्हें 1– अतल लोक, 2– वितल लोक, 3– सुतल लोक, 4– तलातल लोक, 5– महातल लोक, 6– रसातल लोक 7– पाताल लोक कहते हैं। इन लोकों का वर्णन अनेक प्रकार के पौराणिक ग्रंथों में किया गया है तथा वहां पर रहने वाले लोगों का भी उल्लेख हुआ है।

खगोल शास्त्रियों ने जिन ग्रहों की खोज कर पायी तथा शास्त्रों में जिन लोकों का वर्णन आता है उसके अतिरिक्त भी लोक तथा ग्रह हैं। किन ग्रहों में किन लोकों में जीवन है अथवा वहां की क्या व्यवस्था है ? यह अभी तक जाना जा पाना संभव नहीं हुआ है। हम आज भी इस मामले में अज्ञानी ही हैं। अनुमान के सहारे चल रहे हैं, जो खोजा गया अन्वेषित किया गया वह पूरी तरह से अपूर्ण है। श्री भगवान कर्म करके ही इन लोकों की रचना करते हैं। लोकों की स्थिति रखते हैं तथा उनका तारतम्य और सामंजस्य रखते हैं यदि वह अपने कर्तव्य कर्म न करें तो यह लोक अवश्य ही नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे और उनकी व्यवस्था भी अव्यवस्थित हो जाए। इस कारण समस्त लोकों की व्यवस्था सुचारू रूप से चल रही है वह श्री भगवान के द्वारा किये गये कर्तव्य कर्मो के कारण ही चल रही है। ब्रह्मांड की रचना तथा उसके रचयिता के बारे में विचार करने पर हम अज्ञानी प्रतीत होते हैं। श्री भगवान ने किस प्रकार से ग्रहों लोकों के मध्य तारतम्य बनाकर उनकी रचना की तथा दूसरे लोको को आकर्षित करके उनकी स्थिति को बनाये रखा। ये सब अत्यंत रहस्यप्रद तथ्य है। कल्पना से परे है। जिसकी व्याख्या संभव नहीं है। मनुष्य का चिंतन वहां तक नहीं पहुंचता। मनुष्य चन्द्रमा पर पहुंचा, मंगल आदि ग्रहों पर पहुंचा, परन्तु चन्द्रमा मंगल आदि अनेक ग्रह हमारे लिए आज भी रहस्यप्रद हैं। उनके रहस्य को खोजा जा पाना

संभव नहीं हो पाया। अनेक खगोल शास्त्रीय आज भी खोजो में व्यस्त है वे सभी के सब ग्रह श्री भगवान के द्वारा सृजित हैं। **इमेलोकाः** का अर्थ यह भी है कि ये लोक और उनका जीवन उनमें जो प्राणी है वे सबके सब इमे लोका पदों से जाने जाने चाहिए।

भगवान की व्यवस्था को भगवान ही जानते हैं क्योंकि वह समग्र ब्रह्मांड में समस्त लोकों को रचने वाले हैं। रचना के साथ उन सबमें सामंजस्यता स्थापित करने वाले है। वह भी कर्तव्य कर्म द्वारा इस अव्यवस्था को संचालित करते हैं। हम इस संसार में यह देखते हैं कि एक छोटी सी इकाई को चलाने के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है। अनेक यंत्रों का संचालन करना पड़ता है तब जाकर वह व्यवस्था संचालित हो पाती है। अब आप सहजता से यह अनुमान लगा सकते हैं कि इतनी वृहद व्यवस्था श्री भगवान के द्वारा स्थापित किया जाना और उसका संचालन किया जाना बहुत विशिष्ट कार्य है जो हमारी कल्पना शक्ति से परे है, सूर्य समय से निकलता है समय से अस्त होता है। चन्द्रमा समय से प्रकट होता है रात्रि दिन और मौसम भी समय से प्रकट होते हैं। यह सम्पूर्ण वृहद व्यवस्था श्री भगवान के कर्तव्य कर्मो का एक अंश मात्र है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं मैं यदि कर्तव्य कर्मो का निर्वहन न करूं तो इस समग्र ब्रह्मांड में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाए।

श्री भगवान ने समस्त लोकों को बनाया है। सृजित किया है। इस कारण वे उसके स्वामी हैं। समस्त वस्तुऐं इसी कारण उनको प्राप्त हैं। कुछ भी उनके लिए अप्राप्त नहीं है। फिर भी वस्तुओं के प्राप्ति के निमित्त कर्तव्य कर्म नहीं करते। वरन् अपने कर्तव्य कर्मो को लोक संग्रह के लिए करते हैं अर्थात् उनके कर्तव्य कर्मो से अन्य लोग शिक्षा ग्रहण करे तथा अपने कर्तव्य कर्मो का आचरण करें उनका ऐसा अभिप्राय है। यदि श्री भगवान अपने कर्तव्य कर्मो का आचरण नहीं करेंगे तो अन्य सम्बंधित लोग भी अपने कर्मो का उचित आचरण नहीं करेंगे जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। व्यवस्था बनी रहे इसीलिए श्री भगवान कर्तव्य कर्मो का विधिवत् आचरण करते हैं और उनके उपरोक्त श्लोकों में किये गये कथन का यही अभिप्राय है।

श्री भगवान ने पूर्व श्लोकों में कर्तव्य कर्मो की अनिवार्यता बताकर कर्माचरण की विधि का अग्रिम दो श्लोकों में वर्णन किया है।

मूल श्लोक संख्या– पच्चीस व छब्बीस।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।

पदच्छेद :–

सक्तः, कर्मणि, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, भारत,

कुर्यात्, विद्वान, तथा असक्तः, चिकीर्षुः, लोकसङ्ग्रहम्।।

न, बुद्धिभेदम्, जनयेत्, अज्ञानाम्, कर्मसंङ्गिनाम्,

जोषयेत्, सर्वकर्माणि, विद्वान, युक्तः, समाचरन्।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! अविवेकीजन जैसा कर्माचरण करते हैं आसक्तिविहीन भी लोकसंग्रह का आकांक्षी वैसा ही आचरण करे। कर्मो में आसक्ति वाले पुरुषों की बुद्धि में विद्वानजन भेद उत्पन्न न करें तथा समस्त कर्मो का भली प्रकार व्यवहार करके उनसे भी वैसा आचरण कराये।

व्याख्या :– इस संसार में दो प्रकार के शुभ कर्मो का आचरण करने वाले लोग रहते हैं। एक तो अनासक्त भाव से कर्म करते हैं और दूसरे आसक्त भाव से फल की इच्छा रखकर कर्म करते हैं। भगवान अनासक्त भाव से कर्म करने वालों को विद्वान कहते हैं तथा आसक्ति भाव से फल की इच्छा को दृष्टिगत् रखकर जो कार्य करते हैं उन्हें **अविद्वांसः** कहा है। श्री भगवान के कथन के निम्न आशय है :–

1– फल का आकांक्षी मनुष्य जिस प्रकार का आचरण करता है उसे वैसा ही करने दें।

2– लोक संग्रह को दृष्टिगत् रखकर आसक्तिविहीन पुरुष उसमें बाधा न करके वैसा ही

आचरण करे।

3– लोक संग्रह को दृष्टिगत् रखकर फल के आकांक्षी पुरुषों की बुद्धि को भ्रमित न करे।

4– स्वयं आसक्ति रहित रहकर कर्मो का आचरण करे तथा

5– फल की आसक्ति के आकांक्षी पुरुषों से वैसा ही कराये।

शास्त्रों में देवताओं के यजन पूजन से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति होती है। ऐसा वर्णन प्राप्त होता है तथा उसके साथ ही किस कामना की पूर्ति के लिए किस देवता की पूजा करना चाहिए उसको भी वर्णित किया गया है। शास्त्रों में जिस प्रकार का वर्णन मिलता है उसके अनुसार जिस किसी वस्तु या स्थिति की आकांक्षा हो उसी प्रकार के देवताओं के यजन पूजन का प्राविधान है। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। उसी के आधार पर कुछ वस्तुओं और स्थितियों की प्राप्ति हेतु किन देवताओं का यजन पूजन किया जाना चाहिए ? इसका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

1– धन लक्ष्मी की आकांक्षा हो तो माया देवी की उपासना करनी चाहिए।

2– संतान की आकांक्षा हो तो प्रजापतियों की उपासना करनी चाहिए।

3– शक्ति की कामना हो तो इन्द्र की उपासना करनी चाहिए।

4– तेज की कामना हो तो अग्नि की उपासना करनी चाहिए।

5– धन की कामना हो तो वसुओं की उपासना करनी चाहिए।

6– वीरता की कामना हो तो अदिति की उपासना करनी चाहिए।

7– राज्य की कामना हो तो विश्वेदेव की उपासना करनी चाहिए।

8– आयु की कामना हो तो अश्विनीकुमारों की उपासना करनी चाहिए।

9– पुष्टि की आकांक्षा हो तो पृथ्वी की उपासना करनी चाहिए।

10– पत्नी की इच्छा हो तो उर्वशी की उपासना करनी चाहिए।

11– यश की आकांक्षा हो तो यज्ञ पुरुष की उपासना करनी चाहिए।

12– विद्या प्राप्ति की आकांक्षा हो तो भगवान शंकर की उपासना करनी चाहिए।

इस प्रकार अनेक उपासनाओं का उल्लेख शास्त्रों में आता है। विशेष कर वैदिक कर्मकांड में इसका विस्तृत उल्लेख है। किसी वस्तु की आकांक्षा हो तो हमें किस देवता की किस प्रकार से उपासना करनी चाहिए। यह सब क्रियाविधि वेदों में वर्णित की गयी है। यहां पर इसका उल्लेख किया जाना संभव नहीं है। इस उल्लेख का इतना प्रयोजन है कि जिस कर्मफल की आकांक्षा हो उसी प्रकार का पूजन होना चाहिए। श्री भगवान में **अविद्वांसः** पद उन्हीं के निमित्त कहा है।

फल की आकांक्षा से जो लोग यजन पूजन करते हैं उनकी भावना को और उनकी श्रद्धा को परिवर्तित किया जा पाना इतना सहज नहीं है। पौराणिक ग्रंथों में पवित्र वेदों में, इन सबका उल्लेख हुआ है इस कारण फल की आकांक्षा तथा उस आकांक्षा से उसका सम्पादन उचित प्रतीत होता है। श्री भगवान कह रहे हैं **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति** फलों के आकांक्षी जैसा आचरण करते हैं **जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन** अर्थात् जो फल के आकांक्षी नहीं है। निष्काम कर्मयोगी हैं उन्हें भी वैसा आचरण करना चाहिए। श्री भगवान के इस कथन का यही अभिप्राय है कि फल का आकांक्षी व्यक्ति जिसकी फल की कामना हो यदि वह यज्ञादिक शुभकर्मो का अनुष्ठान करे तो उसे रोकना नहीं चाहिए। ऐसे लोगों के दो भाव होते हैं। एक भाव होता है कि इस जगत में वांछित वस्तुऐं प्राप्त हो जाऐं और मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति हो जाए। ऐसे व्यक्तियों में देवताओं के प्रति अटूट श्रद्धा रहती है। इसलिए उन्हें रोका जा पाना संभव भी नहीं होता। रजोगुण की प्रधानता रहती है। इसलिए देवताओं के यजन पूजन में प्रवृत्ति विशेष होती है। यज्ञादिक शुभ कर्म होते हैं तो उसका परिणाम भी प्रतीत होता है। समाज में जागरूकता रहती है। इस कारण निष्काम कर्मयोगी को सकाम भाव से किये जाने वाले यज्ञों में बाधा नहीं पहुंचानी चाहिए। वरन् उनमें सम्मिलित होकर उनका उत्साह वर्धन करना चाहिए और इस प्रकार के आयोजन सफल हों इसके लिए प्रयास करना चाहिए। **जोषयेत्सर्वकर्माणि** का यही अर्थ है।

मनुष्य यदि कर्म के फलों की आकांक्षा से देवताओं का पूजन करता है तो वह अशुभ कर्मो के आचरण से बचने का प्रयास करता है। उसके मन में यह भावना रहती है कि यदि हम अशुभ कर्म करेंगे तो देवतागण अप्रसन्न हो जायेंगे। इस भावना के कारण ही कम से

कम अशुभ कर्म नहीं करता है तथा असामाजिक कार्यो से भयभीत रहता है। समाज में इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। समाज में अन्य लोग उसे शुभ कर्मो के आचरण का प्रतीक मान लेते हैं। जिससे लोक संग्रह होता है। संसार में उसका सुयश फैलता है। इसलिए देव पूजन में यह तथ्य विशिष्ट है, जो कोई व्यक्ति या सामाजिक संगठन देवताओं का यजन पूजन करना चाहते हैं तो उसने करने देना चाहिए। असहयोग न करके उसमें सहयोग करना चाहिए, उसकी बुद्धि में भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानाम्** फल की आकांक्षा को प्रतिकूल बताकर यदि हम देवताओं का यजन पूजन रोकते हैं तो वह निष्ठा के कारण रूकेगा नहीं। इसलिए हमें कभी देवताओं के यजन पूजन में भेद बुद्धि उत्पन्न नहीं करनी चाहिए क्योंकि देवताओं का यजन पूजन शास्त्रसम्मत है। देवता इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड की व्यवस्था को बनाये हुए है और हमें अशुभ कर्मो से रोके रखते हैं। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

इस प्रसंग में यह तथ्य स्पष्ट करना है कि मानव जीवन का उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। परमात्मा की प्राप्ति के उपरान्त मोक्ष की उपलब्धि कर लेना है। इस मानव जीवन के उद्देश्य की ओर जाने के लिए निष्काम भाव से कर्म करने की आवश्यकता होती है। यही निश्चित और सत्य सिद्धान्त है परन्तु सकाम भाव से कर्म करने से कम से कम पापाचरण की ओर उन्मुखता नहीं होती है। देवताओं के यजन पूजन से मुक्ति तो नहीं मिलती परन्तु अनैतिक आचरण की ओर मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। हो सकता है कभी मनुष्य सकाम भाव से कर्म करते करते निष्काम कर्म की ओर भी मुड़ जाए और वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो। भगवान शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में अपने विशिष्ट ग्रंथ विवेकचूड़ामणि में एक तथ्य का वर्णन किया है जो इस स्थल पर प्रसंगवश प्रस्तुत किया जा रहा है–

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्

कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।

आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति–

र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि।। 6।।

कोई विद्वान मनुष्य शास्त्रों की व्याख्या करे देवताओं का यजन पूजन करे। विभिन्न

प्रकार के यज्ञादिक शुभ कर्मो का सम्पादन करे तो भी ब्रह्म और आत्मा में एकत्व भाव का बोध जब तक न हो जावे तब तक सौ ब्रह्माओं की आयु व्यतीत हो जाने पर भी उसको मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है।

संसार में तीन कर्मो को उत्कृष्ट माना जाता है –

1– वेद शास्त्रों का अध्ययन करके उनकी व्याख्या द्वारा समग्र संसार को लाभान्वित करना है। क्योंकि इस कार्य से समाज में सत्य आचरण का प्रादुर्भाव होता है और पापाचरण की कमी हो जाती है।

2– अनेक प्रकार से देव पूजन करने से ब्रह्मांड को नियंत्रित करने वाली शक्तियां प्रसन्न होती हैं और वे विहित फल को उपलब्ध कराती हैं।

3– समाज में परमार्थ के कार्य करना, गरीबों के लिए भोजन की व्यवस्था करना। वस्त्र आदि देना उनके निवास की व्यवस्था करना, मंदिर आदि का निर्माण कराना।

भगवान शंकराचार्य का यह अभिमत है कि मनुष्य एक जीवन में नहीं अनेक जन्मों में भी इस प्रकार के शुभ कर्मो का आचरण करे फिर भी उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। यह तथ्य किसी सकामकर्मी से कह देने से उसके मन में बुद्धि भेद उत्पन्न हो जाएगा। वह शुभकर्मो को नहीं करेगा। उपर्युक्त कर्मो को जब करने से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती तो फिर व्यक्ति देवताओं का यजन पूजन क्यों करेगा? अर्थात नहीं करेगा। भगवान कहते हैं कि सकाम मनुष्यों की बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे। सकाम मनुष्यों की बुद्धि में भेद उत्पन्न हो गया तो संसार की व्यवस्था बिगड़ जायेगी लोग शुभ कर्म नहीं करेंगे। इस अव्यवस्था का दोष निष्काम कर्मयोगी को नहीं लेना चाहिए। सकाम मनुष्यों के मन में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। ऐसा श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

गीता ज्ञान के दो उद्देश्य हैं। एक तो इस जन्म में निष्काम कर्मयोगी के रूप में सुखपूर्वक जीवन का निर्वाह करना तथा दूसरा मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करा देना। इस कारण श्री भगवान सकाम कर्म को निचली श्रेणी का कर्म मानते हैं। सकाम कर्मी इस संसार में उलझ जाता है। निष्काम कर्मयोगी उलझता नहीं है वरन् सफलतापूर्वक वह इस जगत में उदासीनवत् भाव से रहकर अपना जीवन निर्वाह करता है और इस जन्म में ही मुक्तिप्राप्त कर लेता है। यह अंतर है। यह विशिष्ट भेद है। सकाम

कर्म का परिणाम इस जगत में प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सकाम कर्मी में उसी में प्रसन्न रहकर नाना प्रकार के यज्ञादिक कर्मो का यजन पूजन करता रहता है। एक सकाम कर्म की सफलता के उपरान्त दूसरा सकाम कर्म आरम्भ हो जाता है और जीवन पर्यन्त यह क्रम चला करता है। यही बंधन का हेतु है परन्तु इसे रोकना उचित नहीं है। क्योंकि इससे समाज में पाप का आचरण बढ़ जाता है। इसलिए श्री भगवान ने कहा कि सकाम कर्मी जैसा आचरण करता है वैसा स्वयं भी करे और उनसे भी कराये।

यह नियम है कि हम किसी यज्ञ के सम्पादन के पूर्व उसके परिणाम पर दृष्टि रखते हैं। उसके पूर्व भी हम यह निश्चित करते हैं कि हमें क्या करना चाहिए ? अर्थात् हमारी आकांक्षा क्या है ? उसकी आकांक्षा के अनुरूप ही हम यज्ञादिक कर्मो का चुनाव करते हैं। पूर्व में हमने कुछ आकांक्षाओं तथा उनकी पूर्ति हेतु किन देवताओं की उपासना करनी चाहिए इस सम्बन्ध में शास्त्रों के प्राविधान का उल्लेख किया है। प्रथमता हमारी क्या आकांक्षा है ? वह हमें कैसे प्राप्त होगी ? उसके लिए किस देवता का यजन पूजन करना है ? तदोपरान्त क्रिया विधि जो विशेषतया वेदों के कर्मकांड का विषय है यह सब सकाम कर्मियों को अपनाना पड़ता है। यही उसकी स्वाभाविक श्रद्धा है। इसे तोड़ना निष्काम कर्मी के लिए उचित नहीं है। इसकी प्रतिकूलता से समाज में अनेक प्रकार की समस्याऐं उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए श्री भगवान कहते हैं **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्** अर्थात् सकाम कर्मियों की बुद्धि में भेद न उत्पन्न करे। स्वयं भी वैसा करे और उनसे भी वैसा ही करावे इससे समाज में व्यवस्था बनी रहेगी। श्री भगवान ने इससे पूर्व दूसरे अध्याय के 39वें श्लोक में– **दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय** अर्थात् सकाम कर्म अति निकृष्ट है। पर यहां पर समाज की व्यवस्था हेतु लोक संग्रह हेतु सकाम कर्म के सम्पादन की आज्ञा निष्काम कर्मयोगी को देते हैं। ऐसा इस प्रकरण का अभिप्राय है।

तत्त्वज्ञ पुरुष अर्थात् सिद्ध में कर्मो के फल की आसक्ति समाप्त हो जाती है। उन्हीं के लिए श्री भगवान ने विद्वान शब्द का प्रयोग किया है और उसे युक्त कहा है। सकाम कर्मी इस दृष्टि से अयुक्त है कर्म करके फलेच्छा का त्याग सामान्य रूप से नहीं हो सकता है। क्योंकि हम कर्म फल को दृष्टिगत् रखकर ही कर्म करते हैं उसके बिना कर्म नहीं करते हैं। फल से दृष्टि समाप्त हो जाने पर हट जाने पर हमारी साधना की उत्कृष्टता आरम्भ हो जाती है। निष्काम कर्मयोगी ही ऐसा कर पाता है। जब तक साधक के अपने हित तथा स्वार्थ के कार्य होते हैं तब तक उसकी दृष्टि फल से पृथक् नहीं हो पाती। जब

स्वार्थ की दृष्टि हटाकर साधक कार्य करने लगता है तो परमार्थ के कार्य स्वतः होने लगते हैं और साधक की फल की इच्छाओं का स्वतः त्याग हो जाता है। यह सिद्धान्त है और आचरण का विषय है। इस स्थिति में साधक विद्वान हो जाता है। युक्त हो जाता है।

विशाल यज्ञों का आयोजन निरन्तर होता है। अनेक श्रद्धालुजन एकत्र होते हैं संगम में स्नानार्थ, कुम्भ में पुण्य अर्जन हेतु लाखों धर्म प्राण जनता आती है। सभी स्नान के पूर्व ही फल की दृष्टि रखते हैं। शास्त्रों में कुम्भ, संगम, तीर्थो, पवित्र नदियों में स्नान का फल कहा गया है। इसी की दृष्टि से यह कार्य स्वतः हुआ करता है। यह सब सामान्य तथ्य है। यह सब सकाम कर्म की श्रेणी में आते हैं और फल की दृष्टि से सम्पादित किये जाते हैं। निष्काम कर्मयोग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। साधक की उत्कृष्ट स्थिति में यह सब कार्य तो होते हैं। पर उसका अच्छा परिणाम दृष्टि में नहीं रहता। वह संगम तीर्थ कुम्भ आदि में जाने तथा स्नान आदि के फल की बात नहीं सोंचता है फल तो अवस्यम्भावी है यह तो विधि की व्यवस्था है। जब फल दृष्टि में रहता है तो सकाम कर्म होता है और जब फल दृष्टि में नहीं होता तो निष्काम कर्म होता है। निष्काम कर्म ही साधक को उत्कृष्टता की ओर ले जाता है और ऐसा साधक युक्त हो जाता है। श्री भगवान कहते हैं कि ऐसा युक्त साधक निष्काम कर्मयोगी समस्त प्रकार के यज्ञादिक कर्मो को जिनका परिणाम शुभ होता है उसे निष्क्रिय भाव से करे। जैसे सकाम कर्म होता है। उसे स्वयं भी करे और सकाम कर्मियों से कराये यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

श्री भगवान अग्रिम तीन श्लोकों में गुणों के सम्बन्ध में और उनके प्रवर्तन के बारे में विशिष्ट बात कह रहे है तथा मनुष्य को कभी भी स्वयं के द्वारा किये गये कर्मो में स्वयं को कर्ता नहीं मानना चाहिए ऐसा कथन कर रहे है।

मूल श्लोक संख्या– सत्ताईस व अठ्ठाइस व उनतीस।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।

पदच्छेद :–

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः,

अहंकारविमूढात्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते।।

तत्त्ववित्, तु, महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः,

गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते, इति, मत्वा, न सज्जते।।

प्रकृतेः, गुणसम्मूढ़ाः, सज्जन्ते, गुणकर्मसु,

तान्, अकृत्स्नविदः, मन्दान्, कृत्स्नवित्, न,विचालयेत्।।

भावार्थ :– हे अर्जुन ! तत्त्व को जानने वाला गुण तथा कर्म के पृथक्–पृथक् विभाग का जानकार, गुण ही गुणों में व्यवहरित हो रहे हैं ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता है। सभी कर्म सर्वप्रकारेण प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा नियोजित किये जाते हैं। अहंकार से युक्त मूर्ख मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से मूढ़ अर्थात् अल्प बुद्धि मनुष्य गुण और कर्म में अपने को लगा लेते हैं। ऐसे मूढ़ बुद्धि तथा अज्ञानी पुरुषों को सम्पूर्णता से यथार्थ का जानकार विचलित न करे।

व्याख्या :– श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में गुणों का वर्णन किया है और यह कहा है कि गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा उन्हीं के अधीन मनुष्य कर्म करता है। मनुष्य स्वयं कोई कर्म नहीं करता है परन्तु जो इस तथ्य को जानता नहीं है वह मूर्ख मनुष्य स्वयं को कर्ता मान लेता है परन्तु जो यथार्थ को जानता है गुण और कर्म के विभाग को जानता है वह गुणों में आसक्त नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या के पूर्व गुणों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट प्रस्तुति किया जाना आवश्यक है। चूंकि श्री भगवान ने गीता के 14वें अध्याय में त्रिगुणों के सम्बन्ध में विशिष्ट प्रस्तुति की है उसी के आधार पर त्रिगुणों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन प्रस्तत किया जा रहा है। इसके उपरान्त इन तीनों श्लोकों की व्याख्या प्रस्तुत की जायेगी।

(1) त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम क्या है ?

आयुर्वेद में तीन प्रकार के ज्वरों अर्थात् बुखार का वर्णन किया गया है। इन तीनों प्रकार के ज्वरों को 1–वात ज्वर 2–पित्त ज्वर 3–कफ ज्वर कहते हैं। मानव शरीर पर इन तीन प्रकार के ज्वरों का प्रभाव पृथक्–पृथक् रूप से रहता है। प्रत्येक ज्वर के पृथक्–पृथक् लक्षण मानव शरीर पर देखे जा सकते हैं। वात ज्वर का पृथक् प्रभाव रहता है। कफ और पित्त ज्वर का भी पृथक् प्रभाव हमारे शरीर पर रहता है। मानव शरीर जब ज्वर से प्रभावित हो जाता है तब शरीर में सुस्ती, बेचैनी, त्वचा का मुर्झाना, कार्य करने की इच्छा न करना, भोजन में अरूचि आदि आदि रहती है। इस प्रकार ज्वर शरीर में रहता है तो उसका प्रभाव देखा जा सकता है। शरीर जब ज्वर से प्रभावित रहता है तो हमें उसकी उपस्थिति का आभास हो जाता है और उसका प्रभाव भी दीखता है। ज्वर का प्रभाव अधिक बढ़ने पर अर्थात् तापमान में अधिक वृद्धि हो जाने पर मनुष्य सामान्य नहीं रह पाता और अंततः उसकी स्थिति उठने बैठने की भी नहीं रह पाती। इस स्थिति में मनुष्य अक्रियाशील सा हो जाता है।

ज्वर की तरह से ही सत्त्व, रज, तम गुणों का भी शरीर पर पर्याप्त प्रभाव रहता है। यह गुण शरीर में रहते हैं तथा अपने प्रभाव से शरीर को प्रभावित करते हैं। शरीर में जब ज्वर का प्रभाव बढ़ता तो शरीर का तापमान बढ़ता जाता है। अधिक तापमान बढ़ने पर हम उठने बैठने में भी असमर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्य शरीर में जब जो गुण सक्रिय हो जाता है उसका प्रभाव दीखता है। सात्त्विक गुण के बढ़ जाने पर सात्त्विक क्रियाऐं प्रकट हो जाती हैं। रजोगुण के बढ़ जाने पर राजसी क्रियाऐं दीखती हैं और तमोगुण के बढ़ जाने पर तामसी क्रियाऐं दीखती हैं। प्रत्येक मनुष्य इन तीनों गुणों से ही प्रभावित रहता है। इन तीनों गुणो से पृथक् नहीं जा सकता है। किसी मनुष्य में सात्त्विक गुणों की प्रधानता होती है तथा अन्य किसी में रज और तम गुण की प्रधानता रहती है। ऐसा नहीं हो सकता है कि मनुष्य किसी न किसी गुण से प्रभावित न रहे। जैसे वायु सर्वत्र विद्यमान है वैसे ही यह त्रिगुण भी प्रत्येक मनुष्य में रहते हैं। जिस गुण की प्रधानता मनुष्य में होती है उसका प्रभाव तथा लक्षण स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। हम उसके प्रभाव का अनुमान मनुष्य की चेष्टाओं से लगाते हैं। त्रिगुण को और स्पष्ट समझने के लिए त्रिगुणों के स्वरूप तथा उनकी क्रियाविधि को पृथक्–पृथक् प्रकार से यहां पर वर्णित किया जा रहा है।

(क) त्रिगुण का स्वरूप :–

परमात्मा, जीव, प्रकृति की तरह से प्रकृतिजन त्रिगुण का स्वरूप भी अव्यक्त है।

अव्यक्त का अर्थ है कि उसका स्वरूप प्रकट नहीं है। प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता है। मन बुद्धि और अहंकार भी अव्यक्त रहकर व्यक्त की तरह से ही कार्य करते हैं। उसी प्रकार त्रिगुण भी अव्यक्त रहकर मनुष्य शरीर में व्यक्त की तरह से कार्य करते हैं। मन, बुद्धि तथा अहंकार पर त्रिगुणों का प्रभाव रहता है। अर्थात् तीनों ही त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित रहते हैं। इसलिए मन बुद्धि अहंकार तीन तत्त्वों में त्रिगुण विशिष्ट है क्योंकि हमारे शरीर के समस्त कार्य तेरह करणों के माध्यम से सम्पादित होते हैं। इस कारण त्रिगुणों का प्रभाव सभी 13 करणों पर पड़ता है। साथ ही त्रिगुण की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण शरीर पर त्रिगुण अपना प्रभाव डालते रहते हैं। जैसे तमोगुण से प्रभावित मनुष्य का शरीर निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से आवृत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि त्रिगुण का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर रहता है। जो शरीर हमें बाह्य रूप से दिखता है जिसे स्थूल शरीर कहते हैं उस पर तो त्रिगुण का प्रभाव दीखता ही परन्तु मानव शरीर की आतंरिक क्रियाओं पर भी त्रिगुणों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

जीव अव्यक्त है परन्तु शरीर में उसका प्रभाव सर्वत्र प्रतीत होता है। शरीर में जो चैतन्यता, चेष्टा आदि गुण हैं वे जीव के कारण ही होते हैं। जब तक जीव शरीर में रहता है तब तक उसे सामान्य भाषा में जीवात्मा कहा जाता है और उसकी स्थिति शरीर में सर्वत्र रहती है। एक अति सूक्ष्म जीवात्मा समान रूप से सम्पूर्ण शरीर में स्थित है यह विशेष बात है तथा यह जीवात्मा की विशिष्ट शक्ति है कि वह परिमाण में अत्यंत सूक्ष्म होने के बावजूद भी सम्पूर्ण शरीर में अपना प्रभाव रखती है और दिखाती है। उसी प्रकार त्रिगुण भी सम्पूर्ण शरीर को अपने प्रभाव में लिए रहते हैं तथा अव्यक्त रहकर व्यक्त की तरह से कार्य करते हैं। ज्वर का प्रभाव समग्र शरीर पर रहता है। इसी प्रकार तीनों अव्यक्त गुण भी मानव शरीर को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक गुण के पृथक्–पृथक् स्वरूपों का आप अवलोकन करें।

(एक) सात्त्विक गुण के तीन स्वरूप – निर्मल, प्रकाशक, अनामय :–

सात्त्विक गुण के तीन स्वरूप हैं जिन्हें निर्मल अर्थात् मलरहित प्रकाशक अर्थात् ज्योतियुक्त और अनामय अर्थात् विकाररहित कहा जाता है। सत्त्व गुण के तीनों स्वरूप का विवरण निम्न प्रकार है।

(अ) निर्मल स्वरूप :–

सात्त्विक गुण का स्वरूप निर्मल है। निर्मल का अर्थ मलरहित होता है। जैसे कोई

मनुष्य शरीर को स्नानादि से शुद्ध करके स्वच्छ वस्त्र धारण कर लेता है तो उसे लोग साधारणतया निर्मल अर्थात स्वच्छ मानते हैं यदि मनुष्य स्नान आदि न करे। गंदे कपड़े पहने रहे तो उसे गंदा ही कहा जाएगा। स्वच्छ और गंदे को समझने के लिए यह उदाहरण दिया गया। वैसे ही सात्त्विक गुण निर्मल है, स्वच्छ है उसमें गंदगी नहीं है। इसी कारण जब मनुष्य सात्त्विक गुणों से आवृत हो जाता है। आच्छादित होता है तो वह स्वयं भी स्वच्छ रहने का इच्छुक होता है और सम्पर्किता लोगों को भी स्वच्छ रखना चाहता है। सात्त्विक गुण निर्मल, स्वच्छ है, इसका स्वरूप निर्मल और स्वच्छ है। इसलिए इसके ग्रहण करने से शरीर में निर्मलता और स्वच्छता आ जाती है। मनुष्य के अंतःकरण में जो कुविचार होते हैं वह भी सात्त्विक गुणों के आने से स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। यही सात्त्विक गुण का प्रथम स्वरूप है। जीव भी निर्मल होता है। अर्थात् उसमें मल किंचित मात्र नहीं होता है। परन्तु जीव की निर्मलता और गुणों की निर्मलता में अंतर रहता है। यह अंतर चेतन और जड़ के रूप में रहता है। अर्थात् जीव चेतन है वह चेतन रहकर मल से रहित है और गुण जड़ है वह जड़ के रूप में निर्मल है। प्रकृति भी जड़ है इसलिए उसके द्वारा उत्पन्न गुण भी जड़ है।

(ब) प्रकाशक :–

सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि, आदि सभी को प्रकाश देते हैं। इस कारण इन्हें प्रकाशक कहा जाता है। प्रकाशक शक्ति अंधकार की विनाशक है। जहां कहीं प्रकाशक वस्तु रहती है, वहां का अंधकार स्वतः ही समाप्त हो जाता है। इस कारण सात्त्विक गुण का स्वरूप प्रकाशक है और यह प्रकाशक स्वरूप मनुष्य में प्रकाश अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति कर देता है। सात्त्विक गुण के प्रभाव से मनुष्य को अपने कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का, नीति अनीति आदि का सामान्य रूप से ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान, सात्त्विक गुण के प्रकाशक स्वरूप के प्रभाव के कारण ही होता है। सात्त्विक मनुष्य को कर्म विकर्म का, धर्म अधर्म का, नीति अनीति का ज्ञान होता है अर्थात् वह इनमें अंतर को जानता है। जब सात्त्विक गुण अपना प्रकाशक स्वरूप मनुष्य में प्रकट करता है तो मनुष्य के अन्दर अनेक प्रकार के दैवीय गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं और वह समाज में अन्य मनुष्यों से पृथक् प्रतीत होता है।

(स) अनामय :–

अनामय का अर्थ विकाररहित होना होता है। विकार रहित होने के सामन्य रूप से दो अर्थ होते हैं। 1–परिवर्तन रहित होना और 2–दोषों से सर्वथा मुक्त होना। विकाररहित

अर्थात् निर्विकार गुण जीवात्मा का भी है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है। जीवात्मा जैसे एक लाख वर्ष पूर्व में थी वैसी ही आज भी है। इसमें कोई परिवर्तन आज तक नहीं हुआ है। जीवात्मा का स्वरूप अपिरवर्तनीय होने के कारण उसे निर्विकार कहा जाता है। सात्त्विक गुण जीव की तरह से निर्विकार नहीं हो सकता। इस कारण इसके विकाररहित होने का दूसरा अर्थ है सात्त्विक गुण में दोष नहीं है। निर्मल होने के कारण प्रकाशक होने के कारण भी वह दोषों से रहित है जैसे स्वच्छ सफेद कपड़ों में कोई दाग यदि न हो तो उसे दागरहित कहा जाएगा। स्वच्छ और सफेद कपड़ों में कोई दाग हो तो उसे विकार कहते हैं। इसी प्रकार दोष है। जैसे क्रोध, अहंकार, राग, ईर्ष्या, मद, मत्सर आदि आदि अनेक अवगुण अर्थात् दोष सात्त्विक गुण में नहीं है। इस कारण जो पूर्ण सात्त्विक गुण धारण कर लेता है उसमें भी यह समस्त दोष स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं और वह दोषरहित प्रतीत होता है। इसी प्रकार सात्त्विक गुण का तीसरा स्वरूप अनामय अर्थात् निर्विकार है जिसे आप दोषरहित मान सकते हैं।

(दो) रजोगुण का स्वरूप :–

रजोगुण राग स्वरूप कहा जाता है। संसार में जो सुख हमें प्रतीत होता है इस कारण उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। यह इच्छा सभी मनुष्यों में पायी जाती है। इसी को सामान्य रूप से राग मानना चाहिए। रजोगुण, तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने के कारण राग स्वरूप है। जैसे मनुष्य को प्यास लगती है तो वह जल पीकर अपनी प्यास को समाप्त कर लेता है। वैसे ही सांसारिक भोगों की तृष्णा अर्थात् प्यास भी रहती है और उन्हें प्राप्त करने का मनुष्य प्रयास करता है। सांसारिक भोग प्राप्त होने पर तृष्णा अर्थात् प्यास कुछ समय के लिए समाप्त हो जाती है और पुनः समय के साथ उत्पन्न होती है। तृष्णा का प्रमुख गुण है कभी समाप्त न होना तथा भोग की पुनः इच्छा उत्पन्न कर देना जैसे प्यास लगने पर पानी पीकर प्यास बुझाई जा सकती है परन्तु पुनः प्यास का आभास होता है। यह एक प्रकार की स्वाभाविक तृष्णा है।

संसार में अनेक वस्तुऐं हैं और अनेक व्यक्ति भी हैं जिनसे हमें स्नेह हो जाता है और इसी स्नेह के कारण हम उन वस्तुओं और व्यक्तियों को छोड़ना नहीं चाहते हैं। उनसे चिपके रहते हैं। उनका किसी कारण से वियोग यदि होता है तो हम दुखी होते हैं और शोकग्रस्त हो जाते हैं। यह सब वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति आसक्ति के कारण ही होता है। सांसारिक आसक्तियों में हम सभी जीते हैं और अंततः मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं इसी तृष्णा तथा आसक्ति से राजसी गुण की उत्पत्ति होती है। इस कारण इसे राग स्वरूप कहा जाता है। तृष्णा तथा आसक्ति से मनुष्य को प्रियता और अच्छेपन की प्रतीति होती है

तथा उसे सुख का मिथ्याभास होता है। इसी को राग भी मानना चाहिए। इस प्रकार रजो गुण का जो स्वरूप है वह राग के रूप में है। जब मनुष्य रजोगुण से आवृत हो जाता है तब वह संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों से स्नेह करने लगता है और उनसे सुख की इच्छा करता है। मिलने पर उसे प्रसन्नता होती है और न मिलने पर उसे दुःख होता है।

(तीन) तमोगुण का स्वरूप :–तमोगुण निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद के स्वरूप में प्रकट होता है और इसकी उत्पत्ति अज्ञान से मानी जाती है। ज्ञान को प्रकाश का स्वरूप माना जाता है और अज्ञान को अंधकार का स्वरूप माना जाता है। प्रकाश में जगत की समस्त वस्तुऐं स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं। वस्तुएं जो हैं, जितनी हैं, जैसी हैं, जिस आकार वाली हैं वह सबकी सब प्रकाश में स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं। अंधकार में या तो वस्तुऐं प्रतीत नहीं होती हैं या धुंधली प्रतीत होने के कारण स्पष्ट रूप से देखी नहीं जा सकती हैं अथवा अन्य कुछ आभासित होती हैं। यही अज्ञान का कार्य और स्वरूप है। शरीर में तमोगुण की प्रधानता जब होती हैं तो प्रत्येक तथ्य में भ्रम रहता है। किसी तथ्य का उलटा तथा विपरीत अर्थ निकालने का मनुष्य प्रयास करता है। घोर संशयग्रस्तता रहती है। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ माना जाता है। जब शरीर में निद्रा, आलस्य और प्रमाद की प्रधानता हो जावे तो समझना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा हुआ है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद भी तमोगुण, का स्पष्ट स्वरूप है। जिससे मनुष्य प्रत्येक तथ्य को सही सही समझ नहीं पाता है और उसका कुछ अर्थ निकाला करता है। इसी प्रकार त्रिगुणों अर्थात् सत्त्व, रज, तम के स्वरूप को हम अपने शरीर के प्रभाव से समझ सकते हैं। हमें त्रिगुणों के स्वरूप का जब ज्ञान हो जाता है तब हम उसके प्रभाव को भी समझ सकते हैं। वैसे सामान्य रूप से त्रिगुणों के प्रभाव को समझा जा पाना असंभव है। जैसे संसार में अनेक प्रकार की वस्तुएं पृथक्–पृथक् रंगों वाली होती हैं और उन रंगों के आधार पर ही उन वस्तुओं के स्वरूप का विनिश्चय होता है उसी प्रकार त्रिगुणों के स्वरूप के विनिश्चय के लिए उनके गुणों को ही आधार माना जाता है।

(ख) त्रिगुणों की क्रिया विधि :–

त्रिगुणों अर्थात् सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों की क्रियाविधि भी पृथक्–पृथक् प्रकार की है। जैसे वात ज्वर के पृथक् प्रभाव और लक्षण शरीर पर प्रतीत होते हैं, वैसे कफ ज्वर और वात ज्वर के पृथक् लक्षण मानव शरीर पर प्रतीत होते हैं, जिन्हें योग्य चिकित्सक समझ जाता है और उसी के अनुकूल ज्वर के निवारण हेतु औषधि देता है। ऐसे सात्त्विक गुण की क्रिया विधि पृथक्–पृथक् रजोगुण की क्रियाविधि पृथक् और तमोगुण की क्रियाविधि सत्त्व

और रज से पृथक् है। प्रत्येक गुण अपने अपने प्रभाव के अनुसार कार्य करता है।

(एक) सत्त्व गुण की क्रिया विधि :–

जब मनुष्य में सत्त्व गुण की बहुलता हो जाती है तो उस मनुष्य में अनेक प्रकार के गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। सत्त्व गुण की वृद्धि में मनुष्य में अन्य मनुष्यों के प्रति सहजता का भाव आ जाता है। वह दूसरों के प्रति प्रार्थना पूर्वक बातचीत करता है अन्य लोगों से सहयोग की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है तथा वह स्वयं को जानने की इच्छा करता है। ऐसे व्यक्ति में परमात्मा के प्रति अटूट श्रद्धा और आस्था उत्पन्न होती है और वह असामाजिक तथा अनैतिक कार्यो के सम्पादन में लज्जा का आभास करता है। संसार की वस्तुओं के त्याग की भावना प्रबल होती है तथा वह सत्य भाषण का सम्पादन करता है। यज्ञ दान तप आदि कर्मो में उसकी स्वतः और स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार सत्त्व गुण की क्रियाविधि मनुष्य के शरीर में प्रतीत होती है दीखती है और उसका आभास हम उक्त गुणों के आधार पर कर सकते हैं।

(दो) रजोगुण की क्रियाविधि :–

जब मनुष्य में रजोगुण की बहुलता हो जाती है तो उसमें अनेक प्रकार के सांसारिक कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। वह संसार की वस्तुओं और भोगों को प्राप्त करने की इच्छा करता है तथा उसी के निमित्त उसमें परिश्रम का भाव उत्पन्न हो जाता है। अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाओं का उदय हो जाना तथा उन कामनाओं की पूर्ति का प्रयास करना रजोगुण के प्रभाव से ही होता है। नाना प्रकार के भोगों में सहज प्रवृत्ति का रहना और उन भोगों की अप्राप्ति में असंतोष उत्पन्न होना तथा आंतरिक रूप से अशान्त रहना ही रजोगुण की क्रिया विधि है। उक्त प्रकार की वृत्तियों को देखकर हम मनुष्य में रजोगुण की प्रबलता का और उसकी क्रियाविधि का आंकलन कर सकते हैं तथा यह जान सकते हैं कि अमुक मनुष्य रजोगुण से प्रभावित है।

(तीन) तमोगुण की क्रियाविधि :–

जब मनुष्य में तमोगुण बढ़ जाता है तो उसमें अनेक प्रकार के अवगुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। विशेष रूप से वह निद्रा, आलस्य और कर्तव्य कर्मो को न करने की ओर उन्मुख हो जाता है। तमोगुण से आच्छादित मनुष्य अनेक प्रकार की व्यर्थ आशाऐं करता है। दीनता का भाव उसमें रहता है तथा वह बातचीत में मूढ़ता के भाव का प्रदर्शन करता है। अनावश्यक श्रम करना, तथा विकृत भोग वृत्ति तमोगुण की विशेष क्रियाविधि है

इसलिए तमोगुण से आच्छादित मनुष्य में मोह, लोभ, मिथ्याचारिता, शोक, दुख, आदि स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार के अवगुणों को देखकर हम यह जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति तमोगुण से पूरी तरह आच्छादित है और उसके शरीर की क्रियाओं से तमो गुण की क्रियाविधि स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

त्रिगुण अपने प्रभाव से अपने अपने गुणों को स्वतः ही प्रकट कर देता है। जो गुण शरीर में प्रभावी होता है उस गुण की क्रिया शरीर में प्रकट हो जाती है। क्रिया से उस गुण का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और प्रत्यक्ष दिखने भी लगता है। जैसे मादक द्रव्यों के सेवन से मादक द्रव्यों का प्रभाव शरीर पर प्रतीत होता है। वैसे ही गुणों का प्रभाव भी शरीर पर प्रतीत होता है और वे गुण मानव शरीर को पूरी तरह से प्रभावित करते हैं जिससे गुणों की क्रिया विधि सहजरूप से समझ में आती है।

(2) त्रिगुणों की उत्पत्ति और कारण : –

परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति का निर्माण किया। वैसे प्रकृति को अनादि कहा जाता है, परन्तु जब भी प्रकृति का निर्माण किया गया होगा तब वह परमात्मा के संकल्प से ही किया गया होगा, इसलिए प्रकृति परमात्मा के द्वारा संकल्पित शक्ति है। इसी संकल्पित शक्ति प्रकृति ने तीनों गुण सत्त्व, रज, तम का निर्माण किया। अर्थात् उन्हें उत्पन्न कर दिया। इसलिए इन त्रिगुणों को प्रकृतिजन कहा जाता है। प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इन त्रिगुणों का प्रभाव देव, मनुष्य, त्रिर्यक, समस्त योनियों में रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि इस ब्रह्मांड के प्रत्येक जीव पर त्रिगुणों का प्रभाव है। कोई भी इनके प्रभाव से विमुक्त नही है। विशेषकर मनुष्य पर इन त्रिगुणों का स्पष्ट प्रभाव रहता है। इस स्थल पर मनुष्य पर त्रिगुणों के प्रभाव से सम्बंधित चर्चा हो रही है, इस कारण त्रिगुणों का मनुष्य पर क्या प्रभाव है? इस विषय की प्रधानता है।

परमात्मा ने प्रकृति की उत्पत्ति का संकल्प करके त्रिगुणों की उत्पत्ति प्रकृति के द्वारा क्यों करवाई इस महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करने से कई तथ्य प्रकट हो जाते हैं, जो तथ्य गहन चिंतन से प्रकट होते हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन कीजिए।

(क) मनुष्य त्रिगुणों में ही फंसा रहे :–

इस जगत में, इस ब्रह्मांड में परमात्मा ने प्रकृति के माध्यम से असंख्य वस्तुऐं और स्थितियां निर्मित कर दी हैं। मनुष्य को इन वस्तुओं और स्थितियों के आभास के लिए इन्द्रियां प्रदान की गई हैं, जिससे वह समस्त वस्तुओं का आभास करके उनके व्यवहार से

सुख और आनन्द प्राप्त कर सकता है। मनुष्य वस्तुओं को देखकर आनन्दित होता है तथा मधुर ध्वनि में भी सुख का आभास करता है। सुस्वाद भोजन से आनन्द की अनुभूति कर लेता है। कोमल वस्तुओं के स्पर्श से भी उसमें सुख की अनुभूति रहती है। यह अनेक प्रकार की अनुभूति प्रकृति का कार्यरूप है। यदि उपरोक्त प्रकार के आनन्द की पृथक्–पृथक् अनुभूति न होती तो मनुष्य के जीवन में पूरी तरह से नीरसता रहती और वह पृथक्–पृथक् प्रकार के सुख और आनन्द की अनुभूति के तथ्यों से विलग रहता। संसार के आनन्द में फंसता नहीं। मनोरम दृश्यों, मनोहारी वस्तुओं, सुस्वाद व्यंजनों, मधुर गीतों, सुगन्धों को परमात्मा ने मनुष्य के लिए प्रकृति के माध्यम से बनाया है। इसके अतिरिक्त असंख्य वस्तुओं को निर्मित कर दिया है। यह सब मनुष्य को अपने में उलझाए रखते हैं।

त्रिगुणों के निर्माण से मनुष्य मुख्यतः तीन प्रकार का हो गया। अर्थात् मनुष्य की तीन कोटियां हो गईं जिन्हें सात्त्विक, राजस और तामस कहा जाता है। सात्त्विक मनुष्य की रूचि वाले पदार्थ ही जगत में हैं। राजसी मनुष्यों की रूचि के अनुसार भी पदार्थ इस जगत में उपलबध हैं तथा तामसी वृत्ति के मनुष्यों के लिए हजारों प्रकार के पदार्थ तथा भोगों की उपलब्धता भी है। इस प्रकार जो भी पदार्थ हैं उनमें प्रत्येक गुण वाला मनुष्य फंसा रहता है। जैसे हम किसी भोजनालय में जाते हैं तो वहां पर प्रत्येक प्रकार का, प्रत्येक रूचि का भोजन रहता है।, मीठा, खट्टा, नमकीन आदि विविध प्रकार का भोजन अपनी रूचि के अनुसार प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार इस जगत में परमात्मा ने विविध प्रकार की वस्तुऐं बनाकर तीनों प्रकार के पुरुषों हेतु उपलब्ध करवाई हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी वृत्ति के अनुसार सुख भोग करके जीवनपर्यंत इन्हीं त्रिगुणों में फंसा रहे।

(ख) त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त न कर सकें :–

जब तक मनुष्य को त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त नहीं होती है तब तक मनुष्य अपने जीवन के परम पुरुषार्थ मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। त्रिगुणातीत का अर्थ है सत्त्व, रज, तम गुणों से अतीत हो जाना। परमात्मा ने त्रिगुणों की उत्पत्ति करके मनुष्य को भ्रमित करने का कार्य किया है जिससे सहजता से मनुष्य परमात्मा तक न पहुंच सके। मुक्ति अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार का जो पथ है वह अत्यंत दुष्तर है जिसे साधनारूपी वाहन से चलकर प्राप्त किया जा पाना संभव है। हम साधनारूपी वाहन को जितनी अधिक गति से चलाते हैं उतनी ही शीघ्र हमें अभीष्ट तत्त्व मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है।

मुक्ति के पथ पर त्रिगुणों ने अनेक प्रकार की लुभावनी और आकर्षक वस्तुऐं उत्पन्न कर दी हैं फैला दी हैं। बिछा दी हैं, जिनमें साधक अटकता रहता है। इस कारण मनुष्य के

लिए सम्पूर्ण संसार में त्रिगुणों ने लुभावनी आकर्षण वस्तुऐं बिखेरी हैं जिनमें वह अनायास ही फंस जाता है। मनुष्य की रूचि पृथक्–पृथक् होती है और वह अपनी रूचि के अनुकूल ही वस्तुओं को संसार में खोजता फिरता है। सात्त्विक विचारधारा का मनुष्य पुष्प की सुगन्ध को खोजता है। राजसी राजसी प्रवृत्ति का मनुष्य इत्र को खोजता है और तामसी विचारधारा का मनुष्य दुर्गन्ध को खोजता है। प्रत्येक के लिए त्रिगुणों ने उसकी रूचि के अनुरूप वस्तुओं की व्यवस्था की है। नाना प्रकार की पृथक्–पृथक् भोजन सामग्री की व्यवस्था त्रिगुणों ने कर रखी है। सात्त्विक मनुष्य के लिए रस युक्त, चिकने पदार्थो और फलों आदि की व्यवस्था है। राजसी पुरुषों के लिए कडुवे, खट्टे, नमकीन खाद्य पदार्थो की व्यवस्था है और तामसी मनुष्यों के लिए बासी, झूठे, दुर्गन्धयुक्त खाद्य पदार्थो की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार जिसे जैसी रूचि हो उसे उसी प्रकार भोजन प्राप्त हो जाता है और वह उसी में फंसा रहता है। सात्त्विक, राजस तथा तामस पुरुषों के संगीत भी पृथक् पृथक् है। प्रत्येक को अपनी प्रकार का संगीत प्रिय होता है। सात्त्विक पुरुष को शान्त, मृदु, कर्ण प्रिय संगीत प्रिय होता है। राजसी पुरुष को श्रृंगार रस से युक्त रस की आकांक्षा रहती है तथा तामसी पुरुषों को बहुत तेज और भद्दे संगीत प्रिय हैं। समस्त प्रकार के संगीत की व्यवस्था त्रिगुणों ने कर रखी है जिससे मनुष्य अनेक प्रकार से उनमें फंसा रहे।

परमात्मा ने प्रकृति के माध्यम से इस प्रकार त्रिगुणों की उत्पत्ति की तथा उन्हें मनुष्य को अनेक आकर्षक वस्तुओं को दिखाकर फंसा दिया। वस्तुतः यह मानव शरीर परमात्मा के चिंतन के लिए हमें प्राप्त हुआ है परन्तु त्रिगुणों के प्रभाव से मनुष्य संसार के चिंतन में व्यस्त रहता है। दिन रात संसार के बारे में उसके भोगों के बारे में विचार करता है तथा उसी में अपना जीवन समाप्त कर देता है। इन त्रिगुणों की शक्ति सामर्थ्य और प्रभाव की यही विशेषतः है। हम सभी जीवनपर्यन्त त्रिगुणों के प्रभाव में रहते हैं और उसके जाल को तथा प्रभाव को जान नहीं पाते हैं। इस कारण त्रिगुणों की उत्पत्ति परमात्मा के द्वारा इसलिए की गई कि ताकि मनुष्य त्रिगुणों में फंसकर परमात्मा तक न पहुंच पाये।

(3) त्रिगुणों का प्रमुख कार्य :–

परमात्मा की रचनात्मक शक्ति मूल प्रकृति के दो भाग हैं। एक अपराप्रकृति और दूसरा पराप्रकृति। अपरा प्रकृति के आठ तत्त्व है जिन्हें आकाश, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार कहा जाता है। परा प्रकृति का एक प्रकार है, जिसे जीव कहते हैं। यह मानव शरीर इन उपरोक्त नौ तत्त्वों से मिलकर निर्मित है तथा चेतन है। जीव चूंकि परमात्मा का अंश है, इस कारण इसको शरीर में बांधा जा पाना संभव नहीं था। जीव को शरीर में बांधने के लिए त्रिगुणों की प्रमुख भूमिका है। अविनाशी जीव को त्रिगुण ही शरीर

में बंधन देते हैं और इस प्रकार जीवात्मा शरीर में बंधी रहती है। त्रिगुणों का यह विशिष्ट कार्य है तथा इसे त्रिगुणों के प्रमुख कार्य के रूप में कहा जाएगा। त्रिगुण के अन्य कार्यो का आगे वर्णन होगा परन्तु यह कार्य विशिष्ट और प्रमुख था इस कारण इसे वर्णित कर दिया गया।

अपरा प्रकृति मानव शरीर का निर्माण कर देती है। अपरा प्रकृति के प्रथम पांच तत्त्व आकाश, अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी से शरीर का निर्माण होता है। इन पंचमहाभूतों की तन्मात्राऐं भी पांच हैं। आकाश की तन्मात्रा शब्द है, अग्नि की तन्मात्रा रूप है, जल की तन्मात्रा रस है। वायु की तन्मात्रा स्पर्श है और पृथ्वी की तन्मात्रा गंध है। शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जिन्हें कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा तथा नासिका कहा जाता है। यह पंच महाभूत ही अपनी तन्मात्राओं को इन ज्ञानेन्द्रियों को प्रदान कर देते हैं जिससे कर्ण का गुण शब्द हो जाता है। नेत्र का गुण रूप हो जाता है। जिह्वा का गुण रस हो जाता है। त्वचा का गुण स्पर्श हो जाता है और नासिका का गुण गन्ध हो जाता है। अपरा प्रकृति के तीन शेष तत्त्व मन, बुद्धि, अहंकार भी सूक्ष्म रूप से शरीर में उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार आठ तत्त्वों से शरीर का निर्माण तो हो जाता है परन्तु उस निर्मित शरीर में चेतन्यता नहीं आती है। इसलिए परा प्रकृति का एक मात्र तत्त्व जीव इसमें आकर उसे चैतन्यता प्रदान करता है। जीव को शरीर में त्रिगुण ही बंधन दे देते हैं। त्रिगुण की भूमिका इसी कारण महत्वपूर्ण है। अब प्रश्न यह है कि यह त्रिगुण शरीर में जीवात्मा को किस प्रकार बांधते हैं इसका भी सहजतापूर्वक अवलोकन कीजिए।

(क) सत्त्व गुण जीवात्मा को सुख तथा ज्ञान की आसक्ति से बांधता है :–

सात्त्विक गुण का शरीर में जब विकास होता है तो मनुष्य को सुख की विशेष अनुभूति होती है और उसमें ज्ञान का उदय हो जाता है। सुख की विशिष्ट अनुभूति क्या है? तथा ज्ञान का आभास क्या है? इसे समझना पड़ेगा। सत्त्व गुण का जब शरीर में प्रभाव रहता है तो मनुष्य को ज्ञान अज्ञान का, कर्तव्य अकर्तव्य का बोध हो जाता है और उससे वह मात्र सत्कर्मो का ही सम्पादन करता है। जिसके बल से उसे सुख अनायास ही प्राप्त होता है। सुख प्राप्त होने पर वह सुखासक्त हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य को सत्कर्मो के परिणाम से सांसारिक सुख प्राप्त होता है तो वह उसमें आसक्त हो जाता है तथा यह कहता है बड़ा आराम है, बड़ी ऐश्वर्य है, बड़ी प्रतिष्ठा है। इसी में उसकी आसक्ति रहती है। शरीर भी स्वस्थ रहता है। इस कारण उसे सुख का आभास होता है। सुख के आभास में वह फंस जाता है। इसी को सुख की आसक्ति कहते हैं जो जीव के बंधन का एक

कारण है। अर्थात् इसी से जीवात्मा को बंधन हो जाता है।

सत्त्व गुण जब शरीर में विकसित होता है तो मनुष्य को सुख की स्वतः अनुभूति होती है रजोगुण तथा तमोगुण से आवृत शरीर को सुख की वैसी अनुभूति नहीं होती है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए यह जानें कि तमोगुण से प्रभावित शरीर निद्रा, आलस्य और प्रमाद से आवृत रहता है जिससे उसे सुख का आभास नहीं होता है। शरीर में भारीपन रूग्णता आदि रहती है। इसी प्रकार रजोगुण के प्रभाव से शरीर मे कर्मा सक्ति रहती है और उसके प्रभाव से अशान्ति की स्वतः उत्पत्ति हो जाती है जिससे शरीर में स्फूर्ति, चुस्ती–फुर्ती आदि नहीं रहते। अशान्ति में सुख नहीं होता। आशान्तस्य कुतः सुखम् यह गीता जी का वचन है। इस प्रकार रजोगुणी मनुष्य को सुख का आभास नहीं होता है। सत्त्व गुण के बढ़ने पर शरीर में स्वतः ही स्फूर्ति चैतन्यता, सुखद अनुभूति अच्छा लगना, भारीपन का विनाश मन और बुद्धि में विशेष चैतन्यता रहती है। यह एक प्रकार की सुखानूभूति है। इस सुखानूभूति में यदि मनुष्य आनन्द लेता है तो सत्त्व गुण के कारण फंस जाता है। आनन्द नहीं लेता है तो वह सत्त्व गुण का भी अतिक्रमण करके गुणों से अतीत हो जाता है। इस सुख से ही जीवात्मा को बंधन होता है।

सत्त्व गुण के प्रभाव से मनुष्य में ज्ञान की उत्पत्ति स्वतः हो जाती है। ज्ञान का अभिप्राय यह है सत्त्वगुण प्रधान मनुष्य पाप, पुण्य, अकर्तव्य, कर्तव्य, धर्म, अधर्म, नीति, अनीति, में अंतर को जान जाता है। इस अंतर को जानना ही ज्ञान का एक प्रकार है। जो अज्ञानी है अर्थात् रज और तम गुणों से आवृत है वे इस अंतर को नहीं जानते हैं। इसी कारण वे अज्ञानी हैं तथा अज्ञान से आवृत है। जब मनुष्य को पाप, पुण्य, कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, अधर्म नीति, अनीति के अन्तर का ज्ञान हो जाता है, तो इस जानकारी के प्रति भी आसक्ति हो जाती है। इस प्रकार का ज्ञानी पुरुष अपने को विशेष जानकारी वाला मानता है और सामान्य लोगों से अपने को पृथक् समझता है। यह समझ भी एक प्रकार की आसक्ति ही है। इसे ज्ञान की आसक्ति कहते हैं।

सत्त्व गुण का यह विशिष्ट गुण मनुष्य को ज्ञानासक्ति में संलग्न कर देता है। ज्ञानासक्ति से आवृत मनुष्य उस आसक्ति में आनन्दित होता है। यह बंधन है जो परमात्मा की प्राप्ति में बाधक है। इसी प्रकार ज्ञान की आसक्ति से सत्त्व गुण जीवात्मा को बंधन देता है और जीवात्मा ज्ञान की आसक्ति से बंध जाती है। परमात्मा का अंश जीवात्मा शरीर में ज्ञानासक्ति के कारण बंधन में आ जाता है। इस प्रकार ज्ञान की आसक्ति भी बंधन का हेतु होती है। सात्त्विक गुण सुख की आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति से जीवात्मा को बांधता है। सात्त्विक गुण में सुख आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति मुक्ति में विशेष बाधक

रहती है। साधु, संत, उत्कृष्ट साधक को यह अनुभव रहता है कि मैं शास्त्रों का विशेष विद्वान हूं और उसके अर्थो को पारदर्शी स्वरूप में जानता हूं तथा उसे व्याख्यापित भी कर सकता हूं। इस भाव की प्रबलता से सात्त्विक अहंकार की उत्पत्ति भी हो जाती हैं सात्त्विक अहंकार का विष तत्त्व दर्शन में विशेष बाधा है। इस प्रकार सत्त्व गुण जीवात्मा को सुख तथा ज्ञान की आसक्ति से बांध देता है।

(ख) रजोगुण कर्मासक्ति से जीवात्मा को बांधता :–

रजोगुण जब शरीर में बढ़ता है तो कर्मासक्ति की वृद्धि स्वतः ही हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य संसार में नाना प्रकार की संसारिक वस्तु का उपभोग करना चाहता है। जो मनुष्य जिस स्तर का है वह उस स्तर से बहुत आगे के भोगों को भोगने की इच्छा रखता है। इसके लिए प्रयास भी करता है। एक भोग के प्राप्त हो जाने पर उसमें उसे आनंद की अनुभूति हो जाती है तो वह अपने आगे के भोग को भोगने की तृष्णा स्वतः ही उत्पन्न कर देती है। एक आनंद का अनुभव मनुष्य को दूसरे आनंद की ओर अग्रसर कर देता है। यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती रहती है। भोग अनंत और असंख्य हैं। इस कारण मनुष्य की भोगों के प्रति तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती है। वह इन्हीं को पाने के लिए नित्य नए कर्म करता है। इसी को कर्म की आसक्ति कहा जाता है। इस कर्म की आसक्ति से जीवात्मा को बंधन होता है। जीवात्मा इससे बंधती तो नहीं है परंतु बंधन में रहती है। अर्थात् जन्म–मरण के चक्र में घूमती रहती है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्यों में एक प्रवृत्ति विशेष का उदय हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य अपने व्यवसाय के विषय में और उसके विकास के विषय में बातें करता रहता है। अनेक प्रकार की चेष्टाऐं और गतिविधियां इसी कारण इस संबंध में रहती हैं। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अपने व्यवसय के विकास हेतु हम कार्य न करें तथा समस्त चेष्टाऐं ही समाप्त कर दें। अपने व्यवसाय के विकास के सम्बंध में हम चाहें जहां तक प्रयास करें, परन्तु अंतोगत्वा आप जो भी अपने प्रयास से उपार्जित कर सकेंगे, वह तो विनाश होने वाला ही है और छूटने वाला है। इस कारण उस तत्त्व की प्राप्ति करना भी अभीष्ट है। व्यवसाय में अपने जीवन निर्वाह के साधन में पूर्ण आसक्त होकर और उसमें रात–दिन धन, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिए लग जाना तथा परमात्मा से विमुख हो जाना उचित नहीं है। हम जिस प्रयास अथवा प्रयत्न से अपने व्यवसाय के विकास हेतु कार्य करते हैं। उतने ही प्रयास एवं प्रयत्न से तत्त्व प्राप्ति की ओर बढ़े तो हमारा निश्चित कल्याण हो जाएगा। जब तक हम तत्त्व प्राप्ति हेतु प्रयास नहीं करेंगे तब तक हम कर्मासक्त रहेंगे। इसी कर्मासक्ति से जीवात्मा शरीर में बंधती है और असंख्य जन्मों तक बंधी रहती है। इस प्रकार तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न कर्म की

आसक्ति से जीवात्मा में बंधन हो जाता है।

(ग) तमोगुण जीवात्मा को निद्रा और आलस्य बांधता है :–

जब मनुष्य के शरीर में तमोगुण का प्रभाव बढ़ जाता है तो उसके शरीर में निद्रा आलस्य और प्रमाद स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। निद्रा आलस्य और प्रमाद के प्रकटीकरण का कारण तमोगुण ही है। इस प्रकार तमोगुण निद्रा, आलस्य और प्रमाद से जीवात्मा को बांध देता है। निद्रा आलस्य और प्रमाद इन तीनों तथ्यों को समझे।

(एक) निद्रा क्या है ?

मानव शरीर की तीन अवस्थाऐं होती हैं, जिन्हें जागृत अवस्था, स्वप्न अवस्था और सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। जागृत अवस्था में स्थूल शरीर काम करता है और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर काम करता है और सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर अस्तित्त्व में रहता है। सुषुप्ति अवस्था को सहज रूप से निद्रा काल कहा जाता है। इस समय सम्पूर्ण इन्द्रियां मन, बुद्धि तथा अहंकार शान्त हो जाता है। इन्द्रियां मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अहंकार में विलीन हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि की भी समस्त क्रियाऐं शान्त हो जाती हैं। परमात्मा ने शरीर को इस प्रकार निर्मित किया है कि वह प्रातः से रात्रि तक अनेक प्रकार की क्रियाऐं करता करता थक जाता है और सुस्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह विश्राम चाहता है। यह स्वाभाविक तथ्य है। दिन भर के कर्मो से थका हुआ शरीर निद्रा ग्रहण करना चाहता है। यह स्वाभाविक निद्रा तमोगुण की वृत्ति नहीं है, परन्तु तमोगुण के प्रभाव से ही आती है। यह तो सभी मनुष्यों में रहती है। इस स्वाभाविक निद्रा के अतिरिक्त जो निद्रा है। वह तमोगुण के प्रभाव से उत्पन्न हो जाती है। तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य अपनी स्वाभाविक निद्रा के अतिरिक्त निद्रा में लीन रहता है। यही निद्रा जीवात्मा को बंधन देती है जो स्वाभाविक नहीं होती है।

(दो) आलस्य :–

जब मनुष्य के शरीर में सात्त्विक गुण का प्रभाव बढता है तो उसमें चैतन्यता, स्फूर्ति, प्रकाश आदि गुणों की बहुलता रहती है। इसके प्रतिकूल जब मनुष्य तमोगुण से आच्छादित रहता है तो उसमें चैतन्यता, स्फूर्ति तथा प्रकाश का अभाव हो जाता है और आलस्य रहता है। स्फूर्ति का न होना तथा सुस्तीपन का रहना ही आलस्य का स्वरूप समझना चाहिए। आलस्य के कारण मनुष्य को जो निद्रा लेने की इच्छा रहती है वह तमोगुण के कारण ही होती है। यह जो आलस्यरूपी दोष मनुष्य में रहता है। इससे जीवात्मा को बंधन हो जाता

है, क्योंकि आलस्य के कारण ही मनुष्य संसारिक कर्तव्य कर्मो में भी नहीं लगता है और साथ ही वह परमार्थिक कार्य तथा परमात्मा के स्मरणरूपी कार्य को भी नहीं सम्पादित कर पाता। इसलिए आलस्य को जीवात्मा के बंधन का कारण माना गया है।

(तीन) किसी भी कार्य के न करने की इच्छा प्रमाद के कारण ही होती है :–

यह प्रमाद तमोगुण के कारण उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्रातःकाल समय से सोकर न जागना, दैनिक क्रिया की इच्छा न करना, समय पर स्नानादि न करना, भगवान की पूजा पाठ और स्मरण की इच्छा का अभाव हो जाना। अपने कर्तव्य कर्मो के दायित्व का समापन हो जाना। किसी आवश्यक कार्य को निरन्तर टालते रहना। यह सबके सब प्रमाद के लक्षण हैं। निद्रा आलस्य तथा प्रमाद एक दूसरे के कारण ही होते हैं। जैसे अनावश्यक निद्रा रहेगी तो आलस्य और प्रमाद भी रहेगा। आलस्य और प्रमाद रहेगा तो निद्रा भी रहेगी। इस प्रकार निद्रा आलस्य और प्रमाद के कारण भी जीवात्मा शरीर में बंधती है। अर्थात् तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, आलस्य और प्रमाद के कारण जीव को बंधन हो जाता है और वह जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है।

इस प्रकार त्रिगुणों का प्रमुख कार्य जीवात्मा को शरीर में बंधन देना है अर्थात् बांधे रखना है। त्रिगुण के कार्य एवं प्रभाव के कारण मनुष्य त्रिगुणों से अतीत नहीं हो पाता और अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करता रहता है। अर्थात् पुनः जन्मता है और पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार त्रिगुणों द्वारा दोनों ही क्रियाऐं होती हैं, जिससे बंधन देना अर्थात् बांधे रखना कहा जाता है। त्रिगुणों का यह विशिष्ट गुण, शक्ति और प्रभाव है।

(4) त्रिगुणों के अन्य कार्य :–

त्रिगुणों का शरीर पर बड़ा व्यापक प्रभाव है। प्रत्येक गुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम अपना अपना पृथक्–पृथक् प्रभाव दिखाकर विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को मानव शरीर में उत्पन्न कर देते हैं। इन वृत्तियों को ही त्रिगुणों का कार्य कहा जाता है। सत्त्वगुण जब क्रियाशील होता है अर्थात् मानव शरीर जब सत्त्व गुण के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है तो शरीर को विभूषित कर देता है। सात्त्विक और राजस गुणों की क्रियाशीलता के कारण विभिन्न प्रकार की वृत्तियां स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार रज और तम गुणों का प्रभाव शरीर पर बढ़ने पर अनेक प्रकार की वृत्तियां स्वतः ही उत्पन्न हो जाती हैं। इस गुण की वृद्धि में किस प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं? और उनका क्या लक्षण है? इस पर हमें विचार भी करना चाहिए और दृष्टि भी रखनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य शरीर की

चेष्टाओं को देखकर हम यह अनुमान सहजता से लगा सकते हैं कि मनुष्य शरीर में किस प्रकार के गुण का प्रभाव प्रकट हो रहा है? तीनों गुणों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का आप अवलोकन कीजिए।

(क) सत्त्वगुण की क्रियाशीलता से उत्पन्न वृत्तियां :–

जब किसी मनुष्य के शरीर में सत्त्वगुण की प्रमुखता हो जाती है तो उसके शरीर में अनेक प्रकार के दैवीय गुणों का स्वतः ही प्रादुर्भाव हो जाता है। सत्त्व गुण की प्रधानता से जो वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं उनमें से कुछ विशिष्ट वृत्तियों का आप अवलोकन कीजिए।

(एक) विनम्रता :–

सत्त्व गुण का शरीर में विकास होने पर मनुष्य स्वाभाविक रूप से विनम्र हो जाता है। बातचीत विनम्रता से करता है। उसके व्यवहार में विनम्रता रहती है। अंतःकरण में भी विनम्रभाव रहता है। इस प्रकार विनम्रतारूपी गुण के प्रकटीकरण से मनुष्य में सत्त्व गुण की वृद्धि माननी चाहिए। चापलूसी और विनम्रता में अंतर होता है। लोग अपने स्वार्थ के फलीकरण के लिए जो विनम्रभाव से बातचीत और व्यवहार करते हैं उस व्यवहार को विनम्रता के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। इस प्रकार स्वार्थपरक विनम्रता सत्त्व गुण के कारण नहीं वरन् रजोगुण के कारण उत्पन्न होती है। विनम्रभाव में जब स्वार्थ परता का अभाव हो जाता है तो इसे सत्त्वगुण का कार्यरूप मानना चाहिए। मन और बुद्धि में अनावश्यक चंचलता का अभाव रहना अंतःकरण की विनम्रता है। इस कारण सत्त्व गुण से विनम्रतारूपी गुण स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है और यह सात्त्विक गुण का कार्यरूप है।

(दो) सरलता :–

सात्त्विक गुणों की वृद्धि से मनुष्य में सरलतारूपी गुण स्वतः आ जाता है। आज कल मनुष्यों में व्यवहार की रहस्यप्रद प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है। किसी भी तथ्य को स्पष्ट न करना उलझावपूर्ण भाव में कहना। कही गई बातों के अर्थो पर विचार करना आदि आदि सामान्य व्यवहार में देखा जाता है। इस कारण व्यवहार अस्पष्ट सा हो गया है। कथन में जो भी कुछ कहा जाता है वह अनेक अर्थो में समझा जाता है, लिया जाता है। लोग उसके पृथक्–पृथक् भाव निकालते हैं। कुछ लोग सामान्य भाव निकालते हैं और कुछ असामान्य प्रतिकूल, रहस्यप्रद, मिथ्याभाव निकालते हैं। यह सब भी गुणों के कारण ही होता है। जो जिस गुण वाला है वह वैसा ही भाव निकाल लेता है। यह तथ्य सरलता के प्रतिकूल गुण

है। सात्त्विक गुण प्रधान पुरुष उलझावपूर्ण बातचीत व व्यवहार नहीं करता है। वह बातचीत में स्पष्टवाटी सरल और तक्रपूर्ण तथ्य कहता है। यह सरलता सात्त्विक प्रधान पुरुषों का विशेष लक्षण है तथा सात्त्विक गुण का कार्यरूप है।

(तीन) आत्मचिंतन की वृत्ति :–

सात्त्विक गुण प्रधान पुरुषों में आत्मचिंतन की वृत्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। रजो प्रधान पुरुष कर्म की आसक्ति में रहता है तथा तमोगुण प्रधान पुरुष निद्रा, आलस्य प्रमाद में रहकर स्वयं के विषय में कुछ भी विचार नहीं कर पाता है परन्तु सात्त्विक गुण प्रधान पुरुष अपने स्वरूप के विषय में विचार करता है और यह जानना चाहता है कि वह कहां से आया है ? कहां को जाएगा ? तथा उसे यह मनुष्य शरीर क्यों प्राप्त हुआ है ? इस मनुष्य शरीर के उद्देश्य पर वह दृष्टि डालता है तो उसे यह ज्ञात होता है कि उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। इस उद्देश्य का विनिश्चय राजसी और तामसी पुरुषों में कदापि नहीं होता है। इस मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। ऐसा विनिश्चय एक मात्र सात्त्विक गुण प्रधान पुरुषों के द्वारा किया जाता है। जब तक किसी कार्य का, विषय का विनिश्चय नहीं होता है तब तक उसका सम्पादन भी स्पष्ट रूप से नहीं होता है। इस प्रकार सात्त्विक गुण प्रधान पुरुष आत्म चिंतन के द्वारा अपने जीवन के उद्देश्य का सम्यक् विनिश्चय कर लेता है। यह आत्म चिंतन की वृत्ति सात्त्विक गुण का कार्यरूप है।

आत्मचिंतन के द्वारा जीवन के उद्देश्य का विनिश्चय हो जाने पर सात्त्विक गुण प्रधान पुरुष तत्त्व प्राप्ति का प्रयास आरम्भ कर देता है। बिना चिंतन के यह कार्य नहीं हो सकता है। परमात्मा की प्राप्ति चिंतन पर ही आधारित है। बिना चिंतन के उस ओर उन्मुख नहीं हुआ जा सकता है। हम जब संसार से, संसारिक विषयों से भौतिक संदर्भो से अपना चिंतन समेटते हैं तो उसे परमात्मा में समाहित करते हैं। ऐसा करने से परमात्मा की ओर होने वाला चिंतन धीरे–धीरे विकसित होने लगता है। आत्मचिंतन की वृत्ति विकसित होती है। इस प्रकार सात्त्विक गुण की क्रियाशीलता से आत्मचिंतन की ओर मनुष्य स्वतः ही उन्मुख हो जाता है।

(चार) परमात्मा के प्रति श्रद्धा :–

मनुष्य में प्रमुखता से दो ही प्रकार की श्रद्धा होती है। एक प्रकार की श्रद्धा सांसारिक श्रद्धा कही जाती है तथा दूसरे प्रकार की श्रद्धा आध्यात्मिक श्रद्धा कही जाती है। आध्यात्मिक श्रद्धा मनुष्य को परमात्मा की ओर ले जाती है और सांसारिक श्रद्धा मनुष्य को

संसार में रखती है। सात्त्विक गुण प्रधान पुरुषों में परमात्मा के प्रति श्रद्धा होती है क्योंकि जो संसार की स्थिति तथा वास्तविकता को जान जाते हैं समझ जाते हैं, वे परमात्मा में अपनी श्रद्धा को स्थापित कर लेते हैं। संसार में श्रद्धा रखने से संसार सहज भाव से उपलब्ध हो जाता है और परमात्मा के प्रति अगाध श्रद्धा रखने से परमात्मा की शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। संसार के प्रति श्रद्धा रज और तम गुणों के कारण होती है। सात्त्विक गुण प्रधान मनुष्य परमात्मा में अपनी श्रद्धा को दृढ़ कर लेते हैं परमात्मा का अस्तित्त्व है, परमात्मा निश्चितरूपेण है उसकी ही व्यवस्था समग्र ब्रह्मांड पर लागू है। उस एक मात्र परमात्मा की शरण में जाने से ही जीव का कल्याण हो सकता है। परमात्मा से विमुखता में मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता है। यह भाव रखना ही परमात्मा के प्रति श्रद्धा रखना कहा जाता है। मनुष्य में परमात्मा के प्रति श्रद्धा सात्त्विक गुण की क्रियाशीलता के कारण होती है।

(पांच) अवैधानिक कार्यो में लज्जा भाव :–

वर्तमान समय में मनुष्य प्रत्येक कार्य धन को उपार्जित करने की दृष्टि को रखकर कर रहा है। धन प्राप्ति ही उसके लिए एक मात्र उद्देश्य हो गई है। कितना ही असमाजिक, अवैधानिक और निकृष्ट कर्म क्यों न करना पड़े वह सबका सब उसे स्वीकार हैं। इसका एक कारण है कि मनुष्य में प्रत्येक अवैधानिक कार्यो के प्रति लज्जा का समापन हो गया है। हम प्रत्येक कार्य अवैधानिकता की दृष्टि से नहीं करते हैं वरन् धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, पद, ऐश्वर्य की प्राप्ति की दृष्टि से करते हैं। यह इस कारण होता है क्योंकि मनुष्य में असामाजिक, सामाजिक कार्यो के प्रति विभेद करने की शक्ति समाप्त हो गई है। तमोगुण के प्रभाव से प्रत्येक कार्य का विषय का प्रतिकूल अर्थ निकालने की वृत्ति बढ़ती जा रही है। हम यह भी नहीं जानना चाहते कि अमुक कार्य वैधानिक है अथवा अवैधानिक है, सामाजिक है अथवा असामाजिक है। यह तमोगुण के कारण ही होता है। वैसे ही रजो गुण के प्रभाव से हम धन की प्रधानता में फंसे रहते हैं और प्रत्येक कार्य को फल की दृष्टि से देखते हैं। इसके प्रतिकूल जब मनुष्य में सात्त्विक गुणों की प्रधानता आ जाती है तो वह प्रत्येक कार्य में वैधानिक और अवैधानिक, सामाजिक और असमाजिक तथ्य का विचार आ जाता है। सात्त्विक गुण प्रधान पुरुष, अवैधानिक, असमाजिक कार्यो में लज्जा का भाव रखता है। उसे समाज का भय रहता है और उसे यह भी भय रहता है इस प्रकार के कृत्यों से हमारा लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ सकता है। इस प्रकार अवैधानिक कार्यो में जो लज्जा का भाव है वह सात्त्विक गुण के कारण ही रहता है।

(छः) मन को संयमित करने की चेष्टा :–

साधारणतया मन अत्यंत चंचल और विशेष रूप से प्रमथनशील रहता है। मन संसार में निरन्तर मारा मारा फिरता है। मन की चंचलशीलता जगत के विषयों के कारण ही है। मन का भ्रमण जगत के विषयों में होता रहता है। सामान्यता मनुष्य उसकी चंचलता के कारण से परिचित नहीं हो पाते हैं। साधक जब साधना पथ पर अग्रसर होता है तो वह मन को संयमित करने की चेष्टा करता है। सात्त्विक गुणों के विकास के कारण मन संयमित होने लगता है। मन का संयमन अभ्यास तथा वैराग्य से ही हो सकता है। सात्त्विक गुण के कारण अभ्यास करने की चेष्टा साधक करता है। यह मन के संयम का अभ्यास सात्त्विक गुणों का ही कार्यरूप समझना चाहिए। मनुष्य सामान्य रूप से वैसे मन को संयमित करने का प्रयास नहीं करता है। रजोगुण से प्रभावित मनुष्य संसार को, सांसारिक भोगों को पाने की चेष्टा करता है इस कारण मन तेजी से गति करता है। तमोगुण से प्रभावित मनुष्य दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इस कारण उसके मन में घोर अशान्ति एवं चंचलशीलता रहती है। मात्र सात्त्विक गुण के प्रभाव से साधक मन को संयमित करने की चेष्टा करता है। वैराग्य का अर्थ संसार तथा सांसारिक वस्तुओं तथा भोगों से घृणा का हो जाना है। यह वैराग्य भी सात्त्विक गुण के कारण ही आता है। वैसे नहीं आता है। संसार तथा सांसारिक वस्तुओं, भोगों की वास्तविकता, उनकी विनाशी प्रकृति की समझ सात्त्विक गुण के कारण प्रकट होती है। अनायास प्रकट नहीं होती है। इसे सात्त्विक गुण का ही कार्यरूप समझना चाहिए। इस प्रकार सात्त्विक गुण के प्रभाव से मनुष्य अपने मन को संयमित करने की चेष्टा करता है।

(सात) इन्द्रिय निग्रह का प्रयास :–

इन्द्रियों के पांच विषय हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध कहा जाता है। जैसे नाव में एक छिद्र हो जाने पर यदि उसमें जल भरना आरम्भ हो जाऐ तो धीरे–धीरे नाव स्वतः ही डूब जाती है। मनुष्य में उपरोक्त शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध के अतिरिक्त कर्मेन्द्रियों के भी विषय हैं जो मनुष्य को संसाररूपी समुद्र में डुबों देते हैं। नाव में एक छिद्र होने से नाव डूब सकती है परन्तु मनुष्य में विषयरूपी यह पांच छिद्र हैं जिसमें सामान्य मनुष्य उनमें डूबा रहता है। आंखे सुन्दर मनोहारी और मनोरम दृश्य देखना चाहती है। कान मधुर संगीत और शब्द सुनना चाहते हैं। जिह्वा सुस्वादु भोजन का स्वाद लेने की इच्छुक होती है। त्वचा कोमल स्पर्श की आकांक्षा करती है और नासिका सुगन्धित द्रव्य में डूबना चाहती है। कर्मेन्द्रियों के भी उक्त पांच ही विषय हैं और कर्मेन्द्रियां भी अपने विषयों में डूबने की इच्छा रखती हैं। राजसी और तामसी पुरुषों में यह विषयों की प्रबलता का

ज्ञान नहीं होता हैं और न ही वह विषयों के ज्ञान परिचित होना चाहते हैं। सात्त्विक गुण का प्रभाव जब मनुष्य पर आ जाता है तो वह अपनी इन्द्रियों को इन्द्रिय विषयों से हटाता है अर्थात् उनसे निग्रह करता है। इन्द्रियों का इन्द्रियअर्थो से हटा लेना ही इन्द्रियनिग्रह कहा जाता है,इसप्रकार सात्त्विक गुण की क्रियाशीलता से इन्द्रियनिग्रह का प्रयास होता है।

(आठ) तपश्चर्या की इच्छा :–

संसार मे प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति का प्रयास चलता रहता है। बिना प्रयास के कोई सफलता प्राप्त नहीं होती है। यहां तक कि संसार में जो कुछ भी प्राप्त होता है वह सबका सब प्रयास से ही प्राप्त होता है। हमारा जीवन भी, जीवन की आवश्यकताऐं भी चाहें वे अनिवार्य हों अथवा आवश्यक हों सबकी सब प्रयत्न से ही पूरी की जाती हैं। परमात्मा की प्राप्ति का जो प्रयास है उसे सामान्य रूप से तपश्चर्या समझना चाहिए। संसार की अनेक वस्तुऐं प्रयास से हमें हस्तगत होती हैं। वे वस्तुऐं तो व्यक्त स्वरूप में रहती हैं, परन्तु अव्यक्त परमात्मा एक मात्र तपश्चर्या से ही प्राप्त होता है। इतिहास का जब हम अध्ययन करते हैं तो अनेक कथाओं, प्रसंगों में तप का प्रकरण, विवरण हमें प्राप्त हो जाता है परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास असंख्य लोगों द्वारा किया जाता है यह प्रयास तप कहलाता है। तप करने की इच्छा सात्त्विक गुण की प्रबलता से होती है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य संसार की वस्तुऐं भोग प्राप्ति का प्रयास करता है। तमोगुण के प्रभाव से दुष्कर्मो की इच्छा करता है और सत्त्वगुण के प्रभाव से परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा स्वतः ही होती है। सत्त्व गुण के प्रभाव से मनुष्य जीवन की वास्तविकता को जान जाता है और उसे संसार से घृणा हो जाती है। संसार में अरूचि, घृणा से ही परमात्मा की ओर उन्मुखता होती है। साधक परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करने लगता है। इसी को तपश्चर्या कहते हैं। तपश्चर्या की इच्छा सात्त्विक गुण का कार्यरूप है।

(नौ) विवेक का उदय :–

सामान्यतः मनुष्य को यह ज्ञान नहीं रहता है कि हमें क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए? इस प्रकार का ज्ञान न होने को ही किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति कहते हैं। सामान्य मनुष्य को जब यह ज्ञान नहीं होता है कि उसे क्या करना चाहिए? क्या नहीं करना चाहिए? तब वह मनमाने ढंग से अर्थात् स्वेच्छाचारिता से कर्म करता है। स्वेच्छाचारिता से किया गया कर्म अधिकांश रूप से शास्त्रों के प्रतिकूल होता है। वर्तमान में यही स्थिति है। मनुष्य अपने को योग्य, पढा लिखा, समझदार, ज्ञानी समझ कर अपनी बुद्धि से मनमाना आचरण कर रहा है। मनुष्य पर जब सत्त्व गुण का प्रभाव हो जाता है तो वह

करने योग्य कर्तव्य कर्मो का आचरण आरम्भ करता है। किसी भी कर्म के आचरण के पूर्व उस पर विचार करना उसकी विशिष्टता हो जाती है। इसे विवेक का उदय होना कहा जाता है।

बुद्धि की शुद्ध विनिश्चयात्मक शक्ति जो कर्तव्य और अकर्तव्य का, कर्म और अकर्म का, धर्म और अधर्म का सही सही निश्चिय कर लेती है उसे विवेक कहा जाता है। मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति अनायास नहीं होती है, वरन् सात्त्विक गुण के प्रभाव से होती है। तमोगुण से जब मनुष्य आवृत हो जाता है तो उसे कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, अधर्म के आचरण में कोई लज्जा नहीं रहती है। ऐसा मनुष्य अधर्म को धर्म समझ कर तथा अकर्तव्य को अकर्तव्य समझ कर व्यवहार करता रहता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालता है। प्रत्येक अर्थ का प्रतिकूल अर्थ निकालना तमोगुण के प्रभाव का प्रतीक है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य कर्मासक्त होने के कारण अपने विवेक का उचित प्रयोग नहीं कर पाता है। सात्त्विक गुण का प्रभाव जब मनुष्य में बढ़ता है तब वह विवेकशील हो जाता है। इस प्रकार सात्त्विक गुणों के कार्य से मनुष्य में विवेक का उदय होता है।

(दस) सत्याचरण :–

मनुष्य का मन अनेक तथ्यों, विषयों के बारे में निरन्तर विचार किया करता है। मन जो कुछ भी विचार करता है बुद्धि उसे जानती है तथा उसका विनिश्चय भी करती रहती है। अधिकांशतः मन के साथ बुद्धि संलग्न रहती है। जैसे स्वच्छ जल में थोड़ी सी गंदगी आने पर वह हमें प्रतीत होती है। वैसे ही मन में कोई कुविचार आने पर बुद्धि उसे जान लेती है। इसी प्रकार बुद्धि यह भी जानती है कि सही क्या है? गलत क्या है ? शरीर पर जब तम और रजगुण का प्रभाव रहता है तो यह सत्य और असत्य के परख की क्षमता समाप्त कर देता है और ऐसी स्थिति में बुद्धि सही सही विनिश्चय करने में असमर्थ हो जाती है। जब सही विनिश्चय नहीं होता है तो आचरण भी सही नहीं होता है। जब शरीर पर सात्त्विक गुण का प्रभाव आ जाता है तब मनुष्य की बुद्धि सत्य और असत्य का सम्यक् विनिश्चय कर लेती है और सत्य का आचरण करने का प्रयास भी करती है। सत्य और असत्य में अंतर करके सत्य को जानकर उसका आचरण करना ही सत्याचरण कहा जाता है और यह सत्याचरण सात्त्विक गुण के कारण ही होता है। इसलिए सत्य के आचरण को सात्त्विक गुण का कार्यरूप जानना चाहिए।

(ग्यारह) दयाभाव :–

गरीबों, असहायों, अनाथों, निर्धन और अपनों का अहित करने वालों के प्रति सहायता

का भाव रखना तथा उनकी यथासंभव सहायता करना दयाभाव कहा जाता है। जब मनुष्य में सात्त्विक गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है तब वह समस्त प्राणियों के प्रति अनायास ही दयालु हो जाता है। जैसे हम किसी गरीब मनुष्य को देखते हैं तो सामान्यतः उसकी उपेक्षा करते हैं। यह उपेक्षा रज और तमगुण के कारण और उसके प्रभाव से अनायास ही प्रकट हो जाता है। गरीबों की सहायता का भाव नहीं रहता है। इसके प्रतिकूल जब किसी गरीब को देखकर उसकी सहायता का भाव मन में आता है कि हम उसकी क्या सहायता करें, अधिक से अधिक सहायता करें तो यह भाव सात्त्विक गुण के कारण ही आता है। कोई मनुष्य किसी प्रकार असहाय है तो उसकी सहयता का भाव भी दयाभाव कहलाता है। यह सात्त्विक गुण के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है। सात्त्विक गुण की प्रबलता जब होती है तो गरीब और असहाय मनुष्य को देखते हीं मन सहज ही अनायास ही अपनी शक्ति से अधिक साहयता का भाव रहता है। उसके कष्ट को देखकर मन स्वतः ही द्रवित हो जाता है और हाथ सहायता के लिए उठ जाते हैं। यह भावना जब अनायास आती है तो इसे सात्त्विक गुण की प्रबलता समझना चाहिए और उसका प्रभाव मानना चाहिए। इस प्रकार दयाभाव भी सात्त्विक गुण का ही कार्यरूप है। सात्त्विक गुण के कारण ही उत्पन्न होता है।

(बारह) यदृच्छालाभसंतुष्टः :–

मनुष्य जीवन में अभाव की सर्वथा प्रतीति स्वतः ही हुआ करती है। यह मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जहां भी है जैसी भी स्थिति में है जो भी है जैसे भी है उस सबमें उसे अभाव लगता है। तभी वह उस अभाव की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील भी रहता है। मनुष्य के जीवनपर्यंत न तो अभाव समाप्त होता है न ही उसकी प्रयत्नशीलता समाप्त होती है। एक अभाव की पूर्ति होते हीं दूसरे अभाव की ओर दृष्टि जाती है। यह स्वाभाविक रूप से रहता है। मनुष्य जीवन में असंख्य अभाव हैं, इस कारण सदैव अभाव रहता है। उसकी पूर्ति हो पाना असंभव है। यह रज और तमगुण के कारण अभाव की नई नई श्रृंखला बनती जाती हैं। नवीन कामनाओं की उत्पत्ति रजोगुण का लक्षण है और उनको शास्त्र प्रतिकूल कर्मो से प्राप्त करना तमोगुण का लक्षण है। आपने संभवतः ऐसे मनुष्यों को नहीं देखा होगा जो यह कहते हैं कि जहां हूं जैसा हूं जो भी हूं बिल्कुल ठीक हूं। अब हमें कुछ प्राप्त करना अवशेष नहीं है। जीवन में सब कुछ प्राप्त हो चुका है अब और अधिक मिलने की इच्छा नहीं है। सामान्य रूप से जब आप किसी से बात करते हौंगे तो वह यही कहता है कि अभी अमुक कार्य करने हैं और जीवन भर मनुष्य में कार्यशीलता बनी रहती है।

मनुष्य जब सत्त्व गुण के अधीन हो जाता है तो उसमें अभाव की वृत्ति समाप्त हो जाती है। यही सात्त्विक गुण की विशेषतः है। सात्त्विक गुण के प्रभाव से मनुष्य शान्त और

संतुष्ट हो जाता है। जो कुछ उसे प्राप्त है उसमें ही वह अति प्रसन्नता का आभास करता है और जो अप्राप्त है उसकी वह आकांक्षा नहीं करता है। जो मिल जाए वह खा लेता है और जहां रहने की व्यवस्था हो वहीं वह रूक जाता है और निश्चिंत होकर सो जाता है। इसी को यदृच्छालाभसंतुष्टः कहा जाता है। यह स्थिति सत्त्व गुण के कारण ही आती है। सत्त्वगुण की प्रबलता से मनुष्य संतुष्ट रहता है और किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं करता है। इसलिए इसे सत्त्वगुण का कार्यरूप समझना चाहिए।

(तेरह) सांसारिक विषयों में उदासीनता का भाव :–

सांसारिक विषयों की असंख्यता है। विषयों की सही संख्या बता पाना असंभव है। इन्हीं असंख्य सांसारिक विषयों में मनुष्य जीवनपर्यन्त भ्रमण करता रहता है और उनसे शीघ्र निकल नहीं पाता है। परमात्मा ने मनुष्य में सांसारिक भोगों को भोगने की क्षमता उत्पन्न कर दी है और साथ ही संसार में विभिन्न भोग पदार्थ भी उत्पन्न कर दिए हैं। संसार के विभिन्न भोग, मनुष्य की भोग वृत्ति को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और वह इस आकर्षण में फंसा रहता है। अधिकतर मनुष्यों की ऐसी ही स्थिति है कि वह सांसारिक भोगों में फंसा हुआ अपने जीवन को विनिष्ट कर रहा है। मनुष्य सांसारिक भोगों में क्यों फंसा हुआ है? इसका उत्तर है कि उसमें क्षणिक सुख का आभास रहता है। इस क्षणिक सुख की प्रतीति में मनुष्य का जीवन व्यतीत हो जाता है। यह सुख भोग का आभास राजस और तामस गुणों के कारण विशेष रहता है। सात्त्विक गुण के प्रकटीकरण से तथा उसके प्रभाव से सांसारिक विषयों में उदासीनता का भाव आ जाता है। सांसारिक भोगों का संयोग होने पर भी उनमें प्रवृत्ति का न होना ही सांसारिक भोगों में उदासीनता है। गुण के प्रभाव से सांसारिक भोगों में अनिच्छा का भाव रहता है और वह प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार सांसारिक विषयों में उदासीनता सात्त्विक गुण का कार्यरूप है।

(चौदह) सात्त्विक गुण का विशिष्ट प्रभाव :–

सात्त्विक गुण का शरीर पर जब प्रभाव विशेष होता है तो शरीर में विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अनावश्यक निद्रा का समापन, प्रमाद और आलस्य का विनाश इन्द्रियों में विशेष चैतन्यता, मन तथा बुद्धि में प्रकाश, उत्तम चिंतन, संसार तथा उसके भोगों में अनिच्छा, भोग वृत्ति प्रधान लोगों की संगति से घृणा, शान्तभाव, अनावश्यक बातचीत से बचाव, कार्य कुशलता, देवताओं, श्रेष्ठ पुरुषों, साधु संतों में श्रद्धा, सत्संग की प्रवृत्ति, शास्त्रों के अध्यापन में रूचि, मृदुभाषिता, सरल आचरण, लोगों की सहायता करने की वृत्ति, परमात्मा में अटूट श्रद्धा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सत्व गुण से शरीर जब

प्रभावित होता है तो मनुष्य को साधना की विशेष इच्छा होती है और उसका उसे आभास होता है। इस प्रकार सात्त्विक गुण का विशेष प्रभाव आचरण और व्यवहार में भासता है और प्रतीत होता है।

(ख) रजोगुण की क्रियाशीलता से उत्पन्न वृत्तियां :–

मनुष्य जब रजोगुण के प्रभाव से आवृत हो जाता है अर्थात् उसमें रजोगुण की प्रबलता रहती है तो रजोगुण के कार्यरूप, अनेक वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। रजोगुण बड़ा विशिष्ट गुण है कि वह मनुष्य को जीवन भर कामनाओं के महासमुद्र में गोते लगवाता है और मनुष्य उसमें डूबा हुआ जीवनपर्यन्त निकल नहीं पाता है। रजोगुण की वृत्तियां प्रमुखता से निम्न प्रकार की हैं।

(एक) अनन्त कामनाऐं :–

मनुष्य स्वभावतः रजोगुणी होता है। रजोगुण का प्रमुख कार्य कामनाओं की उत्पत्ति कर देना है। इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि कामनाओं के वास स्थान कहे जाते हैं। अर्थात् कामनाऐं इन्द्रियों में, मन में तथा बुद्धि में रहती है। जैसे हम सब घर में रहते हैं। घर में रहने के पूर्व भी कहीं रहते हैं। वैसे ही कामनाऐं भी इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि में वास करती है परन्तु वास करने के पूर्व भी कहीं से आती हैं? कहां से आती है ? और इन्द्रिय तथा मन बुद्धि में ठहर जाती हैं, रूक जाती हैं। इस पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यह संसार जिसमें अंनन्त भोग वस्तुऐं हैं उन्हें इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि ग्रहण कर लेती हैं। इस प्रकार मनुष्य की इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में अनन्त कामनाऐं आ जाती हैं। यह कामनाओं के आने की प्रक्रिया चला करती है। इसलिए भी अनन्त हो जाती हैं। कामनाऐं न तो इन्द्रियों में मन, बुद्धि में आना समाप्त करती हैं और न ही उनका किसी प्रकार अन्त होता है। यह सब रजोगुण के कारण ही होता है। इसप्रकार रजोगुण की क्रियाशीलता से अनन्त कामनाऐं मनुष्य में आ जाती हैं।

(दो) कामनाओं की पूर्ति का प्रयास :–

रजोगुण के कारण मनुष्य कामनाओं की पूर्ति का प्रयास करता है। कामनाओं की इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में आ जाने पर उनकी पूर्ति का प्रयास मनुष्य स्वाभाविक रूप से करता है। जैसे हम किसी मिष्ठान की दुकान पर कोई सुस्वाद मिष्ठान देखे तो उसे खाने की इच्छा होती है। यह इच्छा दो कारणों से होती है। एक पूर्व में उस मिष्ठान को खाने के कारण उसके स्वाद की स्मृति संचित रहती है। दूसरे उसकी सुस्वादिता के बारे में सुनकर

भी उसको खाने की इच्छा प्रकट हो जाती है। यह दोनों कारणों से हम मिष्ठान को खाना चाहते हैं, या खाने की कामना करते हैं। मिष्ठान को खाने की इच्छा जागृत होने पर हम उसे खाने के लिए उस दुकान के समीप जाते हैं तथा निर्धारित मूल्य देकर उसे ले लेते हैं और उसका उपभोग करते हैं। यदि वह मिष्ठान हमारी क्रय क्षमता से बाहर होता है तो हम धन की व्यवस्था करने का प्रयास करते हैं। यह सबका सब उपक्रम मिष्ठानरूपी कामना की पूर्ति हेतु ही होता है। इस प्रकार हम अपनी कामना की पूर्ति का प्रयास करते हैं।

उपरोक्त प्रकार से समस्त इन्द्रियों की पृथक्–पृथक् कामनाऐं है, जिनके उपभोग की इच्छा जागृत होने पर हम उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। नेत्र के भोग की कामना पृथक् है। यह रूपरूपी गुण के अधीन रहती है। त्वचा की कामनाऐं पृथक् हैं वह स्पर्शरूपी गुण के अधीन रहती है। कर्ण और नासिका के भोगों की पृथक् कामनाऐं हैं। वह शब्द और गंध रूपी भोग के अधीन रहती हैं। इस प्रकार यह कामनाओं का संजाल बहुत विस्तृत है, जिनकी प्राप्ति का प्रयास मनुष्य जीवनपर्यन्त करता है। यह जो प्रयास है वह रजोगुण का कार्यरूप है। इस प्रकार रजोगुण के कारण ही कामनाओं की पूर्ति का प्रयास मनुष्य करता है। यदि हम किसी भी कामना की पूर्ति का प्रयास करते हैं तो वह प्रयास भी रजोगुण के कारण ही होता है। इस तथ्य को हमें स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

(तीन) भोग वृत्ति :–

मनुष्य में सांसारिक भोगों के प्रति उन्मुखता भी रजोगुण के कारण होती है। मनुष्य को भोगों में प्रियता का क्षणिक आभास होता है। संसार में प्रत्येक मनुष्य सुस्वाद भोजन खाना चाहता है। सुन्दर मनोराम दृश्य देखना चाहता है मधुर कर्ण प्रिय गीत आदि को सुनना चाहता है। कोमल स्पर्श का आकांक्षी होता है। सुगन्धादिक द्रव्यों की सुगन्ध चाहता है इन सबके प्रतिकूल कोई स्वादरहित भोजन नहीं चाहता है। वीभत्स, भयंकर दृश्यों को देखना नहीं चाहता है। बेसुरा संगीत सुनने की इच्छा नहीं रखता है। कठोर स्पर्श का आकांक्षी नहीं होता है। दुर्गन्ध से युक्त स्थान में रहने की इच्छा नहीं करता है। यह प्रवृत्ति साधारणतया रहती है। सांसारिक अनुकूलताओं को ग्रहण करने की इच्छा तथा सांसारिक प्रतिकूलताओं से वियोग की इच्छा ही भोगवृत्ति कहलाती है। गर्मी के दिनों में ठंडी वस्तुओं का सेवन और ठंडे स्थान में रहने की इच्छा गर्म मौसम में ठंडे स्थान में रहने की आकांक्षा यह सबका सब भोगवृत्ति के कारण ही होता है।

रजोगुण की प्रबलता तथा प्रभाव से भोगवृत्ति का उदय हो जाता है। मनुष्य रजोगुण से प्रभावित होता है तो वह सांसारिक भोग सामग्री को एकत्र करने तथा उनके उपभोग की

चेष्टा करता है। भोगों में प्रवृत्ति अनायास अथवा बिना कारण नहीं होती है। हम सब सामान्य रूप से यह तथ्य नहीं जानते हैं। जब हमारे मन में इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो जाए तो हमें स्पष्ट जानना चाहिए कि हम रजोगुण के प्रभाव से आवृत हैं। इस प्रकार भोग वृत्ति भी रजोगुण के प्रभाव और उसकी क्रियाशीलता के कारण उत्पन्न हो जाती है। भोगवृत्ति का जब उदय हो जाए तो समझना चाहिए कि मनुष्य रजोगुण के प्रभाव से आच्छादित है।

(चार) अहंकार की उत्पत्ति :–

रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य में एक विशेष प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति तो सदैव उसके साथ रहती है परन्तु इसका उत्पन्न हो जाना विशिष्ट है। अहंकार भी रजोगुण का कार्यरूप है। अहंकार का पूर्ण लक्षण है सुख दुख की प्रतीति कराते रहना। हम सभी को अनुकूलताओं में जो सुख की प्रतीति तथा प्रतिकूलताओं में जो दुःख का आभास होता है उसका कारण अहंकार ही होता है। मनुष्य जो भी है जैसी स्थिति में है जिस पद और प्रतिष्ठा में जिस रूप स्वरूप में है। जैसा उसको अपना आभास हो रहा है। इस सब सांसारिक स्थिति का आभास अहंकार के कारण ही होता है। अहंकार बहुत ही सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे साधारणतया देखा जा पाना, पहचाना जा पाना भी संभव नहीं है। सामान्य मनुष्य अहंकार से आवृत रहते हुँए भी उसकी वास्तविकता से परिचित नहीं हो पाता है। जैसे हम स्नान आदि न किये हुए हों और हमें अपनी अस्वच्छता का आभास भी न हो तो इसे एक विशिष्ट स्थिति कहा जाएगा। इसी प्रकार अहंकार से आवृत होने के पश्चात् भी मनुष्य इसके बारे में जान नहीं पाता है। यह अहंकार का विशेष गुण है। मनुष्य में अहंकार की प्रवृत्ति रजोगुण के कारण होती है।

(पांच) संशय की उत्पत्ति :–

किसी विषय के सम्बंध में सम्यक्रूपेण सत्य का विनिश्चय न हो पाना ही संशय कहलाता है। संशय प्रमुख रूप से दो प्रकार का होता है, जिनसे शाखारूप अन्य प्रकार के संशयों की उत्पत्ति हो जाती है। एक जीवन के उद्देश्य के प्रति संशय रहना तथा दूसरे अन्य उद्देश्यों के प्रति भी संशय रहना। जीवन के उद्देश्य के प्रति संशय रहना तो प्राथमिक संशय है, जिसका विनिश्चय रजोगुण के कारण नहीं हो पाता। जब जीवन के उद्देश्य का विनिश्चय नहीं हो पाता अर्थात् उसमें संशय रहता है तो जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति का संशय रहना भी अनिवार्य है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य जीवन के उद्देश्य को निम्न प्रकार विनिश्चत करता है।

(क) जीवन का उद्देश्य धन की प्राप्ति कर लेना है तथा उसके संचय से भोगों का भोगना ही जीवन की उपलब्धि है।

(ख) जीवन का उद्देश्य सम्पत्ति की प्राप्ति है जिससे हम अनेक प्रकार की सम्पत्ति एकत्र कर लेंगे।

(ग) जीवन का उद्देश्य पद की प्राप्ति है जिससे हम असीमित अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे और सुखपूर्वक रहेंगे।

(घ) जीवन का उद्देश्य प्रतिष्ठा की प्राप्ति है। जिससे हमारा समाज और संसार में बहुत सम्मान और आदर प्राप्त होगा।

(ङ) जीवन का उद्देश्य ऐश्वर्य की प्राप्ति है जिससे हम राजाओं के समान सुख भोग सकेंगे।

(च) जीवन का उद्देश्य सांसारिक ज्ञान का अर्जन है जिससे हम अनेक प्रकार की विधाओं से परिचित हो सकेंगें।

(छ) जीवन का उद्देश्य राजपद की प्राप्ति है जिससे हम पूर्ण वैभवयुक्त जीवन जीकर ऐश्वर्य से रहेंगे।

इसी प्रकार जीवन के अन्य उद्देश्यों से भी हम संशयपूर्वक अनेक प्रकार की भावनाओं को अंतःकरण में रखते हैं। अनेक प्रकार के संशय मनुष्य को अनेक प्रकार से भ्रमित करते हैं और यह समग्र संशय रजोगुण के कारण ही मनुष्य में उत्पन्न हो जाते हैं। जब मनुष्य में रजोगुण की प्रबलता हो जाती है तो उपर्युक्त प्रकार के संशयों का स्वाभाविक रूप से उदय होना अनिवार्य हो जाता है। विशेष रूप से सांसारिक स्थितियों, पदार्थो, वस्तुओं आदि के बारे में जो संशय होता है वह रजोगुण के कारण होता है क्योंकि सात्त्विक गुण की प्रबलता में जो संशय उत्पन्न होते हैं वे प्रमुखता आध्यात्मिक तथ्यों के बारे में होते हैं, जिनका विषय परमात्मा, जीवन, प्रकृति होता है। इसलिए मनुष्य जब अनेक प्रकार के संशयों से ग्रसित हो जाता है तब उसमें रजोगुण की प्रबलता हो जाती है।

(छः) अपने मत और सिद्धान्त को सही मानना :–

मनुष्य किसी स्तर का वह अपने मत को, सिद्धान्त को श्रेष्ठ तथा सही ठहराना चाहता है। जानकार हो, अज्ञानी हो, किसी विषय के बारे में विशिष्ट ज्ञान रखता हो अथवा न रखता हो फिर भी अधिकांश मनुष्यों में यह प्रवृत्ति रहती है। कि जो हम कहें वह सबका

सब ठीक है। यह प्रवृत्ति रजोगुण के कारण होती है। यह प्रवृत्ति कम जानकार लोगों में अशिक्षित लोगों में भी पायी जाती है। पढ़े लिखे मनुष्यों में इस प्रवृत्ति के प्रति अधिक दुराग्रह रहता है। पढ़ा लिखा मनुष्य समाज के बारे में, आचरण के बारे में व्यवहार के बारे में ज्यादा ही जानकार हो जाता है। यह जानकारी का मिथ्या अनुमान भी अपने मत सिद्धान्त को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए बाध्य करता है। हम कुछ मामलों में, अधिकांश विषयों में जानकार भी नहीं रहते हैं। अर्थात् हमारा ज्ञान अनेक विषयों में सीमित रहता है परन्तु फिर भी हम रजोगुण के कारण अपने सिद्धान्त तथा मत को दृढ़तापूर्वक सही सिद्ध करना चाहते हैं। यह सब रजोगुण की वृत्ति के कारण ही होता है। उसी को कभी–कभी हम हठवादिता भी कह देते हैं। हठ के कारण दुराग्रह के कारण भी हम अपने को सही समझते हैं तथा दूसरों को भ्रमपूर्ण और गलत समझते हैं। राजनीति में यह प्रायः देखा जाता है कि राजनीतिक महानुभाव आपस में दोषारोपण किया करते हैं। यह रजोगुण की वृत्ति है जिसके कारण हम अपने कथन को सही मानते हैं और दूसरों के मत को भ्रामक त्रुटिपूर्ण मानते हैं।

(सात) कीर्ति से स्नेह :–

रजोगुण प्रधान मनुष्यों में अपनी यशकीर्ति की इच्छा की प्रबलता रहती है। इसे रजोगुण का साक्षात् प्रभाव ही मानना चाहिए। रजोगुणी मनुष्य ऐसे कार्य का विचार करता है जिससे उसकी कीर्ति एवं यश बढ़े। समाज में लोग उससे परिचित हों। समाज सेवा के कार्य भी यशकीर्ति की दृष्टि को रखकर मनुष्य करता है। इसी को कीर्ति से स्नेह कहना कहा जाता है। गरीब लोगों की सहायता उनकी सेवा चिकित्सा की व्यवस्था, शिक्षा क्षेत्र में सहयोग जैसे कार्य भी अपनी यश कीर्ति के कारण करता है ताकि लोग उसे पहचाने। समाज में अपनी पृथक् पहचान के लिए, समाजसेवी कहलाने के लिए, समाज सेवा के जो कार्य होते हैं वे राजोगुण की प्रधानता एवं प्रभाव के कारण होते हैं। जब इस प्रकार की समाजसेवी कार्यो से लोग उसे जानते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, तो उसे स्वतः ही प्रसन्नता की अनुभूति होती है और वह उसमें अनुकूलता का आभास करता है।

सकाम भावना से, फल की दृष्टि से जो कार्य होते हैं और उनसे जो कीर्ति यश प्राप्त होता है वह रजोगुण का कार्यरूप है। इस प्रकार की यशकीर्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है। जब मनुष्य निष्काम भावना से बिना फल की याचना से तथा परिणाम के भाव को मन में न रखकर समाज सेवा के जो कार्य करता है उसमें उसकी कीर्ति एवं यश स्वतः ही फैलते हैं और यशकीर्ति के प्रचार प्रसार हेतु उसे प्रयत्न भी

नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार मन में यश और कीर्ति का भाव न रहें।

(आठ) सकाम देवोपासना– रजोगुण प्रधान मनुष्य देवी–देवताओं की उपासना अपनी संसारिक कामनाओं की पूर्ति हेतु करता है। यह रजोगुण का कार्यरूप है कि जो मनुष्य को सकाम देवी–देवताओं की उपासना हेतु प्रेरित करता है और बाध्य भी करता है। निष्काम भाव से फल की इच्छा का त्याग करके लोगों के हितार्थ कर्तव्य कर्म समझकर देवी–देवताओं कि जो उपासना की जाती है वह सात्त्विक देवोपासना होती है। संसार में जो संसारिक भोग हैं उनकी पूर्ति संसारिक पदार्थों से ही होती है। संसारिक भोग सामग्री के एकत्रीकरण का प्रयास मनुष्य रजोगुण के अधीन रहकर करता है। जब वह यह अनुभव करता है कि हमारी कामनाऐं अपूर्ण हैं और वे हमारे प्रयास से पूरी हो पाना संभव नहीं हैं अथवा हमारा प्रयास वहां तक नहीं पहुंच रहा है तो वह देवी–देवताओं की उपासना करने का संकल्प लेता है और यथाविधि श्रद्धानुसार देवी–देवताओं की उपासना भी करता है। इस प्रकार जब हम संसारिक भोग वस्तुओं की प्राप्ति की कामना से देवी–देवताओं की उपासना करते हैं तो वह सकाम देवोपासना कहलाती है तथा यह रजोगुण का कार्यरूप है।

(नौ) तृष्णा की उत्पत्ति– संसारिक विषय भोगों के भोगने की इच्छा को तृष्णा कहते हैं जैसे भूख प्यास एक तृष्णा होती है। भूख की क्षणिक निवृत्ति भोजन से हो जाती है और प्यास की क्षणिक निवृत्ति जल से हो जाती है परंतु कुछ काल के पश्चात भूख–प्यास पुनः उत्पन्न होती है। इस कारण भूख और प्यास एक प्रकार की तृष्णा ही है। संसारिक भोगों की तृष्णा भी कुछ इसी प्रकार होती है तथा हम संसारिक भोग चाहते और भोगते हैं पर उनका पूर्ण निवारण नहीं होता है। इसका एक कारण तृष्णा ही है। रजोगुण के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है और यह राजसी गुण का कार्यरूप है। रजोगुण की प्रमुख वृत्तियों का उसके कार्यरूप का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हुआ इसके अतिरिक्त भी रजोगुण के कार्य का विस्तार है जो हमें विभिन्न प्रकार से प्रतीत होता है। इस संदर्भ में कुछ विशिष्ट तथ्य निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जैसे–

1– अनेक प्रकार की इच्छाओं और अकांक्षाओं का स्वतः ही उत्पन्न हो जाना और उन आकांक्षाओं का जीवनपर्यंत बने रहना, ये राजसी गुण का कार्यरूप है।

2– संसारिक वस्तुओं के प्राप्त हो जाने पर उनके अस्तित्त्व का मिथ्या आभास होना जबकि संसारिक वस्तुऐं कुछ समय के लिए हमारे संपक्र में आती हैं, इसलिए रजोगुण हमें क्षणिक वस्तुओं का मिथ्याभास कराता है।

3– हास्यभाव की उत्पत्ति रजोगुण का कार्यरूप है जो हास्यभाव सांसारिक क्रियाकलापों

को देखकर और उनका अनुभव करके होता है, उसे रजोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए।

4– रजोगुण के कार्य से और उसके प्रभाव से मनुष्य में विशेष रूप से असंख्य कामनाओं की उत्पत्ति हो जाती है जिससे अन्य अवगुणों का प्रादुर्भाव होना स्वतः और स्वाभाविक होता है, जो कामनाओं के कारण ही होता है।

(ग) तमोगुण की क्रियाशीलता से उत्पन्न वृत्तियां–

तमोगुण की क्रियाशीलता से मनुष्य में प्रमुख रूप से जिन वृत्तियों का उदय हो जाता है, वे मनुष्य के शरीर पर स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं। उनका स्पष्ट दर्शन मनुष्य के क्रियाकलापों को देखकर किया जाता है। तमोगुण के प्रभाव से प्रमुख रूप से निम्न वृत्तियां सहज ही प्रकट हो जाती हैं। प्रमुख वृत्तियों का विवरण निम्न प्रकार है।

(एक) लोभ– तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य में असीमित लोभ की उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण लोभ को तमोगुण का कार्यरूप कहा जाता है। मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ भी एकत्र कर पाता है उससे वह संतुष्ट नहीं होता है और भविष्य में हो भी नहीं सकता है। जब तक संतोषरूपी गुण मनुष्य में नहीं आता है तब तक उसे और अधिक पाने की इच्छा रहती है। इस इच्छा के कारण जो आकर्षक वस्तु उसे प्रतीत होती है वह उसे पाना चाहता है। यह वृत्ति ही लोभ कहलाती है। लोभ की वृत्ति रजोगुण के कारण होती है और वह तमोगुण का कार्यरूप है क्योंकि रजोगुण से और अधिक पाने की इच्छा उत्पन्न होती है और तमोगुण से जो कुछ पाया जाता है उसमें संतुष्टि का अभाव रहता है।

(दो) क्रोध– क्रोध की उत्पत्ति राजसी गुण के कारण होती है, परंतु उसका परिणाम तमोगुणी है। इस कारण क्रोध को तमोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए। मनुष्य में सामान्य रूप से अनेक प्रकार की कामनाऐं उत्पन्न हो जाती हैं। यह एक सामान्य तथ्य है। जब मनुष्य कामनाऐं करता है तो उसकी पूर्ति का भी प्रयास करता है और उन्हें पाने का प्रयत्न चलता रहता है। इस प्रयत्न की पूर्ति में जब कोई बाधा आती है तो क्रोध की स्वतः उत्पत्ति हो जाती है। कामना में पूर्ति की बाधा के कारण क्रोध की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत और नियम है। इसी कारण क्रोध को रजोगुण से उत्पन्न माना जाता है। मनुष्य जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है वो भी तमोगुण का ही कार्यरूप है और तमोगुण के द्वारा उत्पन्न भाव है।

(तीन) हिंसा वृत्ति– मनुष्य में जो दूसरों को प्रताड़ित करने, मारने–पीटने, कष्ट पहुंचाने या हत्या का प्रयास करने अथवा हत्या करने की जो वृत्ति है वो हिंसा वृत्ति कही जाती

है। ये वृत्ति जब मन में उत्पन्न होती है तब मनुष्य निश्चित तमोगुण के अधीन रहता है। हिंसा के भाव का मन में आना किसी को कष्ट पहुंचाने का प्रयास करना यह सब तमोगुण का ही कार्यरूप है। बहुत विचार करने पर यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि हमारे अंतःकरण में जो दूसरों के अहित करने की भावना उत्पन्न हो जाती है वह तमोगुण के ही कारण उत्पन्न होती है इसलिए हमें दूसरों के अहित की भावना का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि हिंसा वृत्ति मनुष्य के पतन का कारण होती है।

(चार) कर्म विहीनता– जब मनुष्य में तमोगुण का प्रभाव बढ़ता है तो वह अनावश्यक निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद के वशीभूत हो जाता है। सामान्य निद्रा के अतिरिक्त निद्रा का समय–समय पर आना, कर्तव्य कर्मों का समय से आचरण न करना, आवश्यक नित्य कर्म करने की इच्छा भी न करना तथा प्रमाद के वशीभूत होकर अपने जीविकोपार्जन के लिए भी कर्मो का न करना कर्म विहीनता कही जाती है। कर्म विहीनता तमोगुण का ही कार्यरूप मानी जाती है, इसलिए यदि मनुष्य में आवश्यक और अनिवार्य कर्म करने की इच्छा का भी अभाव हो जाए तो वह निश्चितरूपेण तमोगुण के अधीन हो जाता है। इसलिए कर्मविहीनता को तमोगुण का कार्यरूप माना जाता है।

(पांच) याचक भाव– तमोगुण से आवृत मनुष्य आर्थिक रूप से चाहें जितना संपन्न हो जाए उसमें दूसरों से सहायता प्राप्त करने का भाव रहता है। यह भाव समाप्त नहीं होता है। जब मनुष्य में प्रत्येक प्रकार से याचना का भाव प्रबल हो अर्थात् कुछ न कुछ मांगने का भाव आ जाए तो यह भाव तमोगुण के कारण उत्पन्न होता है। यह वृत्ति अभाव का निरंतर आभास करवाती रहती है। याचक भाव वैसे तो रजोगुण के कारण उत्पन्न होता है परंतु यदि इसमें प्रबलता आ जाए तो उसे तमोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए। जैसे जीवन में आपने बहुत से संपन्न पुरुषों को देखा होगा। वे अन्य व्यक्तियों से कुछ न कुछ याचना किया करते हैं। आवश्यकता न होने पर भी प्रार्थना करना और अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करना तथा कृपणता से जीवन यापन करना भी याचक भाव का ही पर्याय है।

(छह) अनावश्यक श्रम– कभी–कभी तमोगुण से प्रभावित लोग अनावश्यक श्रम करते रहते हैं। जिस श्रम का कोई अर्थ नहीं होता और न ही उससे कोई विशेष लाभ होता है उसे किया जाना ही अनावश्यक श्रम कहा जाता है। तमोगुण के कारण बुद्धि की स्वच्छ कार्यशक्ति विवेक का अभाव हो जाता है और यह अभाव होने पर कर्तव्य कर्म का सही–सही विनिश्चय मनुष्य कर नहीं पाता है। इस कारण जो कार्य उसे नहीं करना चाहिए वो करता है और जो कार्य करना चाहिए वह नहीं करता है। इस प्रकार अनावश्यक कार्यो

के संपादन से अनावश्यक श्रम हो जाता है। यह अनावश्यक श्रम तमोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए।

(सात) कलह का भाव– मनुष्य में कलह का भाव रहता है और वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। दूसरे मनुष्यों से, परिवार में संपक्रित लोगों से सगे–संबंधियों से अकारण ही द्वेष करना तथा उसे प्रकट करना ही कलह कहा जाता है। जब मनुष्य में तमोगुण की प्रबलता होती है तो वह मनुष्य तमोगुण के कारण अन्य लोगों से ईर्ष्या करता है और बात–बात पर बिना कारण के अनावश्यक विवाद करता रहता है। यह कलह का भाव तमोगुण का विशेष कार्यरूप है, क्योंकि इसमें मोह और याचना तथा कामनाऐं असीमित रूप से बढ़ जाती हैं। कलह का प्रमुख कारण अपने अधिकार की वस्तुओं को तो अपने अधिकार में रखना तथा दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को भी अपने अधिकार में रखने का प्रयास करना है।

(आठ) शोक– शोक के भाव का उदय प्रतिकूलता के कारण होता है, परंतु अधिकांशतः छोटे–छोटे कारणों से शोक के भाव का रहना तथा मन में छोटी सी प्रतिकूलता भी आने पर दुख की उत्पत्ति हो जाना तमोगुण के कारण होता है। यह शोक का भाव तमोगुण का विशेष कार्यरूप है। शोक रहता है तो मन में उदिग्नता रहती है और मनुष्य मन से दुखी रहता है तथा निराशा के भाव को व्यक्त करता है। इस प्रकार शोक तमोगुण की वृत्ति है और उसका कार्यरूप है। दुख के आने पर शोक की उत्पत्ति होती है और दुख का कारण अपने संपक्रित व्यक्तियों, वस्तुओं का वियोग होना अथवा उनकी आशंका होना होता है।

(नौ) पाखंड– तमोगुण का विशिष्ट अवगुण पाखंड भी है। सत्य के प्रतिकूल जो आचरण होता है वह सब का सब पाखंड की श्रेणी में आता है। जब मनुष्य तमोगुण से आवृत हो जाता है तब वह असंभव कार्य को भी संभव करने का दिखावा करता है। किसी भी कारण से जो दिखावे का कार्य होता है वह सब का सब पाखंड ही है। पूजा पाठ की विधि को न जानकर पूजा पाठ के संपादन का कार्य, लोगों को उनकी मनोकामना पूर्ति हेतु पाखंड करना अथवा अन्य कार्य हेतु असत्य का आचरण करना ये सब का सब पाखंड की श्रेणी में आता है। पाखंड को तमोगुण का कार्यरूप मानना चाहिए और वही उसकी उत्पत्ति का हेतु है।

उपरोक्त वृत्तियों के अतिरिक्त भी तमोगुण के कारण अनेक प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें मोह, वास्तविकता के प्रतिकूल आचरण करना, किसी भी कारण प्रतिकूलता देखकर दुखी हो जाना तथा अपने और अपने संपक्रित लोगों के अनिष्ट की आशंका रखना और अनिष्ट की आशंका के कारण भयभीत रहना आदि–आदि गुण भी

तमोगुण के कारण ही उत्पन्न होते हैं और प्रकट हो जाते हैं। वर्तमान समय में तमोगुण का प्रभाव विशेष है, इस कारण तमोगुण प्रधान लोगों की बहुलता है। समाज में तमोगुण का स्पष्ट और विशेष प्रभाव प्रतीत हो रहा है।

सत, रज, तम गुणों का विशिष्ट कार्य ही संसार में दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रकट हो रहा है, प्रत्यक्ष हो रहा है, व्यक्त हो रहा है। अन्य कुछ भी नहीं है। अर्थात सभी कुछ त्रिगुणमयी है। सात्त्विक गुणों के प्रभाव से सात्त्विक वृत्तियां उपजती हैं तथा रजोगुण के प्रभाव से राजसी वृत्तियों का उदय अनायास ही हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के प्रभाव से तमोगुण की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इस तथ्य को संक्षेप में समझना चाहिए। एक वृत्ति से अनेक वृत्तियां भी उत्पन्न हो जाती हैं क्योंकि गुणों का वृहद् कार्यरूप प्रतीत होता है। साधक मनुष्य गुणों के इस कार्यरूप को तथा उसके प्रभाव का आभास करता है। सामान्य मनुष्य इसका आभास न करके उसमें संलिप्त रहता है। गुणों के कार्यरूप का प्रभाव जान पाना इतना सहज नहीं है और इसके स्वरूप को समझना भी दुर्लभ है।

(5) त्रिगुणों का मिश्रित स्वरूप :–

सत्त्व, रज, तम यह त्रिगुण हैं परन्तु दो गुणों के मिल जाने पर इनका मिश्रित स्वरूप प्रकट हो जाता है और उससे मिश्रित गुण प्रकट होते हैं। इन मिश्रित गुणों को सत्त्व, रज, मिश्रित, रज तम मिश्रित, सत तम मिश्रित गुण कहा जाता है। मिश्रित गुणों का पृथक्–पृथक् प्रभाव शरीर पर प्रकट होता रहता है। जब दो गुणों का प्रभाव मिश्रित रूप से प्रतीत हो तो यह समझना चाहिए कि मनुष्य पर मिश्रित गुणों का प्रभाव है। मिश्रित गुणों के प्रभाव के सम्बंध में वर्णन निम्न प्रकार है।

(क) सत्त्व, रज, मिश्रित स्वरूप :–

सत्त्व और रज गुण की वृत्तियां मिश्रित रूप में जब प्रतीत होती हैं तब वह मनुष्य सत्त्व, रज, गुण के मिश्रित स्वभाव से प्रभावित रहता है। जैसे मनुष्य में देवताओं की उपासना की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाए परन्तु उसमें नैतिक कामनाऐं प्रकट होती है तो इसे सत्त्व रज का मिश्रित प्रभाव माना जाता है। इस प्रकार सत्त्व गुण की जिन वृत्तियों का पूर्वोक्त प्रकार से वर्णन हुआ है और रजोगुण की जिन वृत्तियों का भी वर्णन हो चुका है। जब दोनों वृत्तियां मनुष्य में सम्मिलित रूप से प्रतीत होती हैं तो इसको सत्त्व, रज मिश्रित गुण का प्रभाव कहा जाता है। सात्त्विक गुण में निर्मलता, निर्विकारिता तथा प्रकाश होता है और रजोगुण में तृष्णा और आसक्ति होती है। जब मनुष्य में यह पांचों गुण प्रकट हो जावे

तो उसे सत्त्व, रज, मिश्रित गुण का प्रभाव कहा जाएगा। सत्त्वगुण में जब सांसारिक कामनाओं की इच्छा उत्पन्न हो जाती है तब सात्त्विक गुण अपने में रज को मिला लेता है अनेक साधु संतों, प्रबुद्ध ज्ञानीजनों में सत्त्व रज मिश्रित गुण पाया जाता है, जिसके कारण वे परमात्मा की ओर पूरी तरह से उन्मुख नहीं हो पाते। शरीर में सुखभोग की इच्छा सात्त्विक मनुष्य को राजसी बना देती है। कामनाओं का पूर्ण परित्याग जब हो जाता है तो इसको सत्त्व गुण की प्रबलता मानना चाहिए और जब तक कामनाएं रहती हैं तब तक सत्त्व गुण के प्रबल रहने पर भी सत्त्व रज मिश्रित स्थिति मानी जाती है। इस प्रकार मिश्रित गुणों का भी प्रभाव मनुष्य के शरीर पर स्पष्ट रूप से देखा जाता है। यदि हम किसी आध्यात्मिक कार्य से धन सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्त करने का प्रयास करें तो यह प्रयास सत्त्व रज, तम मिश्रित गुण के कारण होता है।

(ख) सत्त्व, तम मिश्रित गुण :–

मनुष्य में जब सात्त्विक गुण की वृत्तियों के साथ–साथ दुष्कर्मिता भी प्रकट हो जाती है तो मनुष्य को सत्त्व तम मिश्रित गुणों के प्रभाव के अधीन मानना चाहिए। यह दो कारणों से होता है यह तो सत्त्व गुण रहने पर दुष्कर्मिता की ओर किसी कारण उन्मुख हुआ जावे अथवा तमोगुण के कार्यरूप दुष्कर्मिता में रहने पर किसी कारण से भगवान की भक्ति आ जावे और सत्त्वगुण तब प्रकट होने लगे। श्री भगवान ऐसे लोगों के लिए ही कहते हैं कि यदि कोई पापी मनुष्य मेरा भक्त है तो वह भी साधु मानने योग्य है, क्योंकि पापी तथा साधु दो प्रतिकूल प्रकार के मनुष्य हैं। पापी की वृत्ति तमोगुणी है तथा साधु की वृत्ति सतो गुणी है। यह दोनों ही वृत्तियां जब मिल जाती हैं तब सत्त्व तम मिश्रित गुण प्रकट हो जाता है। वर्तमान समाज में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो सत्त्व गुण से आवृत रहते हैं तथा परिस्थिति, वातावरण, संगति, अज्ञानता, बाध्यता, लोलुपता आदि के कारण दुष्कर्म की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाते हैं यह प्रवृत्ति ही मनुष्य सत्त्व तम मिश्रित गुण की उत्पत्ति कर देती है।

कई कारणों से मनुष्य सात्त्विक होता है। उसकी प्रवृत्ति सात्त्विक होती है और ऐसी स्थिति में उसका व्यवहार सात्त्विक हो जाता है। आचरण में पूर्ण सात्त्विकता रहती है, परन्तु भोगों की प्रबलता से और तामसी माया के प्रभाव से मनुष्य तमोगुणी हो सकता है। यह दोनों ही गुण सत्त्व तम का मिश्रित स्वरूप प्रकट कर देते हैं। सत्त्व तम गुण का मिश्रित स्वरूप जब प्रकट होता है तो मनुष्य की स्थिति पतन की ओर उन्मुख हो जाती है। यदि वह सचेत न हुआ तो उसमें समय के साथ धीरे–धीरे सत्त्व गुण का ह्रास होने लगता है और उसमें सत्त्व गुण की वृत्तियां धीरे–धीरे विलुप्त हो जाती हैं। इस कारण सात्त्विक

प्रधान पुरुषों को अपने आचरण के प्रति सचेत और सजग रहना चाहिए। मनुष्य को सांसारिक विषय भोग और आकर्षण ही पतन की ओर ले जाते हैं इसलिए उनसे सजग रहकर मनुष्य को निरन्तर सत्त्व गुण की वृत्तियों का सेवन करना यथेष्ट है। इस प्रकार सत्त्व और तमगुणों का मिश्रित प्रभाव जिस मनुष्य में प्रतीत हो तो ऐसा मानना चाहिए कि वह सत्त्व तम मिश्रित गुण से प्रभावित हो रहा है। यह प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रकट और प्रत्यक्ष हो जाता है।

(ग) रज तम मिश्रित स्वरूप :–

संसार में तमोगुण प्रधान पुरुषों की संख्या सर्वाधिक है। इसी कारण अधिकांश लोग इस संसार में अज्ञानी हैं और उन्हें इसी कारण सत्य असत्य का, कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का, नैतिकता अनैकिता का, सही सही ज्ञान नहीं है। सही सही ज्ञान न होने के कारण उनका उक्त तथ्यों के प्रति सही सही विनिश्चय भी नहीं हो पाता है और उनकी प्रवृत्ति दुष्कर्मो की ओर स्वतः हो जाती है। दुष्कर्मी मनुष्यों की संख्या अधिक होने के कारण भी उनका वर्चस्व नहीं है, क्योंकि उनमें बुद्धि की कमी रहती है। तमोगुण स्वभाव के लोगों के पश्चात् रज तम मिश्रित स्वभाव के लोगों की संख्या है। रज तम मिश्रित स्वभाव के लोग कामनाओं की पूर्ति हेतु दुष्कर्म करते रहते हैं और उसी में लिप्त रहते हैं। यह उनकी विशिष्ट प्रकृति होती है। कामनाओं का उदय करना रजोगुण का मुख्य लक्षण है और वे कामनाऐं किसी प्रकार से अनैतिक रूप से पूरी हो यह तमोगुण का विशिष्ट लक्षण है। रज तम मिलकर यही कार्य करते हैं कि मनुष्य जो कामनाऐं करता है उनको अनैतिक रूप से पूरा करने का प्रयास भी करता है। रजोगुण मनुष्य में कामनाओं का संजाल फैलाता है और तमोगुण उस संजाल की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के अनैतिक कर्मो का सम्पादन करवाता है। इसप्रकार रज और तम गुणों के मिश्रित स्वरूप का प्रकटीकरण मनुष्य में देखा जाता है।

रज तम मिश्रित गुण वाले मनुष्यों में सत्त्वगुण का अभाव होता है अथवा हो जाता है। सत्त्वगुण प्रधान भी जब अपने श्रेय साधन को त्यागता है तो वह रजोगुण से आवृत होकर तमोगुणी हो जाता है। यह गुणों की स्थिति क्रमशः गिरती जाती है। जैसे ही गुणों की स्थिति में परिवर्तन होता जाता हैं। वैसे ही मनुष्य की वृत्तियां परिवर्तित होती जाती हैं। सत्त्वगुण प्रधान मनुष्य सात्त्विक गुणों की वृत्तियों को धारण करता है और पतन में रजो गुण ग्रहण करने पर राजसी व्यक्तियों के अधीन हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में रज तम मिश्रित गुण प्रतीत होता है और वह रज तम मिश्रित वृत्तियों से आवृत हो जाता है। इसी प्रकार तीनों मिश्रित गुण मिश्रित रूप से शरीर में प्रभाव रखते हैं तथा अपने प्रभाव को

प्रकट करते रहते हैं। जो साधक मनुष्य है वह सत्त्व रज तथा सत्त्व तम एवं रज तम मिश्रित गुणों के प्रभाव को पृथक्–पृथक् जानते हैं और समस्त गुणों का त्याग करके सत्त्व गुण में निरन्तर स्थित होना चाहते हैं। इस प्रकार गुणों का मिश्रित प्रभाव भी अनेक मनुष्यों में व्यवहार में देखा जाता है।

(6) त्रिगुणों के विकास के कारण : –

त्रिगुण मनुष्य शरीर में कैसे विकसित होते हैं? इनके विकास के क्या कारण हैं? इस पर विचार करना भी परम आवश्यक है। प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है। इस कारण मानव शरीर में त्रिगुण के विकास के कारण हैं। कथन का अभिप्राय यह है कि किसी मनुष्य में सात्त्विक गुण का विकास कैसे हो जाता है? किसी मनुष्य के शरीर में रजो गुण और तमोगुण कैसे सक्रिय हो जाता है? यह कौन से कारण हैं? जिनके कारण मनुष्य में पृथक्–पृथक् रूप से गुणों का विकास होता है। यह कारण प्रमुख रूप से 15 हैं तथा अन्य भी हो सकते हैं। त्रिगुणों के विकास के जो 15 कारण हैं उनका उल्लेख इस स्थल पर किया जा रहा है ताकि यह जाना जा सके कि त्रिगुण कैसे विकसित होते हैं?

(एक) पूर्व जन्म के संस्कार :–

मनुष्य की जब मृत्यु होती है तो उसकी पृथक्–पृथक् गतियां हैं। तमोगुण की प्रधानता में जब मनुष्य की मृत्यु होती है तो उसकी दो गतियां हैं। एक तो वह कीट–पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियों में तत्काल जन्म ग्रहण कर लेता है अथवा नरकों में जाकर अनेक प्रकार की यातनाऐं भुगतता है। इसके साथ ही रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होने वाला मनुष्य पुनः इसी मृत्युलोक में जन्म प्राप्त करता है अर्थात् पुनः वह मनुष्य बन जाता है। सात्त्विक गुण की अधिकता में मरने वाला मनुष्य स्वर्गादिक लोकों में जाता है जहां से पुण्यों के क्षीण होने पर उसका पुनः मनुष्यलोक में उदय होता है। इस प्रकार पूर्व में जो जन्म रहा है उस जन्म के संस्कार रहते हैं। वे संस्कार ही मनुष्य में गुणों की प्रधानता उत्पन्न कर देते हैं। मनीषीजन यह भी कहते हैं कि चित्त में संस्कार रहते हैं। वैसे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि संस्कार कहां रहते हैं? परन्तु संस्कार जो पूर्व जन्म से सम्बंधित हैं वह मनुष्य के साथ अवश्य रहते हैं। यह निश्चित है।

इस प्रकार पूर्व में मनुष्य जो भी रहा है और जैसी स्थिति में रहा है तो उसके संस्कार मनुष्य के साथ रहते हैं। जैसे एक बीज में पौधा छिपा होता है अथवा विशाल वृक्ष भी छिपा होता है, वैसे ही मनुष्य में पूर्वजन्मों के संस्कार बीजरूप से छिपे रहते हैं। पूर्व

जन्म में मृत्यु के समय मनुष्य जिस गुण से प्रभावित रहता है उस गुण का प्रभाव इस जन्म में भी देखा जा सकता है। साथ ही पूर्वजन्म में मनुष्य मुख्यतः जिस गुण से प्रभावित रहता है वह गुण मनुष्य में अवश्य रहता है और उससे ही उसके पूर्वजन्म की स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। पूर्व जन्म के संस्कार के आधार पर इस जन्म में भी गुणों का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट तथ्य यह है कि यदि मनुष्य सात्त्विक गुण से पूर्व जन्म में प्रभावित रहा है तो वह इस जन्म में भी प्रभावित रहेगा। इसी प्रकार तम और रज गुण से जो मनुष्य पूर्व जन्म में प्रभावित रहा है वह इस जन्म में भी प्रभावित रहेगा। इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से यह कहा जाता है कि पूर्वजन्म के संस्कार मनुष्य के साथ रहते हैं, अर्थात् वे समाप्त नहीं होते हैं। इसलिए त्रिगुणों के विकास का जो पहला कारण है, पहला आधार है वह पूर्व जन्मों के संस्कार के रूप में हमारे समक्ष है।

(दो) माता पिता की प्रवृत्ति :–

एक बालक पर माता पिता की प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य का जन्म माता पिता के संयोग से ही होता है। इस कारण बच्चे पर माता पिता की प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जाता है। माता पिता यदि एक ही गुण से प्रभावित और आवृत्त होते हैं तो उस पर एक ही गुण का प्रभाव देखने को मिलता है। यदि माता पृथक् गुण से प्रभावित है और पिता पृथक् गुण से प्रभावित हैं तो दोनों का मिश्रित प्रभाव बालक पर देखा जा सकता है। जैसे माता क्रोधी है तो बालक पर क्रोधरूपी रजोगुण का प्रभाव स्पष्ट रूप से आपको प्रतीत होगा। वैसे ही पिता सात्त्विक है तो बालक पर सत्त्व गुण की वृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से रहता है और बालक रज और सत मिश्रित गुणों के प्रभाव में कार्य करता है।

बालक की माता पिता की प्रकृति का पहले अध्ययन करें और उसका मिलान यदि बच्चे की प्रवृत्ति से करें तो उसमें सम्मिलित प्रकृति स्पष्ट रूप से बालक में प्रतीत होती है। माता शान्त है तो बालक भी शान्त रहेगा। पिता उग्र है तो बालक भी उग्र स्वभाव का प्रतीत होगा। इस प्रकार शान्ति तथा उग्रता का सम्मिलित स्वरूप बालक में प्रकट हो जाएगा। प्रतिकूल प्रवृत्ति के साथ ही यदि माता पिता की प्रवृत्ति शान्त है तो बालक पर भी उस प्रवृत्ति का स्पष्ट और व्यापक प्रभाव रहता है। इस कारण बालक भी शान्त रहेगा। यह दोहरी प्रवृत्ति के कारण ही होता हैं और एक जैसी प्रवृत्ति के कारण भी होता है। इस प्रकार गुणों की प्रतिकूल और अनुकूल स्थितियां माता पिता के कारण बालक में प्रतीत होती है। इस प्रकार माता पिता की प्रवृत्ति के कारण भी मनुष्य में गुणों का ह्रास और

विकास स्वाभाविक रूप से होता रहता है।

(तीन) जन्म स्थान :–

संसार में अनेक देश हैं। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अपनी संस्कृति, धर्म, सभ्यता, रीति रिवाज है। संस्कृति धर्म, सभ्यता आज की नहीं है, वह प्राचीनकाल से चली आ रही है। जो राष्ट्र जिस धर्म का पालन करता है उस राष्ट्र के निवासी भी अधिकांशतः उस धर्म का पालन करते हैं। उसमें जो भी निर्देश और मान्यताऐं होती हैं उनका पालन करना अभीष्ट होता है। कई धर्मो ने मांस सेवन को धर्मसंगत कहा है तो उनके अनुयायी मांस खाते हैं और इसे धर्मसंगत मानते हैं। मांस की व्यवस्था के लिए हमें जीवों की हत्या करनी पड़ती है, इसलिए जीवों की हत्या को तक्रसंगत कहा जाता है। परन्तु वैदिक धर्म के मानने वालों में अर्थात् हमारे राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति में मांस का सेवन अधार्मिक कृत्य है और जो मांस का सेवन करता है वह शास्त्र के प्रतिकूल कार्य करता है। एक तो मांस का सेवन करना शास्त्र के प्रतिकूल है और दूसरे जीव हत्या भी घोर पाप है। इस कारण दो धर्मो की मान्यताओं में प्रतिकूलता है।

मांस का सेवन तामसी वृत्ति का परिणाम माना जाता है। मांस का सेवन न करने से तामसी वृत्ति का स्वतः ही क्षय हो जाता है और सात्त्विक वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यदि हमारा जन्म उस स्थान पर हुआ जहां पर मांस सेवन को वैधानिक और धर्मसंगत मान्यता है तो हम अनायास ही जन्म स्थान के कारण मांस का सेवन करके तमोगुणी हो जाते हैं और तामसी वृत्ति के अधीन हो जाते हैं। हम यदि उस स्थान पर उत्पन्न होते हैं जहां पर मांस सेवन वर्जित है तो हमें वह जन्म स्थान में सात्त्विकता प्राप्त होती है। इस प्रकार जन्म स्थान भी हमारे गुणों के विकास का कारण होता है। जैसी गतिविधियां हमारे जन्म स्थान में होती है वैसा वैसा आचरण मनुष्य स्वतः करने लगता है। जैसे एक स्थान पर यज्ञादिक हवन, सत्संग और आध्यात्मिक कर्मो का सम्पादन होता है तो मनुष्य में स्वतः ही अध्यात्म के प्रति एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उसका सत्त्वगुण विकसित होने लगता है। इस प्रकार जन्म स्थान भी हमारे गुणों के ह्रास और वृद्धि में सहायक होता है।

(चार) निवास :–

मनुष्य जिस स्थान पर निवास करता है उस स्थान के वातावरण को देखकर भी उसके गुणों में ह्रास और वृद्धि अनायास हो जाती है। मदिरालय के निकट रहने पर वहां की प्रतिदिन की गतिविधि को देखकर मनुष्य बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता है। अर्थात्

मदिरालय की स्थिति का और उसके वातावरण का प्रभाव निश्चितरूप से मनुष्य पर पड़ता है। इसी प्रकार जिस स्थान पर मनुष्य का निवास हो उस उस स्थान पर सत्त्व गुण की प्रधानता हो तो मनुष्य में निश्चित ही सत्त्व गुण की वृद्धि होने लगती है। जिस स्थान पर मंदिर हो, गंगा जी का तट हो, साधु संतों का आश्रय हो उस स्थान पर सात्त्विक गुणों की प्रधानता होती है। उस स्थान के निकट निवास करने से मन में स्वतः ही पूजा पाठ करने, गंगा स्नान करने तथा सत्संग की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है। इस प्रकार निवास स्थान का मनुष्य के गुणों के विकास में आधारभूत स्थान है। मनुष्य को यदि सत्त्वगुण का विकास करना है तो उसे अपने निवास स्थान को सत्त्व प्रधान वातावरण में निर्मित करना चाहिए।

(पांच) वातावरण :–

जिस प्रकार के वातावरण में मनुष्य रहता है उसका स्पष्ट प्रभाव उस पर पड़ता है। तामसी प्रधान वातावरण में रहने पर तमोगुण का विकास होगा। राजसी प्रधान वातावरण में रहने पर रजोगुण का विकास होगा। इसी प्रकार सात्त्विक गुण प्रधान वातावरण में रहने पर सात्त्विक गुण का प्रभाव स्वतः ही हो जाता है। जिस स्थान पर सत्संग हो रहा होता है और यदि उस वातावरण में मनुष्य पहुंच जाता है, रहता है तो उस पर भी वातावरण का अर्थात् सत्संग का प्रभाव तत्काल पडता है और ऐसे वातावरण में तत्काल ही सात्त्विक गुण की वृद्धि होती देखी जाती है। जिस स्थान पर नृत्य आदि हो रहा हो। यदि मनुष्य उस स्थान पर जाता है तो नृत्य प्रधान वातावरण के संयोग में आ जाने पर तत्काल रजोगुण की वृद्धि हो जाती है। यह गुणों की वृद्धि, उसके प्रभाव का तत्काल उद्भव वातावरण के आधार पर होता है। चाहें वह क्षणिक ही हो। जैसे हम टेलीविजन पर कोई नृत्य आदि देखते हैं तो वहां का वातावरण रजोगुणी प्रधान हो जाता है और इसी वातावरण का प्रभाव मनुष्य पर तत्काल पड़ता है। इसी प्रकार तमोगुण प्रधान वातावरण में तमोगुण का प्रभाव होता है। इस स्थान पर मदिरा आदि की बिक्री, नशीले पदार्थो का सेवन, जुंआ आदि होता है उस स्थान पर उस वातावरण में रहने पर रहने से तमोगुण की वृद्धि तत्काल हो जाती है। इस प्रकार वातावरण के आधार पर भी मनुष्य में गुणों का ह्रास और क्षय देखा जाता है। इसलिए यदि हमें सत्त्व गुण का विकास करना है तो रज और तम गुणों से आच्छादित वातावरण से हमें निश्चित रूप से बचना चाहिए।

(छः) अध्ययन :–

वर्तमान में इस संसार में अनेक और असंख्य विषय हैं और उन अनेक विषयों पर असंख्य पुस्तकें भी हैं। हम जब किसी पुस्तकालय में जाते हैं तो वहां पर पुस्तकों के

अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि असंख्य विषय हैं और उन पर अनेक पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। पुस्तकों को भी विषयानुसार हम तीन भागों में बांट सकते हैं। सात्त्विक गुण प्रधान पुस्तकें, राजसी गुण प्रधान पुस्तकें और तामसी गुण प्रधान पुस्तकें। सात्त्विक गुण प्रधान पुस्तकों का लेखन जितना भारतवर्ष में हुआ उतना विश्व में कहीं नहीं हुआ। भारत वर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों में भी दार्शनिक विचारक, चिंतक हुए परन्तु जैसे भारत वर्ष में दार्शनिक चिंतन विचारक और मनीषी हुए हैं वैसे अन्यत्र विश्व में कहीं नहीं हुऐ। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही अनेक आध्यात्मिक विषयों का चिंतन हुआ है। परमात्मा क्या है ? जीव क्या है? सृष्टि की रचना कैसे हुई है? सृष्टि का निर्माण कौन करता है ? और यह कैसे निर्मित हो जाती है ? जीवों की उत्पत्ति, उनका भरण पोषण कौन करता है ? आदि आदि प्रश्नों पर अनुभवपरख चिंतन हुआ है। इस कारण भारतवर्ष में अध्यात्मिक ग्रंथों की बहुलता है। कर्म, सांख्य, भक्ति, ध्यान आदि विषयों के अतिरिक्त चिकित्सा, ज्योतिष, भाषा, दर्शन, तंत्र मंत्र आदि विषयों पर भी भारतवर्ष में बहुत शोध हुआ है और उन ग्रंथों की रचना भी हुई है। अध्यात्मिक विषयों पर विश्व के अन्य देशों में भी ग्रंथ लिखे गए हैं परन्तु उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश ग्रंथ प्राथमिक स्तर के ग्रंथ हैं उनका वैसा महत्व नहीं जैसा भारतीय अध्यात्मिक विषयों का महत्व है।

अध्यात्म से सम्बंधित विषयों का अध्ययन जब मनुष्य करता है तो उसमें सात्त्विक गुणों का विकास स्वतः ही हो जाता हैं क्योंकि आध्यात्मिक विषयों में सत्य को जानने और उसको परखने तथा प्राप्त करने के उपायों का निरूपण किया गया है। इस कारण आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से सत्त्वगुण स्वतः ही विकसित हो जाता है। सासांरिक विषयों के अध्ययन से संसार को जाना जाता है तथा संसार को प्राप्त करने का प्रयास रहता है। संसार की वस्तु और विषय प्राप्त होते हैं वह सबका सब अध्ययन राजसी अध्ययन कहा जाता है। ऐसी पुस्तकों के अध्ययन से रजोगुण का विकास स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार जिन ग्रंथों के अध्ययन से भोगवृत्ति विषयों में दृढ़ और निकृष्ट इच्छा ओर विकृत कामनाऐं तथा उनकी प्राप्ति के अनेक नैतिक उपायों की चर्चा हो तो ऐसे पुस्तकों के अध्ययन से तमोगुण का स्वतः ही विकास हो जाता है। तमोगुण प्रधान पुस्तकों के अध्ययन से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है और परिणामतः उसे अनेक प्रकार के नरकों की प्राप्ति होती है अथवा उसे कीट पशु–पक्षी आदि योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार सात्त्विक विषयों के अध्ययन से सात्त्विक गुण की वृद्धि होती है। तमोगुणी विषयों के अध्ययन से तमोगुण की वृद्धि होती है तथा सात्त्विक गुण से युक्त आध्यात्मिक पुस्तकों के अध्ययन से सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार हम जो भी अध्ययन करते हैं उसी प्रकार के गुण हमारे अंतःकरण में स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। हमारा जैसा भी अध्ययन

रहता है वह ही गुणों के विकास और क्षय का मूल माना जाता है।

(सात) भोजन :–

भोजन भी गुणों के विकास का महत्वपूर्ण आधार है। भोजन तीन प्रकार का होता है जिसे सात्त्विक, राजस, तथा तामस भोजन कहा जाता है। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक गुण की वृद्धि स्वतः हो जाती है। राजसी भोजन से राजसी गुण की वृद्धि होती है और तामसी भोजन से तामसी गुण अपने आप बढ़ जाता है। वस्तुतः मानव जीवन में भोजन का विशेष महत्व है। हम जैसा भी भोजन करते हैं उसका पूर्ण प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। हमारे शरीर के आंतरिक अंग, बाह्य क्रियाऐं भोजन से प्रभावित होते हैं। गुणों की वृद्धि और क्षय भी भोजन के आधार पर हो जाता है। शास्त्रों में तीन प्रकार के भोजन का वर्णन किया गया है। इन तीन प्रकार के भोजन का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए–

(क) सात्त्विक भोजन :–

सात्त्विक भोजन में विशिष्ट गुण होते हैं। जिस भोजन से मनुष्य की आयु बढ़ती है। उस भोजन को सात्त्विक कहा जाता है। मनुष्य की आयु तो वैसे निश्चित है परन्तु यदि मनुष्य सात्त्विक भोजन करता है तो उसकी आयु में वृद्धि हो सकती है। सात्त्विक गुण की अनायास वृद्धि भी सात्त्विक भोजन से होती है इसके अतिरिक्त बल, शक्ति, सामर्थ्य की वृद्धि स्वतः ही शरीर में सात्त्विक भोजन के उपरान्त शरीर में होती देखी जाती है। शरीर मे निरोगता रहती है। रोगों का विनाश स्वतः ही हो जाता है, जिससे मन में प्रसन्नता और सुख अनायास ही बढ़ता है। सात्त्विक भोजन के ग्रहण करने से सुख का आभास होता है। यह भोजन स्थिर रहता है, दिखता है तथा हमारे हृदय को शक्ति प्रदान करता है। इससे शरीर में स्फूर्ति रहती है। सात्त्विक भोजन रसयुक्त और चिकना होता है।

(ख) राजसी भोजन :–

राजसी भोजन को ग्रहण करने से रजोगुण की वृद्धि अनायास हो जाती है। राजसी भोजन के प्रकार को जानने के लिए हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि राजसी भोजन किस प्रकार का होता है। राजसी भोजन अत्यंत कडुवा, खट्टा, नमकीन, गर्म और रूखा होता है। इस प्रकार का भोजन जब हम करते हैं तो रजोगुण की वृद्धि अनायास हो जाती है।

(ग) तामसी भोजन :–

तामसी भोजन का उल्लेख भी शास्त्रों में किया गया है। जिस भोजन में दुर्गन्ध हो,

रस का अभाव हो, गंध आती हो और अधपका हुआ हो, झूठा हो, उस भोजन को तामसी भोजन कहा जाता है। नशीले पदार्थो को भी तामसी भोजन का एकरूप ही मानना चाहिए। इस प्रकार तामसी भोजन को ग्रहण करने मनुष्य में तमोगुण की वृद्धि स्वतः ही और अनायास हो जाती है। इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

(आठ) स्मरण :–

मनुष्य प्रातः से रात्रि तक अनेक विषयों का स्मरण करता है। यह स्मरण किस प्रकार होता है ? यह विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि पूर्व की घटनाऐं जो स्मृति में संचित रहती हैं उस सम्बंध में भी हमारा चिंतन हुआ करता है। हमारा सम्पूर्ण अतीत अर्थात् बीता हुआ काल स्मृति में संचित रहता है। एकत्रित रहता है। हम जब अपनी स्मृति को खोलते हैं तो पूर्व की घटनाऐं हमारे समक्ष प्रकट होने लगती हैं। स्मृति में विशेष प्रकार की घटनाऐं विशेष प्रकार से संचित रहती हैं और वे शीघ्र ही हमारे स्मरण में आ जाती हैं। सामान्य घटनाऐं विशेष प्रकार से संचित नहीं रहती है। वे सामान्य रूप से हमारे समक्ष अस्पष्ट स्वरूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण घटनाऐं संचित रहकर आवश्यकतानुसार, परिस्थिति अनुसार चाहें जाने पर प्रकट होती है। मन में उनका प्रकटीकरण होता है तथा बुद्धि के द्वारा उनका विनिश्चय भी होता है।

जो घटनाऐं सत्त्वगुण प्रधान हैं उनके स्मरण में आने पर सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है। जैसे किसी तीर्थयात्रा विशेष या मंदिर विशेष में दर्शन, पूजन, यजन आदि होता है तो वे घटनाऐं सतोगुण सम्बंधित हैं। उनके स्मरण में आने पर सतोगुण की वृद्धि स्वतः हो जाती है। ऐसे किसी विशेष अवसर और उससे सम्बंधित भोगों का संचय हमारी स्मृति में रहता है तो उन स्मृति में संचित घटनाओं का स्मरण हो जाने पर हमारे शरीर में रजोगुण की वृद्धि हो जाती है। जो घटनाऐं तामसी हैं वे हमारे स्मरण में भी आती हैं। हमारे द्वारा पूर्व में जो दुष्कर्म और हिंसा आदि कर्म किये गए हैं वे भी हमारी स्मृति में संचित रहते हैं। इस प्रकार अनेक विधियों से हमारे स्मृति में जो कुछ भी संचित है वह मन और बुद्धि के सहयोग से बार बार प्रकट हुआ करता है। इसी को सामान्य भाषा में स्मरण कहा जाता है। स्मृति में संचित घटनाओं में तथा वर्तमान में घटित घटनाओं के विषय में हम जो जो स्मरण करते हैं उस उस स्मरण के कारण भी मनुष्य में उन गुणों की उत्पत्ति हो जाती है जिसे सम्बंधित वे घटनाऐं हैं।

(नौ) काल :–

काल गणना के अनुसार भारतीय मनीषियों ने चार युगों का उल्लेख किया है। जिन्हें

सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलयुग कहते हैं। इन चारो युगों को मिलाकर एक चतुर्युगी होती है। प्रत्येक युग की काल सीमा का निर्धारण हमारे भारतीय मनुष्यों ने पूर्व किया था। जिसके अनुसार कलयुग 4 लाख 32 हजार वर्ष का होता है। द्वापर 8 लाख 64 हजार वर्ष का होता है। त्रेतायुग 12 लाख 96 हजार वर्ष का होता है तथा सतयुग 17 लाख 28 हजार वर्ष का होता है। इस प्रकार एक चतुर्युगी 43 लाख 20 हजार वर्ष की होती है। सतयुग में जो पुरुष होते हैं उनमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। इस काल में रज और तमगुणों से प्रभावित पुरुष नहीं होते हैं। त्रेतायुग में भी सत्त्वगुण प्रधानता में रहता है। त्रेतायुग में रज और तम भी गौण स्थिति में रहते हैं। द्वापर युग में रजोगुण की प्रधानता होती है। तमोगुण भी अपना प्रभाव दिखाता है। इसी प्रकार कलयुग में तमोगुण की प्रधानता हो जाती है। इसलिए तमोगुणी पुरुषों का प्रधानता से होना पाया जाता है। रजोगुणी पुरुष गौण हो जाते हैं ओर सत्त्वगुणी पुरुष अल्पमात्रा में रह जाते हैं। इस प्रकार काल के अनुसार भी गुणों में वृद्धि हुआ करती है। कलयुग में तमोगुण का प्रभाव प्रमुख रहता है। इसलिए इसे तमोगुण प्रभाव वाला काल मानते हैं। इस कारण तमोगुणी मनुष्य अधिकाधिक मात्रा में रहते हैं और वे श्रीभगवान के यजन पूजन में बाधाऐं उत्पन्न करते हैं। काल के प्रभाव से कलयुगी मनुष्यों का मन रज और तमगुण की ओर स्वतः ही भागता रहता है। इस प्रकार गुणों की वृद्धि में काल भी महत्वपूर्ण तथ्य है।

(10) श्रद्धा :–

गुणों की वृद्धि का एक प्रमुख आधार श्रद्धा भी है। श्रद्धा त्रिगुणात्मक होती है अर्थात् तीन प्रकार की होती है, जिसे सात्त्विक, राजस, तामस कहा जाता है। श्रद्धा अंतःकरण में रहने वाला एक भाव है जिसके आधार पर मनुष्य यजन पूजन में विश्वास रखता है। आपने समाज में विभिन्न प्रकार की उपासना विधि का अवलोकन किया होगा। यह सब उपासना विधि मनुष्य की श्रद्धा के आधार पर ही होती है। सात्त्विक श्रद्धा से आवृत लोग देवी देवताओं का यजन पूजन करते हैं। देवी देवताओं का यजन पूजन सकाम भावना से हो अथवा निष्काम भावना से हो वह सात्त्विक श्रद्धा के द्वारा ही होता है। राजसी श्रद्धा से आवृत लोग यक्ष और राक्षसों की पूजा करते हैं। यक्ष और राक्षस भी देवसृष्टि का एक अंग होते हैं। राजसी श्रद्धा के लोग रजोगुण से प्रभावित होकर यक्ष राक्षसों को पूजते हैं। इसी प्रकार तामसी श्रद्धा के लोग भूत प्रेतों की उपासना करते हैं। यह तीन प्रकार की श्रद्धा के आधार पर मनुष्य में गुणों की वृद्धि हो जाती है। यहां पर एक तथ्य और विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मनुष्य में श्रद्धा भी गुणों के आधार पर विकसित होती है। अर्थात् श्रद्धा के विकास का मूल कारण गुण ही है, परन्तु जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही गुण भी विकसित

होता है।

(11) संगति :–

मनुष्य जिस प्रकार की संगति अर्थात् साथ करता है उस संगति और साथ का भी उसके जीवन पर, उसकी क्रियाविधि पर उसके व्यवहार और आचरण पर बहुत प्रभाव रहता है। एक सात्त्विक विचारधारा का पुरुष यदि तमोगुण की प्रधानता वाले मनुष्य के साथ रहता है तो उस तमोगुणी मनुष्य का प्रभाव सात्त्विक गुण प्रधान वाले मनुष्य पर पड़ने लगता है और उसमें सत्त्वगुण का ह्रास होता है तथा तमोगुण की वृद्धि स्वतः ही होने लगती है। इसी प्रकार यदि तमोगुण का पुरुष सात्त्विक विचारधारा के पुरुष के साथ संगति कर लेता है तो उसमें सात्त्विक गुणों का विकास हो जाता है और वह भगवान की पूजा उपासना करने लगता है। सात्त्विक गुण प्रधान मनुष्य यदि राजसी गुणों से प्रभावित और आवृत मनुष्य की संगति कर लेता है तो उसमें कामनाओं स्वतः ही उत्पत्ति हो जाती है और कामनाओं की पूर्ति हेतु उद्वत हो जाता है। इस प्रकार संगति के प्रभाव से ही गुणों में वुद्धि होने लगती है।

जैसे स्वच्छ जल होता है, उसमें थोड़ी सी गंदगी मिलने पर मिली हुई गंदगी अपना प्रभाव छोड़ती है और जल को गंदा कर देती है। गंदगी जितनी अधिक मात्रा में मिलती है उतनी ही अधिक मात्रा में जल गंदा होता जाता है। यह गंदगी रजोगुण तथा तमोगुण तत्त्व के रूप में देखना चाहिए। सत्त्वगुण रूपी जल में यही रज और तमगुण रूपी गंदगी मिलकर सत्त्वगुण को भी गंदा करने का प्रयास करते हैं। संगत और किसी व्यक्ति का साथ भी ऐसे ही मनुष्य पर प्रभाव छोड़ता है। प्रत्येक मनुष्य गुणयुक्त है, गुणमय है और उसमें किसी न किसी गुण की प्रधानता रहती है। संगति से गुणों की प्रधानता में पारस्परिक परिवर्तन हुआ करता है। एक मनुष्य के गुण दूसरे को प्रभावित करते हैं विशेषकर तो मनुष्य की प्रवृत्ति अधोमुखी है अर्थात् नीचे की ओर अधिक है, पर साथ और संगत के प्रभाव से वह भी ऊपर भी उठ सकता है। अर्थात् तमोगुणी मनुष्य सतोगुणी हो सकता है तथा संगत के प्रभाव से सतोगुणी मनुष्य पतन की ओर जाकर तमोगुणी हो सकता है।

(बारह) वार्तालाप :–

त्रिगुणों की शरीर में वृद्धि होने के कारणों में एक कारण वार्तालाप भी विशिष्ट कारण है। जैसे हम रजोगुणी मनुष्यों के सम्पक्र में रहते हैं तब रजोगुणी मनुष्य विभिन्न प्रकार की कामनाओं, सांसारिक विषयों तथा ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्नों पर बातचीत करता है।

यह बातचीत हमारे मन में संचित होती है और हम भी उससे प्रभावित होकर वैसा ही विचार करते हैं तथा सांसारिक कामनाओं के विचारण के उपरान्त उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक प्रधान पुरुष के सम्पक्र में आने पर सात्त्विक वार्तालाप होता है और कई प्रकार से सात्त्विक विषयों के बारे में ज्ञान हो जाता है। सात्त्विक वार्तालाप से मनुष्य के मन में सात्त्विक भावों का अनायास ही उदय हो जाता है। वैसे ही तमोगुणी मनुष्य के सम्बंध से हमें हिंसा आदि, दुष्कर्म, दुराचार के बारे में वार्तालाप करते हैं और उस वार्तालाप का जो विषय होता है उसका प्रभाव हमारे अंतःकरण पर पडता है। चूंकि मनुष्य का मन बहुत संवेदनशील होता है और विशेषकर तमोगुणी वार्तालाप को शीघ्र ही ग्रहण करके उस पर विचार करने लगता है और उस विचार को क्रियान्वित करने का प्रयास भी करता है। इस प्रकार हम जो भी वार्तालाप करते हैं और उस वार्तालाप का जो भी विषय होता है। उस विषय से हम प्रभावित होते हैं और उस पर विचार भी करते हैं। इस कारण वार्तालाप भी हमारे गुणों की वृद्धि में एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

(तेरह) चिंतन :–

गुणों की वृद्धि के एक कारण स्मरण का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हो चुका है। स्मरण तथा चिंतन में अंतर है। स्मरण में स्मृति में संचित विषयों, घटनाओं के बारे में विचार होता हैं अर्थात् पूर्व की अतीत की जो घटनाऐं संचित हैं उनके बारे में जो स्मृति रहती है वे घटना एवं परिस्थितियों के कारण हमारे स्मरण में आ जाती हैं। चिंतन में उन घटनाओं के बारे में विचारण तो हो ही सकता है नवीन तथ्यों के बारे में विचार चलता है। चिंतन चित्त की वृत्ति है, जब हमारा चित्त किसी विषय विशेष के बारे में चिंतन करता है तो जो विषय चिंतन किया जाता है उसका जो गुण होता है उससे हम प्रभावित हो जाते हैं। सात्त्विक विषयों के चिंतन से सात्त्विक गुण का विकास होता है। रजोगुणी विषयों के चिंतन से रजोगुण का विकास होता है और तमोगुणी विषयो चिंतन से तमोगुण का स्वतः और स्वाभाविक रूप से विकास होता है। किसी भी विषय के चिंतन में दो प्रक्रियाऐं प्रमुख रूप से होती हैं। एक तो मन अनेक विषयों के बारे में विचार करता है और बुद्धि उन समस्त विषयों में विचार करके उनका विनिश्चय कर देती है। इस प्रकार चिंतन की दो प्रमुख क्रियाऐं हैं जिन्हें विचारण और विनिश्चय कहा जाता है। यह दोनों क्रियाऐं जिस गुण से सम्बंधित होती हैं उस गुण का मनुष्य में विकास हो जाता है।

(चौदह) उपासना विधि :–

पूर्व में यह कहा जा चुका है कि सात्त्विक मनुष्य देवी देवताओं का यजन पूजन

करते हैं। राजसी मनुष्य यक्ष और राक्षसों का पूजन करते हैं तथा तामसी पुरुष भूत प्रेतों की उपासना करते हैं। देवी देवताओं की पूजा उपासना विधिपूर्वक की जाती है तो वह सात्त्विक उपासना की विधि है तथा यक्ष राक्षसों की पूजा उपासना भी विधिपूर्वक होती है वह उपासना विधि राजसी है। इसके अतिरिक्त भूतप्रेतों की उपासना विधिपूर्वक होती है तो वह भी उपासना विधि तामसी है। उपासना विधि का सम्बंध मनुष्य की श्रद्धा से होता है। मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुसार ही उपासना विधि का चयन स्वयं कर लेता है। सात्त्विक विचारधारा के लोग देवी देवताओं का यजन पूजन सकाम भाव से करते हैं। उनकी सात्त्विकता निम्न स्तर की होती है। परमात्मा का यजन पूजन जब निष्काम भाव से होता है तो उसकी सात्त्विकता श्रेष्ठ होती है। यक्षों की उपासना धन आदि सांसारिक वस्तुओं और स्थितियों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। राजसी उपासना भी अनेक प्रकार की सांसारिक स्थितियों को अपने अनुकूल बनाने हेतु की जाती है तथा तांत्रिक उपासनाऐं अर्थात् भूत प्रेतों की उपासनाऐं किसी के अहित के भाव से की जाती हैं। इस प्रकार उपासना विधि से भी मनुष्य में गुणों की वृद्धि और ह्रास होता है।

(पंद्रह) प्रवृत्ति :–

मनुष्य साधारणतया तीन प्रकार प्रवृत्ति के होते हैं। एक सात्त्विक प्रवृत्ति के, राजसी प्रवृत्ति के तथा तामसी प्रवृत्ति के। सात्त्विक प्रकृति के मनुष्यों में सात्त्विक गुणों की प्रधानता होती है। राजसी प्रकृति के मनुष्यों में राजसी गुणों की प्रधानता होती है और तामसी प्रकृति के मनुष्यों में तमोगुण की प्रधानता होती है। सात्त्विक प्रकृति के लोगों के व्यवहार, बातचीत, आचरण से ही उनकी प्रकृति का अनुमान लगाया जाता है। राजसी प्रकृति के लोगों की सांसारिकता की बातें सुनकर उनकी प्रवृत्ति का सहज अनुमान हो जाता है और तामसी प्रवृत्ति के लोगों के दुराचरण के व्यवहार से ही तामसी प्रवृत्ति का सहज अनुमान लगाया जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति से भी गुणों का विकास होता है। अर्थात् जो मनुष्य जिस प्रकार की प्रवृत्ति का होता है उसमें उसी प्रकार की प्रवृत्ति का विकास उसके आचरण से हुआ करता है। प्रवृत्ति भी मनुष्य के गुणों की वृद्धि और ह्रास में प्रमुख भूमिका निभाती है।

उपरोक्त प्रकार से मनुष्य शरीर में गुणों की विकास की प्रक्रिया है। यदि हम सात्त्विक गुणों का विकास करना चाहते हैं तो हमें अपनी प्रवृत्ति, उपासना विधि, चिंतन, वार्तालाप, संगत, श्रद्धा, स्मरण, निवास स्थान, वातावरण, आदि आदि सभी कुछ सात्त्विक करना पड़ेगा। इस स्थल पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हम जिस गुण का विकास करना चाहें तो वह प्रयत्न से हो सकता है। रज और तम गुणों के विकास के लिए

कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे ऊपर जाने के लिए अर्थात् पहाड़ आदि पर चढ़ने के लिए हमें प्रयास करना पड़ता है, परन्तु नीचे जाने के लिए हमें विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार सत्त्व गुण के विकास के लिए हमें प्रयास करना पड़ता है और रज और तम गुण के विकास के लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ता। मनुष्य वास्तविक रूप से रज रूपी धरातल पर टिका रहता है। उसे ऊपर जाने के लिए अर्थात् सत्त्व गुण की वृद्धि हेतु प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु तमोगुण की वृद्धि के लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि तमोगुण का धरातल नीचे की ओर है। इसलिए यदि हमें सत्त्वगुण का विकास करना है तो हमें प्रयास करना पड़ता है। परन्तु तमोगुण की वृद्धि के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। वह स्वतः ही विकसित हो जाता है।

(7) त्रिगुणों की विशेष वृत्तियां :–

सत्त्व रज तम त्रिगुणों की विशिष्ट वृत्तियों की संख्या 11 है। सात्त्विक गुणों की दो विशिष्ट वृत्तियां, रजोगुण की पांच वृत्तियां हैं और तमोगुण की चार विशिष्ट वृत्तियां हैं। इस प्रकार त्रिगुणों की कुल 11 वृत्तियां हो जाती हैं। मानव शरीर इन 11 वृत्तियों के अधीन ही रहता है, इनसे पृथक् नहीं जा पाता है। इस तथ्य का अभिप्राय यह है कि मानव शरीर से 11 प्रकार के कार्य प्रकट होते हैं, जो गुण प्रमुखता से मानव शरीर में प्रभावी होता है उस गुण की वृत्तियां मानव शरीर में प्रकट हो जाती हैं। प्रत्येक गुण की पृथक्–पृथक् वृत्तियों का आप अवलोकन कीजिए।

(क) सत्त्व गुण की दो विशेष वृत्तियां :–

सत्त्व गुण की दो विशेष वृत्तियां हैं जिन्हें प्रकाश एवं ज्ञान कहा जाता है। प्रकाश एवं ज्ञान का प्रकटीकरण सत्त्वगुण के कारण ही होता है। इसलिए इसे सत्त्वगुण का कार्य रूप मानना चाहिए। इन दोनों वृत्तियां का विवरण निम्न प्रकार है–

(एक) प्रकाश वृत्ति :–

मनुष्य की इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में विशिष्ट प्रकाश का उत्पन्न होना सत्त्वगुण के प्रकटीकरण का लक्षण हैं। जिन करणों के माध्यम से मनुष्य कार्य करता है उनकी संख्या 13 है, जिनका उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार से हो चुका है। यह करण दो प्रकार के हैं। एक बाह्यकरण तथा दूसरा अंतःकरण। बाह्यकरण की संख्या दस है जिन्हें कर्ण, नेत्र, जिह्वा त्वचा, नासिका, वाक, हस्त, पाद, उपस्थ और पायु कहा जाता है। अंतःकरण की सं0 तीन है जिसे मन, बुद्धि और अहंकार कहते हैं। सत्त्वगुण की वृद्धि से इन करणों में विशेष

प्रकाश अर्थात् कार्य करने की विशिष्ट सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। कर्ण से उचित सुनना, नेत्र से उचित देखना, जिह्वा से उचित रस ग्रहण करना और अनावश्यक रसो के प्रति आसक्त न होना। त्वचा से अनुकूल और प्रतिकूल सभी प्रकार के स्पर्शो में समभाव रखना। नासिका से सुगन्ध और दुर्गन्ध के प्रति समानभाव तथा वाणी से संयमित और मृदुभाषिता तथा कर्मेन्द्रियों से भी उचित चेष्टा यह सब क्रियाऐं स्वतः ही उत्पन्न हो जाती हैं। यह तो बाह्यकरण की स्थिति है जिसमें समस्त इन्द्रियां अपने अपने विषयों में बरतती हुई विषयों में आसक्त नहीं होती है। आसक्ति का अभाव सा हो जाता है।

मन और बुद्धि में विशेष प्रकाश उत्पन्न होने का अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुण के प्रभाव से मन का अनावश्यक विषयों में विचारण समाप्त होने लगता है और मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। संसार की वस्तुओं और विषय भोगों के प्रति अनिच्छा का भाव रहता है तथा मन को संयमित करने का प्रयास चलता है। मन संयमित रहे इसके लिए इसको परमात्मा की ओर उन्मुख करने की चेष्टा रहती हैं। उसी प्रकार बुद्धि भी मन के द्वारा उचित रूप से विचार किए गए विषयों का विनिश्चय करने लगती है और वह कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म, अधर्म, नैतिक, अनैतिक तथ्यों को जान कर और उनमें अंतर स्थापित करके प्रत्येक कार्य का विनिश्चय करती है। अहंकार का प्रभाव प्रतीत होता है अर्थात् दीखता है और सत्त्वगुण की प्रबलता में अहंकार से निवृत होने का मनुष्य प्रयास भी करता है। इस प्रकार अंतःकरण भी सत्त्वगुण के प्रभाव से प्रकाशित होता है।

विशेष तथ्य यह है कि मनुष्य जब साधना की ओर उन्मुख होता है तब वह अपने अभीष्ट पर ध्यान स्थापित करने का प्रयास करता है। सत्त्वगुण के प्रभाव से उसे प्रकाश की अनुभूति होती है। यह अनुभूति रज और तमगुण की प्रधानता से कदापि नहीं होती है। जब तक रज और तम रहता है तब तक प्रकाश का उदय नहीं हो सकता है। सत्त्व गुण के बढ़ने पर साधक को अनेक प्रकार के प्रकाश का सहज आभास होता है और प्रकाश अनेक रंगों में जागृत तथा स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है। इसे सत्त्वगुण का कार्यरूप मानना चाहिए, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाश स्वरूप है। जैसे प्रकाश में सभी वस्तुऐं साफ–साफ प्रतीत होती हैं। वैसे ही सत्त्वगुण के बढ़ जाने पर धर्म और अधर्म नैतिकता और अनैतिकता कर्तव्य एवं अकर्तव्य साफ साफ प्रतीत होता है। यही सत्त्वगुण की प्रकाश वृत्ति है।

(दो) ज्ञान वृत्ति :–

सत्त्वगुण के शरीर में प्रकट हो जाने पर अर्थात् सत्त्वगुण की वृद्धि में ज्ञान का प्रकटीकरण स्वतः ही हो जाता है। विशेषकर अनेक प्रकार के आध्यात्मिक ग्रंथों को हम जब

पढ़ते हैं उनका स्वाध्याय और अध्ययन करते हैं तो हम जिस ग्रंथ का अध्ययन करते हैं उसकी विषय वस्तु को समझने में हमें कठिनता का आभास होता है। रज और तम गुणों के कारण हमें आध्यात्मिक विषयों को समझने में प्रयास करना पड़ता है और प्रयास से भी यदि वे विषय पढ़े जाते हैं तो भी वे स्मृति में नहीं रहते हैं, परन्तु सत्त्वगुण के बढ़ जाने पर मनुष्य जिन आध्यात्मिक विषयों को पढ़ता है उसका अर्थ सहज रूप से मनुष्य की समझ में आता है। जबतक सत्त्वगुण नहीं बढ़ता है, तब तक हम किसी भी विषय का अध्ययन करते हैं तो एक तो वह शीघ्र समझ में नहीं आता है और समझ में आने पर वह मस्तिष्क में टिकता नही है। विशेष तथ्य यह है कि जो शास्त्रों का अध्ययन करके शास्त्रज्ञ हो जाते हैं उनका जो ज्ञान है वह सत्त्वगुण के कारण ही फलीभूत होता है। उसके बिना नहीं हो सकता है। मनुष्य के हृदय में विशेष प्रकार के विवेक का उदय होना सत्त्वगुण का कार्यरूप माना जाता है। इस विवेक को ही हम ज्ञान का उदय होना कहते हैं और यह सत्त्वगुण की विशेष वृत्ति है।

मनुष्य में साधना की ओर जब उन्मुखता होती है तब वह पहले तो परमात्मा की अनुभूति का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके पश्चात् उस सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर प्रयोगात्मक आचरण करके परमात्मा की अनुभूति करना चाहता है। परमात्मा की अनुभूति का जो सैद्धान्तिक ज्ञान है वह भी सत्त्वगुण के कारण ही आता है और उसका सही सही विनिश्चय भी हो जाता है। जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि हमें परमात्मा कैसे प्राप्त होगा? तब तक हम उस प्रक्रिया का पालन नहीं कर सकते हैं। इसलिए सत्त्वगुण के प्रभाव से जो ज्ञान का उदय होना कहा जाता है अर्थात् जिसे सत्त्वगुण की वृत्ति माना गया है वह परमात्मा की अनुभूति की प्रक्रिया का सैद्धान्तिक ज्ञान भी है, जिसे हमें समझना चाहिए। इस प्रकार सत्त्वगुण की दूसरी विशेष वृत्ति ज्ञान है।

(ख) रजोगुण की पांच विशिष्ट वृत्तियां :–

रजोगुण की की पांच विशिष्ट वृत्तियां हैं जो भी मानव शरीर में रहती हैं और रजोगुण के मानव शरीर में बढ़ जाने पर वे स्वतः ही प्रकट हो जाती हैं। रजोगुण की इन पांच वृत्तियों को लोभ, प्रवृत्ति, कर्मो का आरम्भ करना, अशम और स्पृहा कहा जाता है। इन पांच वृत्तियों का विवरण निम्न प्रकार है–

(एक) लोभ : पूर्व में भी तमोगुण की लोभ नामक वृत्ति के विषय में कुछ वर्णन किया गया था। लोभ वस्तुतः रजोगुण की विशेष प्रवृत्ति है जो परिणामता तमोगुण के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। मनुष्य जगत में रहता है और जिस जगत में रहता है उसमें अनेक

लुभावनी वस्तुऐं उपस्थित रहती हैं, जिन्हें वह कामनाओं की पूर्ति हेतु प्राप्त करना चाहता है। यदि कामनाओं का समापन हो जाए तो लोभ का भी समापन हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा का अभाव हो जाता है। लोभ को समाप्त करना है तो कामनाओं को समाप्त कर दें। हमें कुछ नही चाहिए जो कुछ है वह अंततः समाप्त होने वाला है। यह भाव जब दृढ़ हो जाता है तब लोभ का समापन हो जाता है। जब तक यह भाव दृढ़ नहीं होता अथवा हमारे अंतःकरण में नहीं आता है तब तक हमारे पास जो वस्तुऐं और व्यक्ति हैं उनसे सुख प्राप्त करने की इच्छा रहती है और हम उन वस्तुओं और व्यक्तियों को अपने सम्पक्र में और अपने स्वामित्व में रखते हैं और रखने की प्रबल इच्छा करते हैं। जो वस्तुओं अप्रापत होती हैं उन्हें भी प्राप्त करना चाहते हैं और यह इच्छा प्रबल रहती है कि हमें अप्राप्त वस्तुऐं प्राप्त हों। जो वस्तुऐं हमें प्राप्त हैं वह अपूर्ण हैं। हमें और वस्तुऐं चाहिए। इसी वृत्ति को लोभ के रूप में मानना चाहिए। रजोगुण के उत्पन्न होने पर यह लोभ नामक वृत्ति बहुत प्रबलता से मनुष्य के अन्दर उत्पन्न हो जाती है और इसका अंततः परिणाम तमोगुण के रूप में प्रकट होता है।

(दो) प्रवृत्ति :–

रजोगुण की दूसरी विशेष वृत्ति प्रवृत्ति है। साधारणतया मनुष्य रजोगुण अधिकता के कारण सुख की आकांक्षा करता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह दैनिक जीवन में सुख और आराम प्राप्त करना चाहता है। उसकी दिनचर्या में प्रतिकूलता न आए इसी भाव से वह सुख की चाहना हेतु प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति मनुष्य में रहती है। प्रातः उठकर समय से शौच स्नानादि से निवृत होने पर अच्छे अल्पहार, भोजन की इच्छा करना जो कार्य हो वहां पर भी अच्छे वातावरण और अच्छे स्थान में रहने की इच्छा करना विश्राम के समय अच्छे स्थान की कामना आदि आदि प्रवृत्तियां रजोगुण के कारण ही होती हैं। इस प्रकार सुख की चाहना की इच्छा को प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रवृत्ति रजोगुण के कारण होती है और यह रजोगुण की विशेष वृत्ति मानी जाती हैं। हम सुख की चाहना में अनेक सांसारिक कार्यो की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इसे भी प्रवृत्त होना कहा जाता है और यह प्रवृत्त होने का भाव प्रवृत्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य संसार में बहुत कुछ चाहता है इस कारण वह अनेक चेष्टाओं की ओर प्रवृत्त होता है। यदि कुछ न चाहें तो प्रवृत्त होने का कोई अभिप्राय नहीं है। रजोगुण ही उसे अनेक कार्यो में प्रवृत्त रखता है।

(तीन) कर्मो का आरम्भ करना :–

जब मनुष्य पर रजोगुण का प्रभाव होता है तो वह अनेक प्रकार के नवीन कर्मो को

आरम्भ करना चाहता है। आज वर्तमान में एक व्यवसायी मनुष्य को आपने देखा होगा तो पाया होगा कि वह नवीन प्रकार के कार्यो को आरम्भ करने का इच्छुक होता है। अनेक अनेक व्यवसायों में प्रवृत्त होना चाहता है। यह जो इस प्रकार की आकांक्षा है वह रजो गुण के बढ़ने पर होती है। प्रत्येक मनुष्य धन और सम्पत्ति को एकत्र करने का आकांक्षी होता है। यह धन और सम्पत्ति अनेक प्रकार के व्यवसायों को आरम्भ करने से ही प्राप्त हो सकती है। मनुष्य में यह विचार जब प्रबल हो जाता है कि हम अनेक क्षेत्रों में अनेक व्यवसायों को विस्तार देंगे और इसके लिए वह कार्य भी करता है तो इसे कर्मो का आरम्भ करना कहा जाता है। यह कर्मो का आरम्भ करना रजोगुण की विशेष वृत्ति मानी जाती है।

(चार) अशम :–

रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करता है प्राप्त न होने वाली वस्तुओं को भी चाहता है और वस्तुओं की आकांक्षा करने पर उनकी चाहना करने पर मनुष्य के अंतःकरण में एक उलझन उत्पन्न हो जाती है तथा उसकी शान्ति समाप्त सी हो जाती है। शान्ति समाप्त होने को ही अशान्ति का स्वरूप समझना चाहिए। मनुष्य जब रजोगुण के प्रभाव से संसार की अनेक वस्तुओं की चाहना करता है तो उसके लिए प्रयास भी करता है। यह प्रयास निरन्तर चलता रहता है। इसलिए उसकी शान्ति स्वतः ही गायब हो जाती है। मन अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों में स्वतः भ्रमण किया करता है। इसी को अशम की स्थिति कहा जाता है। यह अशम की स्थिति रजोगुण के प्रभाव से होती है तथा मनुष्य कों अनेक प्रकार के सांसारिक कार्यो की ओर उन्मुख कर देती है। इस प्रकार अशम भी रजोगुण की विशेष वृत्ति है।

(पांच) स्पृहा :–

मनुष्य पर जब रजोगुण का प्रभाव रहता है तो वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की खोज करता रहता है। नई वस्तुओं की खोज करना आवश्यकता की प्रतीति के कारण होता है। संसार में असंख्य वस्तुऐं हैं और उन वस्तुओं का अभाव जब हमें होता है। तो हमें उनकी आवश्यकता का आभास भी होता है। इसी आभास को स्पृहा के रूप में कहा जाता है। एक वांछित वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् उसकी आवश्यकता का आभास समाप्त हो जाता है उसके पश्चात् दूसरी नवीन वस्तु की आवश्यकता हमें प्रतीत होती है। इसी को स्पृहा के रूप में जानना चाहिए। संसार में वस्तुऐं अनगिनत हैं इसलिए उनकी आवश्यकता का समापन शीघ्रता से नहीं होता है। इसी कारण मनुष्य में स्पृहा का अभाव भी नहीं होता है। स्पृहा को भी रजोगुण की विशेष वृत्ति समझना चाहिए।

(ग) तमोगुण की चार विशिष्ट वृत्तियां :–

तमोगुण की चार विशिष्ट वृत्तियां हैं जिन्हें अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह कहते हैं। यह चारों प्रकार की वृत्तियां मनुष्य में तमोगुण के बढ़ जाने पर स्वतः ही व्यक्त होती हैं। तमोगुण की इन चारों वृत्तियों को पृथक्–पृथक् रूप में समझना आवश्यक है।

(एक) अप्रकाश :–

अप्रकाश तमोगुण की विशिष्ट वृत्ति है। अप्रकाश शब्द प्रकाश के प्रतिकूल है। प्रकाश में वस्तुऐं स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं, दीखती हैं। इसका अर्थ है कि जब शरीर में प्रकाश अर्थात् सत्त्वगुण रहता है तो विवेक भी रहता है और वह विवेक ही मनुष्य को उचित अनुचित, कर्तव्य,अकर्तव्य का ज्ञान करवाता रहता है। इसके प्रतिकूल जब अप्रकाश आ जाता है तो उसमें उचित अनुचित, कर्तव्य अकर्तव्य के बोध की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसे ही अप्रकाश कहते हैं। सत्व गुण की प्रकाश वृत्ति का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से हो चुका है। उसी वृत्ति के प्रतिकूल जो प्रवृत्ति है उसे अप्रकाश कहते हैं। तमोगुण की अधिकता से मनुष्य की बुद्धि सही तथ्य, कार्य, वस्तु, कर्तव्य, धर्म आदि का सही सही विनिश्चय नहीं कर पाती है तथा वह भ्रमित रहती है। इस भ्रमपूर्ण स्थिति का आधार अप्रकाश है। यही अप्रकाश तमोगुण की विशेष वृत्ति है।

(दो) अप्रवृत्ति :–

अप्रवृत्ति प्रवृत्ति के प्रतिकूल शब्द है। प्रवृत्ति तो रजोगुण की वृत्ति है और अप्रवृत्ति तमोगुण की वृत्ति है। प्रवृत्ति वृत्ति के अधीन मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कार्य और चेष्टाऐं स्वतः ही करता रहता है, क्योंकि रजोगुण उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करते हैं। मनुष्य जब तमोगुण के प्रभाव में आ जाता है तो मनुष्य में अप्रवृत्ति वृत्ति आ जाती है। ऐसी स्थिति में वह कोई भी कार्य नहीं करना चाहता है तथा आवश्यक कर्म भी करने की इच्छा नहीं करता है। उसकी दिनचर्या असंतुलित हो जाती है। प्रातः समय से न उठना, देर में सोकर उठना, शौच स्नानादि कर्मो का सम्पादन न करना, समय से भोजन न करना, न करने योग्य कार्य करना, जो व्यवहार उचित नहीं है उसे करना आदि आदि सभी अप्रवृत्ति वृत्ति के लक्षण हैं। इस प्रकार यह अप्रवृत्ति भी तमोगुण की विशेष वृत्ति मानी जाती है।

(तीन) प्रमाद :–

मनुष्य तमोगुण के प्रभाव से प्रमादी हो जाता है। तमोगुण के प्रभाव का विशिष्ट लक्षण निद्रा है तथा आलस्य भी है। जब मनुष्य में स्वाभाविक निद्रा के अतिरिक्त निद्रा रहती है तो वह तमोगुण के प्रभाव से रहती है। जब मनुष्य तमोगुणी निद्रा के प्रभाव में रहता है तो वह सामान्य रूप से कोई कार्य नहीं करना चाहता। क्यों नहीं करना चाहता है? क्योंकि उस पर निद्रा का प्रभाव है। या इस तथ्य को इस प्रकार कहें कि उस मनुष्य पर तमोगुण का प्रभाव है। यह कार्य न करना ही प्रमाद कहा जाता है। कोई कार्य करता है तो उसमें निरन्तर लगा रहता है परन्तु प्रमाद से आवृत मनुष्य कोई कार्य ही नहीं करना चाहता। इसका यही कारण है कि वह तमोगुण के विशेष प्रभाव से आच्छादित है तथा आलस्य के वशीभूत हो गया है। कार्य टालने की प्रवृत्ति रखना भी प्रमाद का एक स्वरूप है। इस प्रकार निद्रा के कारण तथा आलस्य के कारण भी प्रमाद रहता है और इसी प्रमाद को तमोगुण की विशेष वृत्ति माना जाता है।

(चार) मोह :–

हम सभी जो वस्तुऐं और सम्बंध अपने जीवन में एकत्र कर पाते हैं उनसे हमें सुख का आभास रहता है। धीरे–धीरे समय के साथ यह बढ़ता जाता है। वृद्धावस्था में विशेष हो जाता है। जैसे मनुष्य जीवनपर्यन्त कड़ी मेहनत करके काफी कुछ धन एकत्र कर लेता है सम्पत्ति बना लेता है, तो उसे उससे मोह हो जाता है। मोह के कारण ही अपने द्वारा उपार्जित धन सम्पत्ति का विनाश होते यदि वह देखता है तो उसके अत्यंत दुख होता है और वह शोक से आवृत हो जाता है। यह दुख और शोक वस्तुओं के प्रति मोह के कारण होता है। मोह से मूढता और मूर्खता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है तो मोह के कारण अपने परिवारीजन, सगे सम्बंधियों को दुःखी देखकर अथवा उसका वियोग होते देखकर वह दुःखी होता है। मोह तमोगुण की एक विशेष वृत्ति है जो सामान्यतः सभी मनुष्यों में रहती है, परन्तु तमोगुण से आवृत मनुष्य में में यह वृत्ति विशेष रूप से रहती है और प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की 11 विशेष वृत्तियों का वर्णन हुआ। विशेष वृत्तियों का अर्थ यह है कि यह वृत्तियां गुणों के प्रभाव से मनुष्य में रहती है और उसके साथ उसके सहयोगी की तरह से कार्य करती हैं। जिस गुण के अधीन मनुष्य रहता है वैसी ही वृत्तियां मनुष्य में स्वतः ही प्रकट होती हैं। मनुष्य किसी भी काल देश का रहने वाला हो उसके गुण प्रभावित करते हैं और गुणों से उत्पन्न वृत्तियों के अधीन ही वह रह सकता है। उससे परे जा पाना संभव नहीं है। मनुष्य की क्रियाविधि को देखकर उसके गुण और वृत्तियों का सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य सत्त्वगुणी है, रजोगुणी

अथवा तमोगुणी है। उक्त ग्यारह प्रकार की वृत्तियों को सहज भाव से समझ लेने पर हम प्रत्येक मनुष्य के गुण का निर्धारण कर सकते हैं।

(8) त्रिगुणों का विकास एवं पतन :–

मनुष्य शरीर त्रिगुणों के अधीन रहता है, क्योंकि शरीर में किसी न किसी गुण की प्रधानता अवश्य रहती है। एक गुण की प्रधानता रहने पर दूसरे गुण स्वतः ही पतन को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार त्रिगुणों के विकास एवं ह्रास की प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रक्रिया को हमें समझना पड़ेगा। इस तथ्य को सहजता से समझने के लिए हम यह जान लें यदि मनुष्य शरीर में सत्त्वगुण बढ़ जाता है तो तम और रज दब जाता है। रजगुण के बढ़ने पर तम और सत्त्व दब जाते हैं। इसी प्रकार तम के बढ़ जाने पर तम और सत्त्व दब जाते हैं। इसी को त्रिगुणों का विकास एवं पतन कहा जाता है। इस विकास और पतन का विवरण निम्न प्रकार है।

(क) सत्त्वगुण की वृद्धि रज और तम का ह्रास :–

मानव शरीर में गुणों के ह्रास और वृद्धि की प्रक्रिया क्रमिक और सुव्यवस्थित है। जैसे जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है तो रज और तमगुण का स्वतः ही ह्रास हो जाता है। दो गुण जब घटते हैं तो एक गुण वृद्धि को प्राप्त करता है। यह क्रिया स्वतः और स्वाभाविक रूप से होती है। सत्त्वगुण जब बढेगा तो मनुष्य में बोलचाल में विनम्रता और सरलता रहेगी। उसके चिंतन में स्वयं को जानने के प्रति चिंता रहेगी। अपने से श्रेष्ठजनों के प्रति श्रद्धा का भाव रहेगा। असामाजिक और अनैतिक कार्यो में लज्जा का भाव रहेगा। मन को संयमित करने और इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाने की इच्छा रहेगी। किसी भी कष्ट के आ जाने पर शान्तिपूर्वक उसे सहन करने की क्षमता रहेगी। सत्य का आचरण प्रकट होगा और तपश्चर्या का अभाव भी रहेगा। गरीबों को देखकर उनके प्रति दया का भाव प्रकट हो जाएगा। अपनी स्थिति में संतुष्टि का भाव प्रबलता से रहेगा आदि आदि गुण प्रकट हो जाने पर सत्त्वगुण की वृद्धि को समझना चाहिए।

इसके साथ ही जब उपरोक्त गुण प्रकट हो जायेंगे तो उसमें कठोरता का अभाव हो जाएगा। बातचीत में रूखापन प्रतीत नहीं होगा। स्वयं के लिए कार्य करने के भाव का अभाव होगा। असत्य आचरण, असंतोष तथा दूसरों के उत्पीड़न के भाव का अभाव रहेगा। क्रोध और कर्मविहीनता भय और अनिद्रा, आलस्य, प्रमाद, दीनता का अभाव, शोक, मोह, विषाद, याचना की प्रवृत्ति स्वतः ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार सत्त्व गुण के बढ़ जाने

पर रज और तम गुण की वृत्तियों का ह्रास मनुष्य में हो जाता है। इसका आधारभूत कारण यह है कि मनुष्य में सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, रज और तम का ह्रास हो जाता हैं। यह वृद्धि और ह्रास चलता रहता है।

(ख) रजोगुण की वृद्धि सत्त्व और तमगुण का ह्रास :–

मनुष्य में रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो उसमें असंख्य कामनाओं का उदय और स्वतः ही प्रादुर्भाव होता है। असंख्य कामनाओं के उत्पन्न होने पर उन कामनाओं की प्राप्ति का प्रयास, भोगवृत्ति और अहंकार का स्वतः प्रादुर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में संशय भी प्रकट होता है। सकामभाव से पूजा उपासना प्रकट होती है और तृष्णा का भाव रहता है अर्थात् उसे सांसारिक भोगों और कामनाओं की इच्छा रहती है। उपर्युक्त गुण सात्त्विक मनुष्यों में नहीं पाये जाते हैं। सात्त्विक पुरुषों की कामनाऐं शान्त होने लगती हैं तथा वह अनावश्यक कामनाऐं नहीं करता है। जब अनावश्यक कामनाऐं नहीं होती हैं तो उनकी प्राप्ति का प्रयास भी नहीं होता है। भोगों को क्षणिक समझ कर भोग की वृत्ति से मनुष्य पृथक् रहता है तथा संशय का विनाश प्रकाशवृत्ति के कारण हो जाता है। इसी प्रकार रजोगुण के प्रभाव से सात्त्विक गुण का समापन हो जाता है। तमोगुण की वृत्तियां भी अप्रकट रहती हैं। राजसी गुण प्रधान मनुष्यों में क्रियाशीलता विशेष रहती है, इसलिए उसमें प्रमाद, आलस्य निद्रा भी नहीं रहती है। सांसारिक कार्यो के प्रति क्रियाशीलता रहने पर मनुष्य सजग होकर कार्य करता है, और तमोगुण की वृत्तियों का भी उसमें अभाव पाया जाता है। वह अपने परिश्रम से अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुऐं, धन आदि प्राप्त करने का इच्छुक होता है। इस प्रकार रजोगुण की वृद्धि होने पर सत्त्व और तमगुण का ह्रास हो जाता है।

(ग) तमोगुण की वृद्धि सत्त्व एवं रजगुण का ह्रास :– तमोगुण से आवृत्त मनुष्य में चूंकि अज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। अज्ञान से आवृत रहने के कारण उसमें तमोगुण की वृत्तियां निद्रा, आलस्य आदि प्रकट हो जाते हैं। यह गुण सात्त्विक और रजोगुण के प्रतिकूल गुण है। तामसी मनुष्य में अज्ञान रहता है। सात्त्विक मनुष्य में ज्ञान रहता है। राजसी मनुष्य में अज्ञान तथा ज्ञान के मध्य की स्थिति रहती है। तमोगुणी मनुष्य निद्रा के वशीभूत रहता है। सात्त्विक मनुष्य में चैतन्यता रहती है और वह चेतन रहता है। राजसी मनुष्य में सुख भोग के प्रति क्रियाशीलता रहती है तामसी मनुष्य में आलस्य प्रमाद रहता है। इसलिए उसकी भोगवृत्ति अत्यंत निकृष्ट हो जाती है। सात्त्विक मनुष्य में जागृति रहती है। राजसी मनुष्य में कामनाओं की प्राप्ति हेतु क्रियाशीलता रहती है। तामसी मनुष्य में हठ रहता है। सात्त्विक मनुष्य में यथार्थ बोध रहता है और राजसी पुरुष में संशय रहता है।

तामसी मनुष्य भूत प्रेतों की उपासना करता है। राजसी मनुष्य देवताओं और श्रीभगवान की उपासना करता है। राजसी मनुष्य यक्ष और राक्षसों की पूजा करता है। इस प्रकार मनुष्य में जब तमोगुण का प्रादुर्भाव हो जाता है तो सत्त्व, रज का ह्रास होता है।

सत्त्वगुण में जब मनुष्य रहता तो रज और तम उसे स्वतः ही छोड़ देते हैं क्योंकि रज और तम में जो गुण हैं वे सात्त्विक गुण में नहीं हैं। इस प्रकार मनुष्य जब रजोगुण से आवृत हो जाता है तो सात्त्विक और तमोगुण उसे स्वतः ही छोड़ देते हैं। तामसी पुरुष को सात्त्विक और राजसी गुण भी स्वतः ही छोड़ते हैं।

विशेष तथ्य :–

मनुष्य में यदि सात्त्विक गुणों की प्रधानता है तो वह कार्य करते हुंए थकावट आने पर रजोगुण उसे घेर लेता है तथा जब बुद्धि थकावट के कारण कार्य नहीं करती है तो उसे तमोगुण की निद्रा की ओर ले जाता है परन्तु सात्त्विक मनुष्य शीघ्र ही वास्तविक निद्रा के सेवन से रजोगुण और तमोगुण को समाप्त कर देता है। पुनः सात्त्विक गुण प्रकट कर लेता है। इसी प्रकार रजोगुण प्रधान पुरुष यदि कार्य करने पर थक जाता है तो शीघ्र तमोगुण से आवृत होकर सो जाता है और जागने पर कुछ पल के लिए उसमें सत्त्वगुण का प्रभाव दीखता है परन्तु वह पुनः रजोगुण से आवृत होकर राजसी वृत्ति से कार्य करने लगता है। जो मनुष्य तमोगुण की प्रधानता वाला है उसे सदैव ही निद्रा, आलस्य घेरे रहता है। निद्रा के पश्चात् भी उसमें निद्रा का भाव रहता है। आलस्य भी रहता है। ऐसे तमोगुणी मनुष्यों को सत्त्वगुण छू भी नहीं पाता है। तमोगुणी मनुष्य सत्संग आदि कार्यक्रमों में जाते नहीं हैं। यदि पहुंच भी जाते हैं तो उनका मन वहां नहीं लगता है और बाध्यता के कारण बैठने पर वह सत्संग में सोया करते हैं। ऐसा मनुष्य तमोगुणी प्रधान मनुष्य है।

(9) त्रिगुणों का शरीर पर प्रभाव और उसके विशिष्ट लक्षण :–

त्रिगुणों का शरीर पर प्रत्येक समय प्रभाव रहता है अर्थात् मानव शरीर कभी भी त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता है। जिस गुण का प्रभाव मानव शरीर पर रहता है उसके ही लक्षण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। त्रिगुणों के प्रभाव तथा उसके लक्षण को समझ कर त्रिगुणों की स्थिति का आंकलन हम सहजता से कर सकते हैं। शरीर किस गुण से प्रभावित है उसके समझने के लिए उसके लक्षणों को जानना चाहिए। प्रत्येक गुण के पृथक्–पृथक् लक्षणों का यहां प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है।

(क) सत्त्वगुण के प्रभाव के लक्षण :–

सत्त्वगुण का जब शरीर पर प्रभाव होता है तब निम्न लक्षण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। इन लक्षणों को देखकर, समझकर हमें यह अनुमान लगाना चाहिए कि मनुष्य शरीर सत्त्वगुण के अधीन है और उसके स्वभाव से ही निम्न लक्षण प्रकट हो रहे हैं।

(एक) मन में प्रसन्नता का प्रादुर्भाव :–

जब सात्त्विक गुण का शरीर पर प्रभाव पड़ता है तब मन में प्रसन्नता का स्वतः ही प्रादुर्भाव होता है। यह प्रसन्नता बनावटी नहीं होती है। स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है। अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होने पर अथवा मनोवांछित वस्तु मिलने पर जो प्रसन्नता उत्पन्न होती है वह प्रसन्नता प्रतिकूलताओं के आने पर स्वतः ही समाप्त हो जाती है। सात्त्विक गुण के प्रादुर्भाव से जो प्रसन्नता आती है वह पृथक् प्रकार की होती है और उससे अंतःकरण प्रसन्न रहता है। प्रतिकूलताओं के आने पर सात्त्विक प्रसन्नता का विनाश नहीं होता है। यही सात्त्विक प्रसन्नता का लक्षण है। मनुष्य में जब इस प्रकार की प्रसन्नता का प्रादुर्भाव हो जाए तब यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण शरीर में बढ़ा हुआ है अर्थात् वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

(दो) इन्द्रियों में चैतन्यता :–

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनों में ही सत्त्वगुण के विकास से चैतन्यता रहती है। ज्ञानेन्द्रियों में जब चैतन्यता आ जाती है तो ज्ञानेन्द्रियों के कार्य करने की शक्ति में विशेष वृद्धि हो जाती है। शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध के ग्रहण करने में सात्त्विकता रहती है। वैसे जब शरीर में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता रहती है तब वैसी चैतन्यता इन्द्रियों में नहीं रहती है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में भी कार्य करने की विशेष शक्ति रहती है। आलस्य तथा प्रमाद भी नहीं रहता है। रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से कर्मेन्द्रियों में विशेष चैतन्यता नहीं रहती है। सात्त्विक गुण के प्रभाव से वाणी आदि में विशेष प्रस्तुतिकरण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। वैसा अन्य गुणों के प्रभाव में नहीं रहता है। इस प्रकार सात्त्विक गुणों के प्रभाव से इन्द्रियों में चैतन्यता रहती है तथा कार्य करने की विशेष शक्ति का स्वतः ही उदय होता है।

(तीन) शास्त्राध्यन में रूचि :–

सात्त्विक गुण का प्रभाव जब शरीर पर बढता है तब सद्शास्त्रों के अध्ययन में रूचि

स्वतः ही बढ़ जाती है। मनुष्य पर जब सात्त्विक गुणों का प्रभाव बढ़ता है तो वह अध्यात्मिक शास्त्रों की स्वतः ही आकर्षित होता है। अनेक प्रकार के आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने की इच्छा उसमें प्रबल हो जाती है और उन तथ्यों को वह जानना चाहता है जो जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त पारलौकिक जगत के सम्बंध में, उनकी रहस्यों के बारे में जानने की जिज्ञासा बलवती हो जाती है। हमें साधारणतया लौकिक जीवन के बारे में कुछ तथ्यों का ज्ञान रहता है क्योंकि हम उसका प्रतिदिन व्यवहार करते हैं और उससे हमें कुछ अनुभव प्राप्त हो जाता है परन्तु पारलौकिक जीवन के बारे में शास्त्र ही हमें बता सकते हैं। सात्त्विक गुण के प्रभाव से मनुष्य में पारलौकिक जीवन के जानने के बारे में रूचि बढ़ती है और वह मनुष्य शास़्त्रों की ओर स्वतः बढ़ जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के जो धार्मिक ग्रंथ हैं उनमें अध्ययन में रूचि सत्त्वगुण के प्रभाव के बढ़ने से ही उत्पन्न होती है।

(चार) सत्संग के सेवन की प्रवृत्ति :–

सत्संग की ओर मनुष्य अनायास ही उन्मुख नहीं होता है। जब उसमें सात्त्विक गुण का प्रभाव बढ़ता है तथा सत्संग के सेवन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तो इसे सत्त्वगुण का प्रभाव मानना चाहिए। साधु पुरुषों, शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों, तत्त्वदर्शी महानुभावों के साथ रहना, उनकी अमृतवाणी का सेवन करना तथा जहां कहीं भी उनके प्रवचन हो रहे हों उसमें सम्मिलित होना ही सत्संग कहा जाता है। जब मनुष्य के मन में असार संसार के प्रति रूचि समाप्त होने लगती है तब वह सांसारिक विषयों और भोगों से घृणा करता है। तब सत्य की खोज एवं अपने कल्याण के बारे में विचार करता है। ऐसी स्थिति में उसे साधु पुरुषों का संग, अध्यात्म के विषय में जानकारों का साथ और उनकी शरण में रहने की इच्छा प्रकट हो जाती है। यह भावना तथा प्रवृत्ति सात्त्विक गुण के प्रभाव से ही उत्पन्न होती है। सात्त्विक गुण के प्रभाव से मनुष्य सत्संग का सेवन करना चाहता है और उसमें विशेष रूचि रखता है। साधु पुरुषों के वचनों को विशेष ध्यान एवं तक्र से सुनता है।

(पांच) अनावश्यक बातचीत से परहेज :–

सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य का विशेष लक्षण है कि अनावश्यक व्यर्थ सांसारिक बातों से परहेज करता है। वह न तो संसार की बाते करना चाहता है और न ही सुनना चाहता है। यह प्रवृत्ति सत्त्वगुण के कारण प्रकट हो जाती है। संसार के विषय की बातों में जब स्वाभाविक रूप से अनिच्छा प्रकट हो जावे तो समझना चाहिए सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। संसार के बारे में क्या बाते हौ सकती है ? संसार के क्या क्या विषय हैं। संसार में क्या

क्या हो रहा है ? यह हम सभी जानते हैं और उसी के सम्बंध में हम सभी लोग सामान्य रूप से बातचीत करते रहते हैं। ऐसा करने से हमें संसार के संदर्भ में अनेक प्रकार की जानकारियां प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु जितनी जानकारियां हमें सांसारिक विषयों की प्राप्त होती हैं उनसे हमारा स्वयं का कल्याण नहीं हो सकता है, क्योंकि संसार के अधिक जानकारी प्राप्त करने पर वे हमारी स्मृति में संचित हो जाती है और जब हम परमात्मा की ओर उन्मुख होना चाहते हैं तो हमारी स्मृति में संचित जानकारी भी हमारे साधन में बाधा उत्पन्न करती है। सत्त्वगुण के उदय हो जाने पर मनुष्य न तो संसार के बारे में जानना चाहता है और न ही वह संसार के बारे में वह अधिक बात करना चाहता है तथा अनावश्यक बातचीत से परहेज करता है।

(छः) सर्वत्र स्नेह :–

सात्त्विकगुण प्रधान मनुष्य इस संसार के समग्र जीवो की वास्तविकता से और उनकी स्थिति से परिचित हो जाता है और वह यह जान जाता है कि परमात्मा एक है और उसका अंश ही समस्त जीवों में व्याप्त है। प्रत्येक जीव में जो चैतन्यता है वह उसी अंश के कारण है। यह तथ्य जान लेने पर तथा उसको दृढ़ता से मान लेने पर मनुष्य की समस्त जीवों के प्रति विचारों में परिवर्तन हो जाता है और वह सभी से स्नेह करता है, क्योंकि सबमें परमात्मा का अंश विद्यमान है। यह विचार दृढ़ होना तथा इसको दृढ़ता से मानना सात्त्विक गुण के कारण ही होता है। इस कारण सात्त्विक गुण की प्रधानता से मनुष्य सर्वत्र स्नेह करता है।

(सात) ईष्या द्वेष का अभाव :–

सात्त्विक गुण के प्रकटीकरण से मनुष्य में ईर्ष्या और द्वेष का अभाव हो जाता है। ईष्या और द्वेष का प्रमुख कारण यह है कि हम संसार से सुख प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और जब हमें सुख प्राप्त करने में किसी बाधा का आभास होता है, तो हम उस बाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्व के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते हैं। ऐसे में मनुष्य में ईर्ष्या का स्वतः ही प्रादुर्भाव होता है। रजोगुण और तमोगुण से आवृत रहने पर ईर्ष्या और द्वेष अवश्य रहता है। रजोगुण के कार्यरूप अनेक प्रकार की कामनाऐं और तमोगुण के कार्यरूप अनेक प्रकार के असामाजिक कर्मो में बाधाओं का होना निश्चित है। कामनाओं की पूर्ति में बाधा आती है और असामाजिक कार्यो के सम्पादन में भी अनेक प्रकार की बाधाऐं उत्पन्न होती हैं। इसलिए द्वेष भाव निश्चित रूप से रहता है। सात्त्विक गुण के प्रकटीकरण में कामनाओं का भी अभाव होने लगता है और असामाजिक कार्यो का सम्पादन भी रूक जाता है। इसलिए

सत्त्व गुण की प्रबलता में ईर्ष्या और द्वेष का अभाव सा प्रतीत होता है। अर्थात् उनका समापन हो जाता है।

(आठ) मृदुभाषिता :–

सत्त्वगुण प्रधान मनुष्य का विशेष लक्षण मृदुभाषिता है। प्रत्येक मनुष्य यथा व्यवहार और आचरण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जैसा आचरण दूसरों के प्रति करते हैं वैसा ही व्यवहार हमें भी प्राप्त होता है। सत्त्वगुण की प्रधानता से मनुष्य व्यवहार करने वाले के समान व्यवहार नहीं करता है वरन् अपनी सात्त्विक प्रकृति के आधार पर व्यवहार करने को उद्धत होता है। रज और तमगुण हमें यह सिखाते हैं कि हमसे जो जैसा व्यवहार करे वैसा व्यवहार हम उससे करें अथवा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी प्रकार का व्यवहार करें। इस प्रकार स्वार्थ के हल में जो व्यवहार होता है उसमें कभी–कभी मृदुभाषिता प्रकट होती है परन्तु वह अधिकांशता अंत में कटुभाषिता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। सत्त्वगुण के प्रभाव से मनुष्य में मृदुभाषिता का उदय और सामाजिक व्यवहार का उदय स्वतः ही हो जाता है और वह प्रत्येक स्थिति में सभी से मृदु व्यवहार करता है। यह व्यवहार सत्त्वगुण के कारण ही प्रकट होता है।

(ख) राजसी गुण के प्रभाव के लक्षण :–

रजोगुण के प्रभाव से शरीर पर वे लक्षण प्रकट हो जाते हैं जो उसकी प्रवृत्तियां होती हैं। रजोगुण से प्रभावित मनुष्य में कुछ विशेष प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं जिन्हें हम जानकर यह जान सकते हैं कि मनुष्य में रजोगुण बढ़ा हुआ है। कुछ लक्षणों का विवरण निम्न प्रकार है।

(एक) सांसारिक कामनाओं की प्रवृत्ति :–

रजोगुण की प्रधानता से मनुष्य में सांसारिक कामनाऐं स्वतः ही जागृत हो जाती हैं। सांसारिक कामनाओं की संख्या को बताया जा पाना और उसे वर्गीकृत किया जा पाना असंभव है। जो मनुष्य जिस स्तर का होता है वह अपने स्तर की कामनाओं के बारे में ही विचार करता है। निम्न वर्ग की कामनाऐं निम्न स्तर की होती हैं। मध्यमवर्गीय व्यक्तियों की कामनाऐं मध्यम स्तर की होती हैं और उच्चवर्ग की कामनाऐं उच्च स्तरीय होती हैं, परन्तु यह सब रजोगुण के प्रभाव से ही होता हैं रजोगुण प्रत्येक मनुष्य को प्रभावित करता है। इस कारण ही ऐसा होता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य चाहें वह किसी भी स्तर का हो उसे रजोगुण प्रभावित करता है और उसमें सांसारिक कामनाओं की प्रवृत्ति स्वतः ही प्रकट कर

देता है। कामनाओं के बारे में जब विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि सबकी सब कामनाऐं रजोगुण का ही कार्यरूप है। जब मनुष्य में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाऐं प्रकट हो जाऐ तो यह समझना चाहिए कि उसका रजोगुण बढ़ा हुआ है।

(दो) तृष्णावृत्ति :–

रजोगुण सांसारिक विषयों की तृष्णा उत्पन्न कर देता है। रजोगुण के प्रभाव से ही मनुष्य कर्णप्रिय, मनोहारी, संगीत और मधुर गीत सुनने की इच्छा करता है। अच्छे और सुन्दर दृश्य देखना चाहता है और निरन्तर देखने में प्रवृत्त रहता है। सुस्वादु नाना प्रकार के भोजन को भी ग्रहण करना चाहता है। कोमल स्पर्श चाहता है और विभिन्न प्रकार के पुष्पों की सुगन्ध लेने का आकांक्षी होता है। यह ग्रहण करने की प्रक्रिया निरन्तर रहती है और उत्पन्न हुआ करती है। निरन्तर रहना तथा कभी समाप्त न होना ही तृष्णा का स्वरूप है। यह तृष्णा रजोगुण के प्रभाव से होती है। आज के युग में तृष्णा के कारण ही मनुष्य नाना प्रकार के दुर्व्यसनों का शिकार हो रहा है और उन दुर्व्यसनों से निकल न पाना तृष्णा के कारण ही होता है। अनेक आसामाजिक कृत्यों का सम्पादन वह अनेकों बार करता है। यह उसकी एक प्रकार की तृष्णा ही है जो उसे असामाजिक कार्यो में लगाए रखती है।

(तीन) कल्पनाशीलता :–

रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य कल्पनाशील हो जाता है। संकल्प मन की वृत्ति है परन्तु संकल्प शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है उसमें मन की समस्त क्रियाशीलता ही समाहित है। मन जो भी विचार कर सकता है उसके विचारण के प्रमुखता से दो ही भाग हैं। दो ही विषय हैं। दो ही प्रकार हैं। एक यथार्थता का विचार और दूसरा कल्पनाशीलता का विचार। जो विषय, पदार्थ हैं उसके सम्बंध के विचारण को यथार्थ कहा जाता है। परमात्मा यथार्थ है इस कारण उसके विषय में विचार को यथार्थ विचारण कहा जाता है तथा संसार यथार्थ नहीं है नित्य परिवर्तनशील है, विकारी है। इस कारण संसार के बारे में जो कुछ भी विचार होता है वह वस्तुतः यथार्थ नहीं होता। संसार दिख रहा है उससे हम व्यवहार कर रहे हैं परन्तु उस दिखने वाले संसार से भी पृथक् जब हम विचार करने लगते हैं तो इसे कल्पना कहा जाता है। बिना आधार के जो विचारण है वह सबका सब कल्पना के अन्तर्गत आता है। मनुष्य जब रजोगुण के प्रभाव से अनेक प्रकार की कल्पना करता है तथा कल्पनाशील जगत में रहता है तो वह कल्पनाओं में जीता है। कल्पना को भी एक प्रकार का संकल्प भी मानना चाहिए। यह कल्पनाशीलता रजोगुण का विशेष लक्षण है।

(चार) धन सम्पत्ति एकत्र करने का प्रयास :–

रजोगुण से प्रभावित मनुष्य नित नये प्रयास और धन और सम्पत्ति एकत्र करने का प्रयास करता है तथा उसे कितनी ही मात्रा में धन और सम्पत्ति उपलब्ध हो जावे तो भी वह उससे अधिक धन सम्पत्ति एकत्र करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह कार्यक्रम कभी समाप्त नहीं होता है। उसका एक ही कारण है कि ऐसा मनुष्य रजोगुण से प्रभावित रहता है। आज अधिकांश मनुष्यों में यह स्थिति देखी जाती है वे कहीं भी, कभी भी किसी से भी बाते करते हैं तो उनकी बातचीत का एक ही विषय होता है कि धन, सम्पत्ति कैसे एकत्र की जाए। कैसे प्राप्त की जाए। उनका समस्त कार्यक्रम, क्रियाविधि, चेष्टा सभी कुछ धन के उर्पाजन से सम्बंधित रहती है। अनेक प्रकार के सेमिनार गोष्ठियां आदि में जो विचार होता है वह धन के उपार्जन के उद्देश्य से होता है। यह सबका सब रजोगुण के प्रभाव से ही होता है। धन और सम्पत्ति एकत्र करने के संदर्भ में जो वार्तालाप करें बातचीत करें तो यह स्पष्ट समझना चाहिए कि वह रजोगुण से प्रभावित है।

(पांच) ईर्ष्या द्वेष की प्रमुखता :–

रजोगुण से प्रभावित मनुष्यों में ईर्ष्या और द्वेष की प्रमुखता रहती है। अपने अहित करने वालों के प्रति, अहित किये जाने की आशंका वालों के प्रति, प्रतिस्पर्धा के भाव से और उत्कृष्टता को देखकर भी ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। ईर्ष्या उत्पन्न होने के और भी कारण हो सकते हैं परन्तु जब यह उत्पन्न हो जाती है तो अंतःकरण में रहती है। मन उस सम्बंध में विचार करता है और बुद्धि ईर्ष्या के बारे में विनिश्चय करती है। ईर्ष्या और द्वेष का मन में आना तथा वहां पर बने रहना रजोगुण के कारण ही होता है। ईर्ष्या तथा द्वेष का प्रमुख कारण ही रजोगुण की वृत्ति है। इस प्रकार जो मनुष्य ईर्ष्या और द्वेष से प्रमुखता से प्रभावित हो तो उसे रजोगुण से प्रभावित मानना चाहिए।

(छः) दूसरों में दोष निकालने की प्रवृत्ति :–

मनुष्यों में दूसरों के दोषों को खोजने की प्रवृत्ति रजोगुण के कारण होती है। जब मनुष्य अपने दोषों पर विचार करता है तथा उन दोषों को समाप्त करने का यत्न भी करता है तो यह प्रयत्नशीलता सत्त्वगुण के प्रभाव के कारण होती है और ऐसे व्यक्ति को सत्त्व गुण के अधीन मानना चाहिए। इसके प्रतिकूल जब मनुष्य अपने दोषों पर विचार न करके दूसरों के दोषों को विचार कर उनकी व्याख्या करता है तो समझना चाहिए कि उसमें रजोगुण की प्रवृत्ति बहुत तेजी से बढ़ रही है। दूसरों के दोषों को खोजना और उन पर

चर्चा करना यह रजोगुण का कार्यरूप है। इस दोष से आवृत मनुष्य अपने दोषों पर दृष्टि न डालकर, विचार न करके दूसरे के दोषों पर दृष्टि डालता है और उन पर विचार करता रहता है तथा उनकी व्याख्या भी करता है। इस प्रकार दूसरों के दोषों को निकालने की जो प्रवृत्ति है वह रजोगुण के कारण होती है और ऐसे व्यक्ति को रजोगुणी मानना चाहिए।

(सात) भोगवृत्ति एवं अनावश्यक कार्यो में समय नष्ट करना :–

सांसारिक भोगों में, विषयों में जब मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है तब वह पूरी तरह से रजोगुण के अधीन कार्य करता है। इस रजोगुण की प्रवृत्ति से मनुष्य में सांसारिक भोगों के प्रति भोगवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और वह अपना समय अनावश्यक कार्यो में समाप्त करता है। बहुत से लोगों को आपने यह कहते सुना होगा कि हमारा समय काटे नहीं कटता है। यह रजोगुण का विशेष प्रभाव है तब वह समय को काटने के लिए अनेक प्रकार के मनोरंजन के साधन खोजता है और वह यह विचार करता है कि समय को कैसे काटा जाए? यह एक विशेष स्थिति है जो मूल्यवान समय को अनावश्यक कार्यो में विनिष्ट करती है। ऐसा मनुष्य रजोगुण से पूरी तरह से प्रभावित हो जाता है तथा वह किसी कार्य को न करके वरन् एक मात्र भोगवृत्ति की ओर ही उन्मुख रहता है। संसार में जो अनावश्यक प्रकार के अनेक कार्यो का किया जाना है वह रजोगुण के कारण ही होता है।

(ग) तमोगुण के प्रभाव के लक्षण :–

जब मनुष्य तमोगुण से प्रभावित हो जाता है तो वह अधिकांश अज्ञान से आवृत रहता हैं और अज्ञान से आवृत रहकर वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद के अधीन हो जाता है। अज्ञानता के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के असामाजिक कृत्यों का सम्पादन करता है। तमोगुण से प्रभावित मनुष्यों के द्वारा क्या कार्य प्रमुखता से किये जाते हैं? उनका कुछ विवरण यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है, जिन्हें देखकर हम मनुष्य के तमोगुणी होने की स्थिति को समझ सकते हैं।

(एक) दूसरों के अहित की इच्छा :–

तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य अपने हित के बारे में कम परन्तु दूसरों के अहित के सम्बंध में अधिक विचार किया करता है। जब दूसरों के अहित करने का विचार मन में तमोगुण के कारण आ जाता है तब ऐसा मनुष्य दूसरों के अहित करने के लिए प्रयत्नशील भी होता है अर्थात् अहित करने का प्रयास करता है। दूसरों के अहित की अधिकतर इच्छा अपने स्वार्थ के हलीकरण के लिए होती है। यदि हम अपना स्वार्थ हल न करना चाहे तो

दूसरों के अहित के बारे में विचार कम होगा और अधिकांशतः दूसरों का अहित भी नहीं होगा। मनुष्य को वस्तुतः अपने हित और कल्याण के विषय में अधिकतर विचार करना चाहिए, क्योंकि अपने हित और कल्याण के विषय में विचार करने से मनुष्य में अपने को सुधारने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है जो उसके भविष्य के लिए सुखद होती है। इसी प्रकार जब हम दूसरों के हित के बारे में विचार करते हैं तो हम स्वयं का अहित ही करते हैं। ऐसा विचार हमें हमारे श्रेय साधन से नीचे गिरा देता है। यदि मनुष्य दूसरों के अहित के बारे में विचार करे, बातचीत करे तो समझना चाहिए कि व्यक्ति तमोगुण से प्रभावित है।

(दो) दूसरों की धन सम्पत्ति छीनने की वृत्ति :–

मनुष्य पर जब तमोगुण का प्रभाव हो जाता है तब वह दूसरों की धन सम्पत्ति को जबरदस्ती छीनने की, किसी न किसी विधि से पाने की प्रबल चेष्टा करता है और उसे इस कार्य में सुख का आभास होता है। उसके अंतःकरण में तमोगुण के प्रभाव से यह विचार बैठ जाता है कि दूसरों के धन को छीनकर किसी न किसी प्रकार लेकर, हम धन और सम्पत्ति से सुख का उपभोग करेंगे। यह मिथ्या अवधारणा तमोगुणी पुरुष में बलवती रहती है और इसी कारण वह दूसरों की सम्पत्ति छीनने का, प्राप्त करने का प्रयास करता है। किसी की सम्पत्ति हो चाहें जबरदस्ती छीनी जाऐ या धोखा देकर हड़पी जाऐ वह सबका सब एक ही रूप है। जो मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार लाभप्रद नहीं हो सकती है। जब मनुष्य में दूसरों की धन सम्पत्ति छीनने की प्रवृत्ति और पाने की इच्छा बढ़ जाती है तो इसे तमोगुण का कार्य रूप मानना चाहिए।

(तीन) हिंसा की वृत्ति :–

तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य हिंसक हो जाता है अर्थात् दूसरों को चोट पहुंचाने की, नुकसान करने की बातों पर विचार करता है। आपने लोगों को प्रवृत्ति से हिंसक होते देखा होगा तथा गंभीर क्रोध से आवृत किसी की हत्या करने, मारने, पीटने की बाते करते हुँए भी देखा होगा। यह सब भाव मनुष्य में तमोगुण के प्रभाव से उत्पन्न हो जाते हैं और हिंसक प्रवृत्ति तमोगुण का लक्षण है। हिंसक प्रवृत्ति मनुष्य की प्रवृत्ति में परिवर्तन करने लगती है। जब मनुष्य में दूसरों के अहित करने की बातें भावना उत्पन्न हो जाऐ तो निश्चित रूपेण तमोगुण के अधीन मान लेना चाहिए। जब तक मनुष्य में तमोगुण का प्रभाव रहता है तब तक वह अहिंसा के भाव का पालन नहीं कर सकता है। उसका प्रत्येक कार्य और व्यवहार अहिंसा के प्रतिकूल ही रहता है। वह हिंसा के आधार पर अनेक प्रकार की समस्याओं को हल करने का इच्छुक होता है। इस प्रकार जिस मनुष्य में हिंसा की प्रवृत्ति

दिखाई पड़े तो उसको तमोगुणी मान लेना चाहिए।

(चार) अज्ञानतापूर्ण बातचीत :–

क्रमबद्धता से बातचीत करना, बिन्दुवार तथा विषयवार बातचीत करना यह सत्त्वगुण का कार्यरूप है। अक्रमिक तथा अव्यवहारिक बातचीत करना और जो विषय प्रस्तुत नहीं किये जाने चाहिए उस विषय को प्रस्तुत करना तथा अज्ञानतापूर्वक बातचीत करना तमोगुण का कार्यरूप माना जाता है। तमोगुण से आवृत मनुष्य यदि ज्ञानी भी हो तथा शास्त्र में पारंगत भी हो वह अज्ञानतापूर्ण विचार करने का प्रयत्न करता है। आज आपने अनेक पंथ, मत, सम्प्रदाय देखे होंगे। वह सब शास्त्रों में पारंगत विद्वानों ने अधिकांशतः तमोगुण के प्रभाव से उत्पन्न कर दिए हैं। ज्ञान को अनुचित रूप से प्रस्तुत करना, असंगत कहना कुतक्र करके सिद्ध करने का प्रयास करना यह तमोगुण के प्रभाव से होता है। इस प्रकार अज्ञानतापूर्ण बातचीत व्यवहार आदि तमोगुण के प्रभाव से ही होती है और इसे तमोगुण का लक्षण मानना चाहिए।

(पांच) दम्भाचरण और घमंडपूर्ण व्यवहार :–

मनुष्य तमोगुण के प्रभाव से दम्भ से पूर्ण आचरण करता है तथा घमंड से आवृत रहता है। तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य अहंकार से आच्छादित हो जाता है। जो अहंकार से आवृत होकर परिवार और समाज में अनैतिक आचरण करने लगे तो उसे समझना चाहिए कि वह तमोगुण से आवृत हो चुका है। उसकी जो स्थिति नहीं है, उसका वह प्रकटीकरण करता है। दम्भरूपी दोष से आवृत मनुष्य सदैव बढ़चढ़ कर बातें करता है और निषिद्ध कार्य करने को उद्धत होता है। रोके जाने पर वह नहीं मानता है। हमारी जो स्थिति नहीं है, चाहें वह ज्ञान के सम्बंध में हो, चाहें धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, पद के सम्बंध में हो हम यदि उस स्थिति से बढ़कर प्रकटीकरण करते हैं तो इसी को सामान्य भाषा में दंभ का आचरण कहा जाता है। जो वस्तुस्थिति हमारे पास है, उस वस्तु और स्थिति को अपनी मानकर उस पर अभिमान करना घमंड का रूप है। यह दम्भ और घमंड दोनों ही तमोगुण के कार्यरूप हैं और तमोगुण की प्रबलता से प्रकट हो जाते हैं।

(छः) अनैतिक कार्यो का सम्पादन :–

संसार में जितने भी अनैतिक कार्य होते हैं वह सबके सब तमोगुण के कारण ही होते हैं। चोरी, डकैती, हिंसा, कुविचार, हत्या, नशा आदि आदि अनैतिक कार्य जो भी है उन सबको तमोगुण का ही कार्य रूप मानना चाहिए। जो मनुष्य उक्त प्रकार के

असामाजिक कृत्यों का सम्पादन करता है तो उसको तमोगुणी मानना चाहिए और उसके कार्यो को देखकर यह अनुमान लगाना चाहिए कि वह पूरी तरह से तमोगुण से आवृत है। तमोगुण से आवृत मनुष्य नैतिक कार्यो का सम्पादन करना ही छोड़ देता है और वह यह प्रयास करता है कि परिवार और समाज में हमारा वर्चस्व किस प्रकार स्थापित हो। हम किस प्रकार से परिवार और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करके, भय दिखाकर अपना वर्चस्व स्थापित कर लें और इसके लिए वह अनैतिक कर्मो का आश्रय लेता है। इस प्रकार अनैतिक कार्यो के सम्पादन को तमोगुण का ही कार्यरूप मानना चाहिए।

(सात) प्रतिकूल अर्थ निकलाना :–

जब मनुष्य किसी भी तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालता है तो उसे निश्चितरूपेण तमोगुण से आवृत समझना चाहिए। मनुष्य बातचीत में, व्यवहार में, अध्ययन में, जब प्रत्येक तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालने लगता है तो वह अज्ञानतापूर्ण कार्य करता है। चूंकि तमोगुण को अज्ञान का ही प्रतिरूप मानना चाहिए इसलिए अज्ञान के कारण ही प्रतिकूल अर्थ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य में जब वास्तविक ज्ञान का प्रकटीकरण होता है तभी अज्ञान का विनाश होता है और जब तक उसमें वास्तविक ज्ञान का प्रकटीकरण नहीं होता तब तक या तो वह संशयग्रस्त रहता है अथवा संशय से अधिक निकृष्ट स्थिति में प्रतिकूल अर्थ निकालता है। संशयग्रस्त रहना रजोगुण का कार्यरूप है और प्रतिकूल अर्थ निकालना तमोगुण का कार्यरूप है। जो मनुष्य बातचीत और व्यवहार में प्रतिकूल अर्थ ग्रहण करे और उसे प्रकट भी करे तो यह निश्चितरूपेण समझ लेना चाहिए कि वह तमोगुण से पूरी तरह आच्छादित हो चुका है।

उपरोक्त प्रकार से सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के प्रभाव और लक्षणों का वर्णन हुआ। इसके अतिरिक्त भी त्रिगुणों का प्रभाव देखकर मनुष्य के लक्षणों का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है। यह निश्चित समझे कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी गुण के प्रभाव से आवृत रहता है और वैसा ही आचरण करके वैसे ही लक्षण प्रकट करता है जो गुणों के प्रभाव का जानकार है वह किसी भी मनुष्य पर गुणों के प्रभाव का अध्ययन कर लेता है और लक्षण देखकर यह अनुमान लगा लेता है कि यह व्यक्ति किस गुण से आवृत है। प्रत्येक मनुष्य के कार्य और व्यवहार में गुण ही प्रकट होते हैं, इसलिए लक्षण विशेष ही गुण का पर्याय समझना चाहिए।

श्री भगवान यह कह रहे हैं कि समस्त कार्य प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा किये जाते हैं। **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः** श्री भगवान की अद्भुत विलक्षण शक्ति

प्रकृति के द्वारा त्रिगुणों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य इन त्रिगुणों के अधीन ही कार्य करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब हम शुभ कर्म करते हैं अर्थात् देवताओं की उपासना, परमार्थ के कार्य, शास्त्रों के अनुकूल आचरण उस समय प्रकृति से उत्पन्न सत्त्वगुण ही हमसे कर्म करवाता है। जब हम लोभ करते हैं संसार के सुखों की ओर बढ़ते हैं, नवीन कर्मो का आरम्भ करते हैं इन सब कार्य से मन बुद्धि में अशान्ति का अनुभव करते हैं तो सांसारिक पदार्थो की प्राप्ति हमें होती है क्योंकि उनकी प्राप्ति हेतु हम प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम रजोगुण के अधीन कार्य करते हैं। जब कोई मनुष्य असामाजिक कार्य, दुष्कर्म, समाज के अन्य लोगों का उत्पीड़न, अत्याचार, अन्याय, करने को उद्यत हो जाते हैं तो हम तमोगुण के अधीन कार्य करते हैं। यही कर्म का सिद्धान्त है नियम है। मनुष्य कुछ नहीं करता। त्रिगुण उससे करवाते हैं। त्रिगुणों की उत्पत्ति प्रकृति से है इस कारण गुण प्रकृतिजन कहे जाते हैं। श्री भगवान के शब्दों का यही अर्थ है। प्रकृति के द्वारा ही समस्त कार्य किये जाते हैं।

एक विशाल भवन के निर्माण में अभियंता, भवन स्वामी का प्रस्ताव कुशल राज मिस्त्री, श्रमिक, कार्य करते हैं। एक लम्बे समय के उपरान्त सभी के सहयोग से एक भव्य भवन का निर्माण हो पाता है। पहले अभियंता, भवन के मानचित्र को बनाता है उसमें क्या निर्माण होना है ? इस तथ्य को प्रस्तुत किया जाता है। भवन के निर्माण मानचित्र को वह उन कारीगरों के समक्ष प्रस्तुत करता है जो इसका निर्माण करते हैं। निर्माण कार्य के लिए आवश्यक सामग्री लायी जाती है। आवश्यक सामग्री आने के पश्चात् कुशल कारीगर उसे मूर्त रूप देने का कार्य करते हैं शनैः शनैः निर्माण कार्य चलकर एक भव्य भवन का रूप ले लेता है। महीनों वर्षो पश्चात् भव्य भवन प्रतीत होता है जो पहले मान चित्र बनाया गया था वह साकार हो गया। इस कार्य में कितना परिश्रम हुआ ? कितने लोगों का योगदान रहा ? यह तो स्पष्ट नहीं है। अब कोई भवन निर्माण करने वाले व्यक्तियों से यह कहे कि आपने भवन नहीं बनाया है तो यह तथ्य उचित प्रतीत नहीं होता है। व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा कहना संभव भी नहीं है। यदि हम ऐसा कहेंगे कि आपने भवन नहीं बनाया तो वे कहेंगे कि फिर किसने बनाया ? वस्तुतः देखने में तो ऐसा प्रतीत भी होता है समस्त सहयोगी लोगों की भागीदारी उसमें प्रतीत होती है। इस कारण प्रत्येक के कर्तव्य कर्तापन का भाव तो प्रतीत होता है और मनुष्य में रहता है। परन्तु श्री भगवान का यह कथन है कि समस्त कार्य प्रकृतिजन गुणों द्वारा किये जाते हैं और मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। **अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते** अर्थात् कर्ता मानने वाला अहंकारी व मूर्ख है। उसे अपने किये पर अहंकार नहीं करना चाहिए जो कर्ता मानता है वह मूर्ख है।

श्री भगवान का यह कथन सामान्य रूप से तो समझ में नहीं आता है। कि हम कार्य करने के पश्चात् भी अपने को कर्ता न मानें और यदि कर्ता मानते हैं तो हम मूर्ख हैं। प्रकृति ने संसार में विशाल कार्य किया है जो कुछ समुद्र पहाड़, वन, मरुस्थल आदि के रूप में प्रतीत हो रहा है वह सब प्रकृति के द्वारा किया गया है। अध्यात्म की भाषा में इसे प्रकृति का कार्य कहते हैं। प्रकृति ने जो रचनात्मक कार्य किया वह सब मनुष्य मिलकर भी नहीं कर सकते। समुद्र, पहाड़, वन, झरने, नदियां, नालें यह सब प्रकृति का कार्य है जो हम देखते हैं वह सब प्रकृति का किया हुआ है। इतना कार्य करने के पश्चात् भी प्रकृति का नाम सुनते हैं पर उसे हमने कभी देखा नहीं है। उसके कार्यो से ही उसकी शक्ति का अनुमान लगा लेते हैं। इस प्रकार किसी अति प्राचीन मंदिर को जब हम देखते हैं तो एक से एक बढ़कर विशालकाय पत्थरों को इतनी ऊंचाई तक कैसे ले जाया गया होगा ? यह परिकल्पना करते हैं। उससे यह अनुमान होता है कि प्राचीन समय में भी मनुष्य शक्तिशाली थे। उसी प्रकार प्रकृति के कार्यो से उसकी शक्ति का अनुमान लगा लेते हैं। पर उस महाशक्ति ने कभी भी कर्तापन का अभिमान नहीं किया। इसी भाव से श्री भगवान कह रहे हैं कि त्रिगुणों ने परोक्ष रूप से कार्य किया। अपरोक्ष रूप से उसमें हमारा सहयोग प्रतीत होता है इस कारण हमें कर्तापन के अभिमान से पृथक् रहना चाहिए। हम कुछ नही कर रहे हैं यह मानना चाहिए। ऐसा श्री भगवान के कथन का भाव है।

सामान्य मनुष्य तत्त्ववितु में अन्तर रहता है। सामान्य व्यक्ति स्वयं को कर्ता मान लेता है तत्त्ववित्तु अर्थात् वास्तविकता को जानने वाला सत्य का साक्षात्कार किया हुआ व्यक्ति स्वयं को कर्म का कर्ता नहीं मानता। वह प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणों सत्त्व, रज, तम को कर्ता मानता है। एक सामान्य व्यक्ति जब कुछ अच्छा कार्य कर लेता है तो वह कहता है कि अमुक कार्य हमने किया है। जैसे उसने एक अच्छा भवन बना लिया तो उसे भवन का अभिमान हो जाता है। साथ ही उसे अपनी क्रियाओं पर भी अभिमान हो जाता है। यही सामान्य मनुष्य की प्रकृति है तत्त्ववित्तु अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार किये व्यक्ति अनेक वृहद कार्य करके भी उसे अपने द्वारा किया हुआ नहीं मानते। आपने साधु पुरुषों को यह कहते हुए सुना होगा कि जैसी हरि की इच्छा हुई वैसा हुआ। यह कहना स्पष्ट करता है कि भगवान से प्रकृति तथा प्रकृति से गुणों की रचना हुई है जिनसे यह सब कार्य सम्पन्न हुआ। त्रिगुणों ने प्रत्येक कार्य किया है। साधु पुरुषों का यह मानना रहता है। वह विशाल से विशाल कार्य करते रहते हैं परन्तु उस पर उन्हें कोई अभिमान नहीं रहता। क्योंकि वह तत्त्व से परिचित हैं। यह विशाल कार्य प्रकृति के कार्य के समक्ष नगण्य है। उसकी तुलना में हमारे द्वारा किये गये कार्य का कोई मूल्य नहीं है। इस कारण यह सब कार्य भगवान का किया हुआ है। ऐसा तत्त्ववित्तु व्यक्ति कहता है। तत्त्ववित्तु वही व्यक्ति है जो

वास्तवकिता से परिचित रहता है।

श्री भगवान ने आगे कहा **तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः** सत्य को जानने वाला तत्त्ववेत्ता गुण तथा कर्म के विभाग को पृथक्–पृथक् जान लेता है। त्रिगुणों की क्रियाविधि को जानना गुण के विभाग को जानना है और कर्म की क्रियाविधि को जान लेना यह कर्म के विभाग को जान लेना। जब हम सत्कर्म करते हैं तो हम सत्त्वगुण के अधीन हो जाते हैं। सत्त्वगुण के अधीन जो क्रिया हो रही है वह गुण के कारण हो रही है। मैं कुछ नहीं कर रहा हूं गुण मुझसे करवा रहा है। आटा पीसने की चक्की चल रही है तो आटा पीसने का कार्य हो रहा है। इसमें जो लोग आटा पीसने में सहयोग कर रहे हैं वे अपने को कर्ता मान रहे हैं। आटा पीसने का कार्य चक्की के द्वारा हो रहा है परन्तु आटा पीसने का कार्य मनुष्य के सहयोग से हो रहा है और मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। वस्तुतः आटा तो चक्की के द्वारा पीसा गया है जो व्यक्ति इस तथ्य को जान जाता है वह तत्त्ववित्तु हो जाता है और जो नहीं जान पाता है वह अहंकार के कारण अपने को कर्ता मान लेता है। प्रकृति के द्वारा ही सभी कार्य किये जाते हैं। क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण ही सब कार्यो में कर्ता है। जो मनुष्य जिस गुण से प्रभावित रहता है वह मनुष्य वैसा ही कार्य करता है। तत्त्ववेत्ता यह जान लेता है और सामान्य मनुष्य इसकी जानकारी से पृथक् रहता है। इसीलिए कर्तापन के अहंकार में डूबा रहता है।

जब कोई व्यक्ति किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति की कामना करता है तो उसकी प्राप्ति के लिए वह इस वृत्ति के अधीन रहकर कार्य करता है और नये कार्य आरम्भ कर देता है। उसका ऐसा मानना होता है कि मैं ऐसा करूंगा तो ऐसा हो जायेगा। इस प्रकार से लाभ होगा। मैं इस प्रकार की सम्पत्ति एकत्र कर लूंगा। इस भाव से कार्य आरम्भ करता है। यह सब विचार कर उसके मन में अशान्ति उत्पन्न कर देते हैं वह रात दिन अशान्त रहता है। उसे कार्य ही कार्य तथा नित नये कार्य प्रतीत होते हैं। इस स्थिति में जो वस्तुऐं उसके पास नहीं हैं उन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है। यह सब क्रियाऐं रजोगुण के अधीन हो रही हैं। यह तथ्य तत्त्ववित्तु अर्थात् सत्य का जानकार जान जाता है वह रजोगुण के प्रभाव तथा उस प्रभाव से होने वाले कार्य को जानता है। सामान्य व्यक्ति नहीं जान पाता है। इस प्रकार तत्त्ववित्तु गुण तथा कर्म के विभाग को जानते हैं और त्रिगुणों की क्रियाविधि से भली प्रकार परिचित रहते हैं। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

जब कोई मनुष्य दुष्कर्मो में प्रवृत्त हो जाता है वह अकर्तव्य कर्तव्य को न जानकर अकर्तव्य कर्म का आचरण करता है तो उसमें दुष्कर्मिता विशेष होती है। समाज में लोगों

को अकारण सताना, लोगों की धन सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास करना लोगों को अकारण मारना पीटना, अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करना, लूटपाट, हत्या करना इन सब कार्यो में मनुष्य जब संलग्न हो जाता है तो वह तमोगुण के अधीन कार्य करता है। उसकी सम्पूर्ण क्रियाविधि तामसी हो जाती है। वह इस स्थिति के अंधकार में रहकर अनेक आसामाजिक वस्तुओं से मोह करता है। मोह के कारण ही दुष्कर्म करता है। तत्त्ववित्तु यह जान लेता है तथा उसी को समझकर कर्म करता है। गुण तथा कर्म के तथ्य को पृथक्–पृथक् समझ जाता है।

श्री भगवान ने आगे कहा **गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते** गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। यह जानकर तत्त्ववेत्ता पुरुष आसक्त नहीं होता है। श्री भगवान ने इस श्लोकों में तत्त्ववेत्ता कहा है वह त्रिगुणातीत पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा व्यक्ति त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त रहता है। श्री भगवान ने गुणातीत मनुष्य के लक्षणों का विस्तृत उल्लेख 14वें अध्याय में किया है। तत्त्ववेत्ता पुरुष जिस पर त्रिगणों का कोई प्रभाव नहीं होता उसकी स्थिति विशिष्ट होती है। पूर्व में त्रिगुणातीत पुरुष की स्थिति को निरुपित किया गया था।

यह समस्त जगत त्रिगुणों से प्रभावित है, इस कारण प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणों से प्रभावित रहकर ही कार्य कर रहा है। पूर्व में त्रिगुणों के विषय में पर्याप्त चर्चा हुई है, जिसे देखकर यह प्रतीत होता है कि समस्त मनुष्य त्रिगुणों अर्थात् सत्त्व, रज, तम के प्रभाव में ही रहते हैं तथा उन्हीं के प्रभाव से कार्य करते हैं। कोई मनुष्य सात्त्विक गुण से प्रभावित है और उससे प्रभावित होकर कार्य कर रहा है कोई मनुष्य रजोगुण से प्रभावित है और रजोगुण के प्रभाव से कार्य कर रहा है और अन्य मनुष्य तमोगुण से प्रभावित हैं और उसके प्रभाव से कार्य कर रहे हैं। यहां पर यह प्रश्न है कि क्या हम त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं? और यदि मुक्त हो सकते हैं तो कैसे मुक्त हो सकते हैं? वह कौन सी विधि है? जो मनुष्य को त्रिगुणातीत कर सकती है अर्थात् त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त कर सकती है।

इस चर्चा से पूर्व एक तथ्य और स्पष्ट करना है कि शास्त्रों में चार युगों का वर्णन आता है जिन्हें सतयुग, द्वापर, त्रेता तथा कलयुग कहा जाता है। इन चारों युगों को एक चतुर्युगी कहते हैं। वर्तमान में कलयुग चल रहा है। सतयुग में सात्त्विक गुण प्रधान मनुष्यों की बहुलता रहती है तथा राजसी और तामसी गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य नहीं होते हैं। त्रेतायुग में सात्त्विक राजस गुणों की प्रधानता वाले मनुष्यों की संख्या अधिक हो जाती है। तामसी गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य कम ही रहते हैं। द्वापर युग में राजस तथा तामस प्रधान मनुष्यों की संख्या बढती जाती है, परन्तु सात्त्विक गुणों वाले मनुष्यों की संख्या भी

पर्याप्त रहती है। कलयुग में तमोगुण की प्रधानता वाले मनुष्य संख्या में अधिक हो जाते हैं और उससे कम रजोगुण से प्रभावित मनुष्य होते हैं। कलयुग में तमोगुण की प्रधानता वाले मनुष्य अधिक हो जाने के कारण उनकी बहुलता प्रतीत होती है तथा रजोगुण के स्वभाव वाले मनुष्य भी देखे जाते हैं, परन्तु सात्त्विक गुण प्रधान मनुष्य अल्प मात्रा में हो जाते हैं इसलिए वह कम प्रतीत होते हैं। त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त करने के सम्बंध में यहां पर कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं कृपया उनका अवलोकन कीजिए–

(क) त्रिगुण कर्ता है मनुष्य कर्ता नहीं है :–

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक कर्म सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के प्रभाव से करता है। सात्त्विक गुणों से प्रभावित मनुष्य शुभकर्म करता है रजोगुण से प्रभावित मनुष्य सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु कर्म करता है तथा तमोगुण से प्रभावित मनुष्य हिंसा आदि दुष्कर्म करता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त कर्म गुणों से प्रभावित ही होते हैं। जब मनुष्य पर सात्त्विक गुण का प्रभाव रहेगा तो वह भगवान की पूजा, उपासना, सेवा आदि कर्म करेगा। उसे इस प्रकार के पूजा, उपासना आदि कर्मो से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि सत्त्वगुण ही कर्म करवाता है। सात्त्विक गुण से प्रभावित मनुष्य हिंसा ओर दुष्कर्म कदापि नहीं करेगा। हिंसा और दुष्कर्म तमोगुण से प्रभावित मनुष्य अवश्य करेगा। वह पूजा तथा समाजसेवा जैसे शुभ कर्म नहीं करेगा। सत्संग स्थल पर तमोगुणी मनुष्य यदि बैठता है तो वह प्रवचन नहीं सुनेगा, वरन् बैठकर सोयेगा। उसे प्रवचन में कोई रूचि नहीं होगी। तमोगुणी मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन भी नहीं करेगा, इससे वह कहानियां तथा उपन्यास आदि पढेगा, क्योंकि तमोगुण उसे ऐसा अध्ययन करने को बाध्य करता है। सत्त्वगुण के प्रभाव से तथा तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य के कार्य का अवलोकन किया जा सकता है।

उसी प्रकार रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य सांसारिक कर्मो को करेगा अर्थात् मनुष्य जब रजोगुण के प्रभाव से प्रभावित होगा तो वह सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की कामनाऐं करेगा और उनकी प्राप्ति का प्रयास विशेष करेगा। तरह तरह की योजनाऐं बनाना, धन के उर्पाजन के विषयों पर विचार करना, उनको कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील होना आदि आदि कर्म रजोगुण के प्रभाव से होते हैं। रजोगुण से प्रभावित मनुष्य जिस स्तर का होता है वह उस स्तर पर विचार करता है। एक निम्नस्तर का मनुष्य मध्यमवर्गीय स्तर के बनने का, मध्यमवर्गीय मनुष्य उच्चस्तर के मनुष्य बनने का तथा उच्चस्तरीय मनुष्य संसार के समग्र धन सम्पत्ति पर अधिकार करने की इच्छा रजोगुण के कारण करता है। यह तो कामना है और इस कामना की पूर्ति हेतु मनुष्य प्रयत्नशील होता है और अपनी शक्तिभर प्रयास करता है। यह रजोगुण का प्रभाव है जिसके अधीन मनुष्य कर्म करता है। रजोगुण

से प्रभावित मनुष्य में अनेक कामानाऐं स्वतः ही उत्पन्न होती रहती हैं। इस कारण वह उनकी प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील भी रहता है।

सभी लोग इस प्रकार त्रिगुणों अर्थात् सत्त्व, रज, तम से प्रभावित होकर कर्म करते रहते हैं। सत्त्वगुण के प्रभाव से शुभ कर्म होते हैं। रजोगुण के प्रभाव से संसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु कर्म होते हैं तथा तमोगुण के प्रभाव से दुष्कर्मो का सम्पादन मनुष्य करता है। यहां पर एक तथ्य और समझना चाहिए कि सात्त्विक गुणों के प्रभाव से जो शुभकर्म होते हैं उनका परिणाम शुभ होता है। रजोगुण के प्रभाव से जो कर्म होते हैं उनका परिणाम दुःख होता है और तमोगुण के प्रभाव से जो दुष्कर्म होते हैं उससे मनुष्य का पतन हो जाता है। अब आप समझ गए होंगे कि समस्त कर्मो का कर्ता मनुष्य नहीं है, वरन् त्रिगुण ही कर्ता हैं, क्योंकि त्रिगुणों के प्रभाव से ही समस्त प्रकार के कर्म सम्पादित होते हैं।

(ख) त्रिगुणों को कर्ता समझनाः–

साधारणतया हम सभी प्रत्येक कर्म का कर्ता स्वयं को मान लेते हैं। हम कोई भी कर्म करते हैं तो यह कहते हैं कि मैने अमुक कर्म किया। इस तथ्य को इस भावना को एक प्रकार की अज्ञानता ही कहेंगे, क्योंकि त्रिगुण प्रत्येक कर्म के कर्ता हैं और हम अपने को कर्म का कर्ता समझते हैं। सात्त्विक पुरुष जब पूजा उपासना आदि करता है अथवा समाज सेवा के शुभ कर्म करता है तो वह ऐसा कहता है कि मैने भगवान की पूजा उपासना की है। अमुक अमुक लोगों की सहायता की है। स्कूल और अस्पताल बनवाये हैं। यह सबका सब अज्ञान है, उसने कुछ नही किया है। सत्त्वगुण ने किया है। इसी प्रकार जब मनुष्य धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा आदि एकत्र कर लेता है तब वह रजोगुण से प्रभावित होकर यह कहता है कि मैने इतना धन एकत्र कर लिया, इतनी सम्पत्ति एकत्र कर ली। मैं ऐश्वर्यवान हो गया हूं, मेरे पास बहुत प्रतिष्ठा है। तो यह कथन अज्ञानतापूर्ण है। उसने वस्तुतः कुछ नही किया है। यह सब रजोगुण का कार्यरूप है। इसी प्रकार मनुष्य जब हिंसा आदि दुष्कर्म करता है तो वह कहता है कि मैने इतनी हत्याऐं की हैं। अमुक शत्रुओं का विनाश किया है। यह अज्ञान है। उसने कुछ नहीं किया वरन् यह सब तमोगुण का कार्य रूप है। इस कारण मनुष्य को कभी किसी भी कर्म का कर्ता अपने को नहीं मानना चाहिए। यदि वह कर्ता मानता है तो अज्ञानता में है, परन्तु मनुष्य अपने कर्मो का भोक्ता भी अवश्य है। यह एक विशिष्ट स्थिति है और परमात्मा की व्यवस्था है कि मनुष्य गुणों के अधीन रहकर कर्म करता है, परन्तु वह जो कर्म करता है उसका भोक्ता स्वयं होता है, अर्थात् वह कर्मो के परिणाम से बच नहीं सकता।

(ग) अपने को कर्ता न मानना त्रिगुणातीत होना है :–

अपने को कर्ता न मानना गुणों को कर्ता मानना यह स्थिति विलक्षण है। साधारणतया प्राप्त होने वाली नहीं हैं, क्योंकि इसमें कर्तापन के अभिमान से साधक को मुक्त होना पड़ता है। कर्म करके अपने को कर्ता न मानना यह कोई सामान्य स्थिति नही है। सामान्य कैसे हो सकती है? हमने बहुत परिश्रम करके धन एकत्र किया और उससे बहुत सारा व्यवसाय खड़ा कर दिया। अनेक भवन बनवा दिऐ और यह कहें कि हमने कुछ नही किया है, तो यह सामान्य स्थिति नही कही जाएगी। इसे असामान्य और असाधारण स्थिति कहा जाएगा। हम अध्ययन करें और ज्ञान प्राप्त कर लें और यह कहें कि हमने कुछ नहीं किया तो यह स्थिति अत्यंत विलक्षण है, जो सामान्यता प्राप्त होने वाली नहीं है।

कर्तापन के अभिमान से मुक्त होने का एक ही उपाय है कि हम अपने को किसी भी कर्म का कर्ता न माने, वरन् गुणों को कर्ता मानें । यह मानना तथा उसका व्यवहार करना यह दो पृथक्–पृथक् तथ्य हैं। जैसे हम किसी शहर का मार्ग जानते हैं परन्तु उस शहर तक पहुंचने के लिए हमें उस मार्ग पर चलना पड़ता है तभी हम अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंच पाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य कर्ता नही है, वरन् त्रिगुण कर्ता हैं। यह जानकर उसका पालन भी करना पड़ेगा। यह स्थिति हमें स्वयं साधना से दृढ़ करनी पडेगी। बिना साधना के, आचरण के हम त्रिगुणों से अतीत नहीं हो सकते हैं। यह स्थिति कोई सामान्य स्थिति नही बहुत विलक्षण स्थिति है।

(घ) त्रिगुणातीत से परमात्मा की प्राप्ति :–

परमात्मा गुणों से अतीत है, अर्थात त्रिगुणों का प्रभाव परमात्मा पर नहीं है। हम सभी पर गुणों का प्रभाव रहता है। प्रकृति ने त्रिगुणों को उत्पन्न किया है। इस कारण त्रिगुणों को प्रकृतिजन कहा जाता है। प्रकृति अनादि होते हुंए भी परमात्मा की सहचारिणी है, इस कारण ये संकल्पना कर लेनी चाहिए कि प्रकृति को परमात्मा ने ही उत्पन्न किया होगा, अथवा प्रकृति जब भी अपने अस्तित्त्व में आई होगी तो वह परमात्मा की शक्ति से आई होगी, इस कारण प्रकृति को परमात्मा के द्वारा उद्भवित मान लिया जाए तो यह अन्यथा नहीं होगा।

मनुष्य प्रकृतिजन गुणों के अधीन कार्य करता है और जीव को बंधन त्रिगुणों के कारण ही होता है। परमात्मा का अंश जीव त्रिगुणों के प्रभाव से ही और उसके कार्यरूप से बंधन में हो जाता है। इस तथ्य को सहजतापूर्वक हम समझ सकते हैं। सत्त्वगुण सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीव को बंधन देता है। रजोगुण कर्म की आसक्ति से जीव को बंधन

देता है, और तमोगुण निद्रा, आलस्य, प्रमाद से जीव को बांध देता है। जब साधक त्रिगुणों से अतीत हो जाता है तो उसका बंधन समाप्त हो जाता है और वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह स्थिति परमात्मा के आभास करने की अथवा परमात्मा के साक्षात्कार करने की कही जाती है और मानी जाती है।

जगत् की समस्त गतिविधियां प्रकृति का कार्यरूप समझना चाहिए। गुण ही गुणों में व्यवहरित हो रहे हैं। जब मनुष्य गुणों से तथा उसके प्रभाव से अपने को पृथक् कर लेता है तो वह त्रिगुणों से अतीत हो जाता है। सत्त्वगुण से परमात्मा की अनुभूति तो नहीं होती परंतु सत्त्वगुण परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। जब तक मनुष्य रज और तम गुणों के अधीन रहता है तब तक वह परमात्मा के संबंध में विचार ही नहीं कर सकता। अर्थात् परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं होता है। कभी–कभी उन्मुखता होती भी है अर्थात रज और तम गुण से प्रभावित मनुष्य यदि कतिपय कारणों से परमात्मा के संबंध में विचार भी करता है तो यह विचार क्षणिक ही रहता है।

सत्त्वगुण की प्रबलता से और उसके प्रभाव से मनुष्य परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है और जब साधक सत्त्वगुण को भी त्याग देता है अर्थात सत्त्वगुण के कार्यरूप का अतिक्रमण कर देता है तो वह शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित ही जाता है और गुणातीत स्थिति का आभास करता है। मुख्य तथ्य यह है कि साधक जब गुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त करता है तभी वह त्रिगुणातीत हो पाता है। त्रिगुणातीत होने के लिए परमात्मा के नाम का जप का निरंतर सेवन करना चाहिए। इससे साधक को बहुत लाभ होता है। परमात्मा के नाम के जप से त्रिगुण उसे स्वतः ही छोड़ देते हैं। नाम जप में निरंतरता आने से गुणों के प्रभाव का और उनके स्वरूप का स्पष्ट दर्शन होता है और गुणों का कार्यरूप दिखता है। मन को परमात्मा के स्वरूप में लगाने से और बुद्धि को निवेशित करने से अनन्यता आने पर साधक निश्चतरूपेण त्रिगुणों से अतीत हो जाता है अर्थात् त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त कर लेता है।

त्रिगुणातीत मनुष्य के लक्षण–

त्रिगुणातीत मनुष्य साधक से सिद्ध हो जाता है। यह स्थिति साधना की पराकाष्ठा की स्थिति है। इसे समाधि मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में परमात्मा का नित्य संयोग रहता है

त्रिगुणातीत मनुष्य के कुछ विशेष लक्षण होते हैं, जो प्रकट रहते हैं। उन लक्षणों को देखकर हम त्रिगुणों से अतीत मनुष्य की परख कर सकते हैं, परंतु ये परख इतनी सहज

नहीं है हमें भी इसके लिए साधना की पराकाष्ठा पर पहुंचना पड़ता है।

(क) समत्व स्थिति–

त्रिगुणातीत मनुष्य का विशिष्ट गुण है कि वह समत्व की स्थिति प्राप्त कर लेता है। निम्न तथ्यों में उसे समतापूर्ण स्थिति सहजता से प्राप्त हो जाती है जिनमें सामान्य मनुष्य स्थित नहीं हो सकता है। जिन तथ्यों में उसे समतापूर्ण स्थिति प्राप्त हो जाती है उनका यहां प्रस्तुतिकरण किया जाता रहा है–

(एक) सुख–दुख में समता– सुख आने पर प्रसन्नता का आभास न होना और दुख आने पर शोक का उद्भव न होना अर्थात् दुख का आभास न होना। सुख–दुख में समता का भाव है। सामान्य मनुष्य अनुकूल स्थितियों में सुख–प्रसन्नता का आभास करता है और प्रतिकूल परिस्थितियों मे ंदुख का आभास करके शोकग्रस्त हो जाता है परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य सुख में सुखी और दुख में दुखी नहीं होता। यह त्रिगुणातीत पुरुष का विशेष गुण माना जाता है।

(दो) मान–अपमान में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य को मान तथा अपमान में समभाव प्राप्त रहता है। उसे सम्मानित किया जावे या अपमानित किया जावे वह एकसमान ही व्यवहार करता है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य सम्मान चाहता है और मान–सम्मान मिलने पर उसमें प्रसन्नता का भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है और यदि सामान्य मनुष्य को अपमानित किया जाए तो वह दुखी हो जाता है। उदग्नि हो जाता है, परंतु त्रिगुणों से अतीत मनुष्य के लिए मान और सम्मान दोनों ही स्थितियां एक समान रहती हैं अर्थात् वह मान सम्मान मिलने पर एकसमान रहता है और न मिलने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(तीन) मित्र तथा शत्रु में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य का व्यवहार शत्रु और मित्र के प्रति एकसमान रहता है। त्रिगुणातीत मनुष्य का कोई न तो मित्र होता है और न तो शत्रु होता है वह सभी को एकसमान दृष्टि से देखता है। सब में परमात्मा की उपस्थिति का आभास करता है। इस आभास से ही वह मनुष्य शत्रु और मित्र में समता का भाव उत्पन्न कर लेता है। सामान्य मनुष्य में शत्रु के प्रति शत्रुता का भाव रहता है और मित्र के प्रति स्नेह का भाव रहता है परंतु त्रिगुणों से अतीत मनुष्य में उक्त दोनों भाव नहीं रहते हैं।

(चार) मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण में समता– त्रिगुणातीत मनुष्य के लिए मिट्टी का टुकड़ा, पत्थर का टुकड़ा व स्वर्ण का टुकड़ा एक ही मूल्य रखता है। सामान्य लोगों के लिए

मिट्टी के टुकड़े का पृथक् मूल्य है, पत्थर के टुकड़े का पृथक् मूल्य है तथा स्वर्ण का टुकड़ा बहुमूल्य है। त्रिगुणातीत मनुष्य बहुमूल्यता के तथ्य को समाप्त कर देता है। उसके लिए स्वर्ण भी मिट्टी के समान मूल्य वाला है और मिट्टी भी स्वर्ण के समान मूल्य वाला है। हम इस प्रकार उक्त चारों गुणों की स्थिति समझकर त्रिगुणातीत मनुष्य की परख कर सकते हैं।

(ख) कर्तृत्व भाव–

त्रिगुणातीत मनुष्य का कर्तृत्व भाव विलक्षण है। उसके व्यवहार में यह भाव प्रकट होता है। क्रियाओं में दिखता है और उसका आभास हम उसके साथ रहकर स्वयं कर सकते हैं। इसी कर्तृत्व भाव के चार तथ्यों का वर्णन यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(एक) उदासीनवत् व्यवहार– त्रिगुणातीत मनुष्य उदासीनवत् व्यवहार करता है। संसार की समस्त क्रियाऐं प्रकृति के द्वारा ही होती हैं तथा प्रकृतिजन गुणों से संपादित होती हैं। मनुष्य प्रकृति के अनेक कार्यों में उदासीनवत् व्यवहार करता है। जैसे–सूर्य का निकलना, चन्द्रमा का उदय अस्त होना, वर्षा का होना, वनस्पतियों का वृद्धि को प्राप्त हो जाना आदि क्रियाऐं मनुष्य उदासीनवत् भाव से देखते हैं परंतु अनेक क्रियाओं से अपना संबंध जोड़ लेते हैं। ये संबंध जोड़ना ही बंधन का हेतु है। त्रिगुणातीत मनुष्य संसार की समस्त क्रियाओं को देखता है और व्यवहार करता है। यह उसका विशिष्ट कर्तृत्व भाव है।

(दो) कर्मों का अनारंभ– सामान्य मनुष्य संसार में अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को आरंभ करने की चेष्टा किया करता है और यह अनेक प्रकार के कर्मों को आरंभ करने की चेष्टा ही उसके बंधन का कारण हो जाती है। त्रिगुणातीत मनुष्य किसी भी प्रकार के नवीन संसारिक कर्मों को आरंभ नहीं करता है। वह जीवननिर्वाह के लिए निरपेक्ष भाव से कर्मो का संपादन करता रहता है। एक सामान्य मनुष्य नवीन कर्मों का आरंभ करता है परंतु त्रिगुणातीत कोई भी कर्म आरंभ नहीं करता है। यह त्रिगुणातीत का विशिष्ट कर्तृत्व भाव है।

(तीन) प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह से निवृत्ति– सात्त्विकगुण का कार्यरूप प्रकाश है, रजोगुण का कार्यरूप प्रवृत्ति है और तमोगुण का कार्यरूप मोह है। सत्त्वगुण कार्यरूप प्रकाश है जिससे ज्ञान अज्ञान में अंतर का बोध होता है। त्रिगुणातीत मनुष्य इस अंतर के आभास से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार वह सत्त्वगुण से परे हो जाता है। रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह से पहले ही निवृत हो चुका होता है, क्योंकि रज और तम के त्याग से ही सत्त्वगुण का प्रभाव आरंभ होता है। इस प्रकार त्रिगुणातीत मनुष्य त्रिगुणों

के कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह से निवृत्त हो जाता है।

(चार) चेष्टारहित रहता है– मनुष्य जब त्रिगुणों से अतीत हो जाता है तो वह चेष्टा विहीन हो जाता है। सामान्य मनुष्य संसार में संसारिक अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा किया करता है। नित्य नई वस्तुओं की प्राप्ति हेतु चेष्टाऐं चलती रहती हैं, क्योंकि हम सभी को कुछ न कुछ वस्तुओं की, स्थितियों की आवश्यकता का आभास रहता है और आवश्यकताऐं अवशेष भी रहती हैं, परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य को संसार में कुछ भी पाना अवशेष नहीं रह जाता। वह इस ब्रह्माण्ड की सर्वोत्कृष्ट वस्तु, स्थिति ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका होता है। इस कारण त्रिगुणातीत मनुष्य चेष्टारहित हो जाता है।

(ग) स्वस्थ स्थिति–

स्वस्थता दो प्रकार की होती है। एक संसारिक स्वस्थता और दूसरी आध्यात्मिक स्वस्थता। जब हम सभी में वात, पित्त, कफ दोष अपनी साम्यावस्था में रहते हैं तो हम सभी स्वस्थ रहते हैं अर्थात् निरोगता का आभास करते हैं। इसी को संसारिक स्वस्थता कहा जाता है। हम सभी ने अपने वास्तविक स्वरूप के बोध को विस्मृत कर दिया है इसलिए संसारिक स्थिति का बोध हमें रहता है। यह मिथ्याबोध अथवा मिथ्याभास अहंकार का कार्यरूप माना जाता है, परंतु जब साधक अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेता है अर्थात् अहंकार से पूरी तरह निवृत हो चुका होता है। तब इस प्रकार स्वस्वरूप में स्थित व्यक्ति को आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त हो जाती है। त्रिगुणातीत मनुष्य की स्वस्थ स्थिति का अवलोकन कीजिए–

(एक) गुणों से विचलित नहीं होता– हम सभी सामान्य मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित रहते हैं। जैसे तमोगुण मनुष्य से हिंसादि कर्म करवाता है। रजोगुण मनुष्य से संसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के कर्म करवाता है तथा सत्त्वगुण मनुष्य से पूजा–उपासना करने को बाध्य करता है परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य पर गुणों का कोई प्रभाव नहीं रहता है। त्रिगुणातीत स्थिति गुणों के प्रभाव से मुक्त रखने का कवच है। इसलिए गुण त्रिगुणातीत मनुष्य को विचलित नहीं कर सकते। त्रिगुण सामान्य मनुष्य को विचलित करते हैं और हम सभी त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित होकर के ही नाना प्रकार के कर्मों का संपादन संसार में करते रहते हैं, परंतु त्रिगुणातीत मनुष्य बिना त्रिगुणों के प्रभाव से विचलित होकर सामान्य भाव से रहता है।

(दो) गुणों की क्रियाविधि को जानता है– त्रिगुणातीत मनुष्य सत्त्व, रज, तम त्रिगुणों के प्रभाव को, उनके कार्य को और उनकी क्रियाविधि को भली प्रकार जानता है तथा ये जान लेत है कि त्रिगुण मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? सामान्य मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। जैसे किसी रोग के प्रभाव को जान लेने पर ही यदि उसका उपचार ठीक प्रकार से न किया जाऐ तो मनुष्य उस रोग से अपने को मुक्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार त्रिगुणों के प्रभाव को जानकर उससे निवृत होने के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। त्रिगुणों के प्रभाव को त्रिगुणातीत पुरुष सम्यक्रूपेण जानता है और तपश्चर्या से उनसे मुक्त हो जाता है।

(तीन) स्वरूप में स्थिति– त्रिगुणों से अतीत मनुष्य की अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, जबकि सामान्य मनुष्य प्रकृति के अधीन रहकर स्वस्वरूप के बोध से विमुख रहता है। इसलिए उसे प्रकृतिस्थ कहा जाता है और त्रिगुणातीत मनुष्य को स्वस्थ कहा जाता है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य की स्थिति प्रकृति के अधीन रहती है और त्रिगुणातीत की स्थिति प्रकृति के परे रहती है।

इस प्रकार त्रिगुणातीत मनुष्य धैर्यपूर्वक रहता है और उपर्युक्त गुणों से युक्त रहता है। उपरोक्त लक्षणों को देखकर ही हम उसके त्रिगुणातीत स्थिति का आंकलन कर लेते हैं। त्रिगुणातीत मनुष्य वस्तुतः सिद्ध होता है और संसार से पृथक् हो जाता है। संसार में रहकर भी संसारिक चेष्टाओं में और उसके आकर्षण में नहीं फंसता है।

संसार में जो कुछ कार्य हो रहा है वह सबका सब त्रिगुणों के अधीन ही होता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह तथ्य ऊपर स्पष्ट हो चुका है। सभी व्यक्ति सामान्य रूप से कभी सत्त्व गुण के अधीन कार्य करता है कभी राजसी गुण के अधीन कार्य करता है तथा कभी कभी वह तमोगुण के अधीन कार्य करने लगता है। जिस गुण की मनुष्य में प्रबलता रहती है उसी के अधीन क्रिया होती है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है। जिस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियां सदैव खुली रहती है हमारे नेत्र देखने को तत्पर रहते हैं। कान ध्वनि ग्रहण करने को तत्पर रहते हैं नासिका गंध ग्रहण करती रहती है त्वचा सर्दी गर्मी कठोरता कोमलता का आभास करती रही है। उसी प्रकार त्रिगुण भी अपना कार्य करते रहते हैं। यह सब स्वतः स्वाभाविक रूप से होता है। इसमें कोई व्यवधान नहीं पड़ता है। जिस प्रकार सूर्य समय से निकलता है। ऋतुऐं अपने आप परिवर्तित होती है उसी प्रकार त्रिगुणों का संजाल गहन गंभीर और दुष्तर है जिसके अधीन मनुष्य कार्य करते हैं उससे पृथक् नहीं रह पाते। मन बुद्धि चित्त और अहंकार पर त्रिगुणों के प्रभाव से ही क्रियाऐं होती है। चूंकि

त्रिगुण मनुष्य के शरीर में भी हैं और बाहर भी हैं अर्थात् व्यष्टि में भी हैं और समष्टि में भी है इसलिए जो भी क्रियाऐं होती है वह स्वतः हुआ करती है इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते** ।

तत्त्ववेत्ता वास्तविकता को जान जाता है। गुण ही गुणों में व्यवहरित हो रहे हैं। इस वास्तविकता को जानकर वह आसक्त नहीं होता है। संसार के जो कुछ भी कार्य हैं वह इन त्रिगुणों के अधीन चल रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य इन त्रिगुणों के अधीन व्यवहार कर रहा है। वह जो कुछ भी करता है वह सबका सब त्रिगुणों से ही सम्बंधित है इसमें आसक्ति का कोई कार्य नहीं है। शुभ कर्म सत्त्व गुण के अधीन होते हैं। कर्मो में आसक्ति रजोगुण के अधीन होती है तथा दुष्कर्मिता आदि तमोगुण के अधीन हो रही है। इसमें आसक्ति का विषय नहीं है। आसक्ति विहीनता का तथ्य है। हम कार्य के विषय में जान जाते तो गुण और कर्म को जानकर उसमें आसक्त नहीं हो सकते। परन्तु हम इस तथ्य को नहीं जानते कि समस्त क्रियाऐं गुणों के आधार पर ही होती हैं।

इस जगत में जो कुछ भी कार्य हो रहा है वह सबका सब प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन होता है। यह स्पष्ट हो चुका है। इस तथ्य को कम लोग जानते हैं तथा जो जानते भी हैं तो मानते नहीं हैं। जानना और जानकर मानना यह दो तथ्य हैं। जानते नहीं तो माने कैसे ? और जब जानकर भी नहीं मानते यह त्रिगुणों की विलक्षणता है। वर्तमान में संसार में अनेक विषयों का अध्ययन अध्यापन कराया जा रहा है। सैकड़ों प्रकार के विषय हैं। विषय और उपविषय तथा उनकी भी शाखाऐं हैं। चिकित्सा शास्त्र में शरीर के एक एक अंग की खोज चल रही है और उस पर नित्य नये शोध हो रहे हैं। नवीन बीमारियों को लेकर शोध हो रहे है तथा उनके निवारण का उपाय हम खोज रहे हैं। वैज्ञानिक और शोधार्थी निरन्तर प्रयत्नशील हैं। इसी प्रकार विज्ञान, भौतिक रसायन शास्त्र की अनेक शाखाऐं बन गयी हैं। अनेक प्रकार से शोध कार्य हो रहा है। इसी प्रकार असंख्य विषय हैं जिन पर निरन्तर शोध हो रहा है।

मनुष्य यह सब शोध करता है तो वह अपने को कर्ता मान लेता है। जैसे किसी ने कोई नया यंत्र बनाया तो वह उसे अपने द्वारा निर्मित मान लेता है। उससे उसमें कर्तापन का अभिमान आ जाता है। जैसे कोई गायक मधुर गीत गाता है और उससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो वह अपने को उस मधुर गीत का गायक समझ लेता है। यही कर्तापन का अहंकार है। जहां तक हम विचार करेंगे तो पायेंगे कि हम अपने को क्रिया का कर्ता मानकर कर्तापन के अहंकार से युक्त हो रहे हैं। यह स्थिति हमारे लिए घातक है। हमारे पतन का कारण है। भगवान का स्पष्ट कहना है कि हम कर्ता नहीं हैं।

क्यों नहीं है ? यह विचार करना चाहिए। इस पर हमें सोंचना है। हमारा जो शरीर है ज्ञानेन्द्रियां हैं, कर्मेन्द्रियां हैं, मन बुद्धि के द्वारा जो कार्य होता है। वह सबका सब स्वतः होता है। ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, मन बुद्धि किसने प्रदान की है ? और उन्हें किसने क्रियाशील बनाया। उनमें जो क्रियाशीलता है वह कहां से आयी है ? हम जो भी शोध कर रहे है वह मन बुद्धि के आश्रय से ही कर रहे हैं। हमारे शरीर में इन्द्रियां मन बुद्धि न होती तो हम शोध नहीं कर पाते हम कुछ भी नहीं कर पाते। यह समझना आवश्यक है कि हम कर्ता नहीं है।

समस्त प्रकार के विज्ञान तथा विषयों के साथ अध्यात्मिक विषयों की शिक्षा आज के समय में परमावश्यक हो गयी। पहले गुरुकुल में अध्यात्मिक विषय की शिक्षा दी जाती थी। अब वर्तमान में इसका नितान्त अभाव हो गया है। हम वास्तविकता से परिचित नहीं हो पाते तथा अपने को कर्ता समझ लेते हैं। यह भूल हो जाती है। हमारी क्रियाविधि में हमसे कार्य करवाया जा रहा है। हम स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकते। इसे निश्चित मानिये। इसी को मानकर हमें चलना चाहिए। भगवान कहते हैं **प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु** अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों तथा कर्म में मूढ़ बुद्धि मनुष्य अपने को लगा लेता है। प्रकृति के गुण इतने लुभावने हैं और उसे मनुष्य ने अपने उपभोग के लिए और लुभावना तथा मोहक बना दिया है। मनुष्य का उलझाव इसी में हो गया है। प्रकृति के गुणों ने मनुष्य के समक्ष ऐसी ऐसी वस्तुऐं प्रदान कर दी हैं कि मनुष्य उन्हीं के अधीन रहकर कार्य करने लगता है। आरम्भ से अंत तक उसकी क्रियाविधि प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन सीमित हो जाती है। यह विलक्षण बात है। गुणों के उलझाव से उसी के अनुसार कर्म होते हैं ऐसा श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

मनुष्य जब प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाता है तो वह गुणों में मोहित होकर उसी प्रकार के कर्मो को करने लगता है। जैसे कोई व्यक्ति तमोगुण से प्रभावित होकर जुआं, चोरी आदि दुष्कर्म करता है तो समझाये जाने पर भी नहीं छोड़ता क्योंकि वह तमोगुण से मोहित है इसलिए उन कर्मो में में उसको सुख का आभास होता है। ऐसे ही प्रत्येक कर्मो के बारे में विचार करना चाहिए। इसीलिए जब समझाया जाता है तो वह उपेक्षा करता है। यह एक तथ्य है। इसलिए गुणों के आधार पर ही कर्म होते हैं। सत्त्व गुण, रजोगुण से व्यक्ति आवृत होता है तो नाना प्रकार के कर्म करने लगता है। उसके कर्म नित्य प्रति वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं। ऐसे में सांसारिक कार्यो में संलिप्तता बढ़ती जाती है। नाना प्रकार के कर्मो में जो वृद्धि होती है उन पर निरन्तर विचार करता है और संजाल बुनता है। काल्पनिक रूप से उन्हें उतारने का प्रयास भी करता है। कोई यह

समझाना चाहता है तो वह उसे मूर्ख समझकर उसकी उपेक्षा करता है। प्रकृति से उत्पन्न गुणों ने ही सब कुछ किया है। ऐसे में उसे सीख देना और समझाना व्यर्थ रहता है। जो यथार्थ को जानता है समझता है। इसी भाव से श्री भगवान कहते हैं **तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्** अर्थात् पूरी तरह से अज्ञानी मंद बुद्धि व्यक्तियों को यथार्थ का ज्ञानी व्यक्ति विचलित न करे। इसका यही अभिप्राय है कि अज्ञानी व्यक्ति गुणों के प्रभाव से कार्य करेगा वह मानेगा नहीं। इसलिए उसे समझाने का कार्य करना निरर्थक है। ऐसा श्री भगवान का अभिप्राय है।

कर्मो में संलिप्तता कैसे समाप्त होगी ? तथा मनुष्य को साधक के रूप में क्या करना चाहिए ? इस तथ्य को श्री भगवान ने अग्रिम तीन श्लोकों में प्रस्तुत किया है।

मूल श्लोक – तीस, इक्कतीस व बत्तीस।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।

पदच्छेद :–

मयि, सर्वाणि, कर्माणि, सन्नयस्य, अध्यात्मचेतसा,

निराशीः, निर्ममः, भूत्वा, युध्यस्व,विगतज्वरः।।

ये, मे, मतम्, इदम्, नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति, मानवाः,

श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः।।

ये, तु, एतत्, अभ्यसूयन्तः, न, अनुतिष्ठन्ति, मे, मतम्,

सर्वज्ञानविमूढ़ान्, तान्, विद्धि, नष्टान्, अचेतसः।।

भावार्थ :– अध्यात्मचित्त होकर समस्त कर्मो का मेरे अर्पण कर दें। आशाविहीन, ममताविहीन, संसार के ज्वर से विहीन होकर युद्ध करें अर्थात् कर्तव्य कर्म आचरण करें जो साधक भगवान में दोष दृष्टि रहित है श्रद्धा पूर्वक उनको मानता है। भगवान के द्वारा वर्णित उक्त तथ्यों का अनुकरण करता है व साधक समस्त प्रकार के कर्म बंधन से मुक्त हो जाते हैं पर जो लोग भगवान के प्रति दोष दृष्टि रखते हैं तथा भगवान के द्वारा कहे गये उपरोक्त कथन का पालन नहीं करते उन समस्त ज्ञानों से मोहित मूर्खजनों को विनिष्ट हुआ समझो।

व्याख्या :– गुण ही गुणों बरत रहे हैं तथा मनुष्य कर्मो को करता है परन्तु समस्त कर्म मनुष्यों के द्वारा नहीं होते। गुणों के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करने के उपरान्त श्री भगवान ने कहा **मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य** अर्थात् मुझमें समस्त कर्मो का अर्पण कर दो। मनुष्य जो भी कियायें कर रहा है उन सबका भगवान के प्रति समर्पित करने का कार्य भी महत्वपूर्ण है। साधक की दृष्टि से उत्कृष्ट है। जिस प्रकार हम किसी वाहन से यात्रा करते हैं तो हम यात्रारूपी कर्म करते हैं और यात्रारूपी कर्म किसी वाहन के माध्यम से करते हैं। इस यात्रारूपी क्रिया में वाहन विशेष है। सामान्य रूप से तो हम यह कहते हैं कि मैं वहां गया था। मुझको ले जाने के कार्य में वाहन सहयोगी है हम तो गंतव्य स्थान पर पहुंचे पर उसमें सहयोग वाहन कर रहा है इस कारण वाहन विशिष्ट है। यह तथ्य हम भूल जाते हैं और अपने को हम प्रमुख मान लेते हैं हम क्रिया नहीं कर रहे हैं हमारी क्रियाओं का आधार कोई अन्य है जिनके द्वारा क्रियाऐं होती है। हम यह तथ्य समझ नहीं पाते। श्री भगवान ने कहा कि समस्त क्रियाऐं हमारे द्वारा हो रही हैं। इस कारण उनको हमें समर्पित करें। इन क्रियाओं का समर्पण अपने में कर लेते हैं अपने को कर्ता मान लेते हैं यह भूल है त्रुटि है इस त्रुटि का सुधार करना होगा।

हम क्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे पास क्रियाशक्ति नहीं है। क्रियाशक्ति हमें भगवान देता है। हम हिल डुल नहीं सकते। हिलने डुलने का जो कार्य है वह उसी के द्वारा हो रहा है। भगवान के कथन को समझने के लिए श्रीगीताजी का एक भाव देखिए–

1– बीजं मां सर्वभूतानाम् विद्धि पार्थ सनातनम् :–

जितने भी प्राणी हैं उनका सनातन बीज अर्थात् उनकी उत्पत्ति का कारण श्री भगवान ही हैं। श्री भगवान समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण हैं। वह समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का हेतु है। इस कारण हम उनके आश्रय में हैं। जिस प्रकार पिता न हो तो पुत्र की संकल्पना संभव नहीं हो सकती। पिता पुत्र की उत्पत्ति का हेतु है। कारण है। उत्पत्ति के उपरान्त पुत्र पिता को अपनी उत्पत्ति का कारण न माने तो अव्यवस्था हो जायेगी। मूलभूत तथ्य ही समाप्त हो जायेगा। इस कारण यह मानना चाहिए कि श्री भगवान ही हमारी उत्पत्ति का कारण है।

2– बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि :–

श्री भगवान बुद्धिमानों की बुद्धि हैं। हमारे शरीर में जो विनिश्चयात्मक शक्ति है उसे बुद्धि कहा जाता है। वह मन द्वारा संकल्पित विचारों को निश्चयात्मक स्वरूप प्रदान करती है। बुद्धि में निश्चयात्मक कार्य करने की जो शक्ति है वह भगवान द्वारा प्रदान की जाती है। जितने भी बुद्धिमान हैं और विशेष ज्ञानी है उनके द्वारा जो कर्मो का निश्चय होता है वह भगवान की शक्ति के द्वारा ही होता है।

3– तेजस्तेजस्विनामहम् :–

श्री भगवान तेजस्वियों का तेज हैं। तपस्या के पश्चात् मनुष्य के शरीर में एक शक्ति उत्पन्न होती है वह तेज नाम से कही जाती है। इस तेज नामक शक्ति से तपस्वी सामान्य व्यक्तियों से पृथक् प्रतीत होता है। तपस्चर्या के पश्चात् जो तेज उत्पन्न हो जाता है। उसकी उत्पत्ति का कौन कारण है ? श्री भगवान कहते हैं वह मैं हूं। साधक जब साधना करता है तो उसमें एक विशेष प्रकार की शक्ति का उद्भव हो जाता है। वह शक्ति श्री भगवान द्वारा प्रदान की जाती है।

4– बलंबलवतांचाहम् :–

भगवान बलवानों के बल है, मनुष्य शारीरिक शक्ति की प्राप्त हेतु प्रयत्न विशेष करता है तब उसमें विशेष शक्ति का प्राकट्य हो जाता है वह सामान्य व्यक्तियों के बल के मामले में पृथक् प्रतीत होता है। महाभारत महाकाव्य में ऐसा वर्णन मिलता है कि भीम में

10 हजार हाथियों का बल था। इसी बल के द्वारा उन्होंने अनेक राक्षसों का वध कर दिया था। यह बल भगवान की कृपा से और प्रयत्न से प्राप्त होता है, जो बल प्राप्त होता है वह भी भगवान का स्वरूप है।

उपरोक्त कथन का यह अभिप्राय है कि भगवान इस शरीर में समस्त क्रियाओं के लिए शक्ति प्रदान करने का कार्य करते हैं। इसलिए शक्ति भगवान द्वारा प्रदत्त है। उनकी कृपा से ही हम कुछ कर पाते हैं। हम यदि कुछ करना भी चाहें तो बिना उनकी प्रेरणा से नहीं कर सकते। इन्द्रियों तथा मन बुद्धि अहंकार के समूह को करण कहा जाता है। इस करण को परोक्ष रूप से प्रदान करने वाला ईश्वर है। वह ही हमारी इन्द्रियों में शक्ति उत्पन्न करने का कार्य करता है और उन्हें सामर्थ्य के योग्य बनाता है। कभी–कभी रुग्णता की स्थिति में हम देखते हैं कि हम कार्य करने में असमर्थ रहते हैं। हमारा शरीर उठता नहीं है। कार्य नहीं करता है क्या कारण है ? क्या कमी आ गयी है ? वह शक्ति जिससे हम अनेक क्रियाऐं करते थे वह कहां चली गयी ? वह विलुप्त हो गयी। रूग्णता समाप्त होने पर शरीर पुनः क्रियाओं की ओर बढ़ जाता है यह कौन करता है ? इसका सम्पादन कैसे होता है ? बहुत विचार करने पर एक ही उत्तर प्राप्त होता है कि परमात्मा ही हमारी समस्त क्रियाओं का कर्ता है। यह विचार मन में दृढ़ हो जाता है। मन में इस विचार के दृढ़ होते हैं। हम साधक हो जाते हैं। साधना की ओर बढ़ जाते हैं। जब तक यह विचार दृढ़ नहीं होता तब तक हम साधक नहीं होते।

श्री भगवान ने कहा हममें समस्त कर्मो का अर्पण करो। **मयि सर्वणि कर्माणि सन्न्यस्य** अर्थात् मेरे में समस्त कर्मो का अर्पण करें। अब हम यह विचार करे कि जो कर्म करते हैं उनका अर्पण कहा करते हैं ? वे क्रियाऐं किसे देते हैं ? किसे अर्पित करते हैं ? हमारी समस्त क्रियाएं किसके निमित्त होती हैं। इसके पूर्व भी विचार करें कि हम क्रियाऐं करते क्या हैं ? अपनी क्रियाओं पर हम जब दृष्टि डालते हैं तो सम्पूर्ण क्रियाऐं अपनी सुख सुविधाओं के लिए करते हैं। भोग सामग्री एकत्र करने का कार्य करते हैं। इसी कार्य में हमारा जीवन बीत जाता है। युवावस्था से वृद्धावस्था तक सम्पूर्ण क्रियाऐं इसी के निमित्त होती हैं। इस स्थिति में हम सम्पूर्ण क्रियाओं का अर्पण अपने निमित्त करते हैं। अपने निमित्त अर्थात् स्वयं के निमित्त क्रियाऐं करने वाले श्री भगवान में क्रियाओं का अर्पण कैसे कर सकते हैं ? संसार के निमित्त हमारी क्रियाऐं हो रही है। तब भगवान के निमित्त

क्रियाऐं कैसे हो सकती है ? यह कथन भगवान के कथन के प्रतिकूल है।

एक दृष्टिविहीन अर्थात् अंधा व्यक्ति किसी के सहारे चलता है। वह मार्ग नहीं जानता उसे मार्ग बताने वाला आगे आगे चलता है। दृष्टिविहीन को दृष्टि देता है। ऐसा इसलिए होता है कि अंधे मनुष्य ने दृष्टियुक्त मनुष्य का आश्रय ले रखा है। उस पर विश्वास करके उसी के सहारे अपनी यात्रा तय करता है। उसके समस्त कर्म उसी के आश्रय से होते हैं। अंधे मनुष्य को यह विश्वास है कि वह हमें उचित मार्ग पर ले जाएगा। अंधा व्यक्ति इस विश्वास के आधार पर अपने को तथा कर्मो को दृष्टि वाले के सहारे सौंपता है। दृष्टि वाला दृष्टिविहीन का आश्रय है। इसी प्रकार जब हम भगवान के आश्रय में जाकर समस्त कर्म करते हैं तो उसके आश्रय में हो जाते हैं। उसका हमें सहारा हो जाता है। हमारे समस्त कर्म भगवान के अधीन होने लगते हैं। यह स्थिति भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेने से आती है। यह कर्मो का अर्पण वैसे कहने में असंगत प्रतीत होता है। पर करने में सहज है। हम जब भगवान के आश्रय में कर्म करते हैं तो समस्त कर्मो में स्वार्थ भावना का त्याग हो जाता है हम स्वतः ही अपने लिए कर्म का त्याग करके दूसरों के हितार्थ कर्म करने लगते हैं। परमात्मा की दृष्टि तब हम पर हो जाती है वह हमारे कर्मो को देखता है। हम भी यह अनुभव करते हैं कि वह हमें देख रहा है। यही अपने कर्मो का परमात्मा में समर्पण है। श्रीमदभागवत् महापुराण के तीसरे स्कंद के उनतीसवें अध्याय में भगवान कपिल ने अपनी माता देवहूति को इसी प्रकार का उपदेश दिया तथा समस्त कर्मो को भगवान को अर्पित करने को कहा।

तस्मान्मय्यर्पिताशेषकियार्थात्मा निरन्तरः।

मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।

न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्। 3/29/33।।

उन सबकी अपेक्षाकृत जो साधक समस्त कर्म तथा उसके परिणाम को तथा काया को श्री भगवान को अर्पित कर देते हैं। कारणों के प्रति अन्तर्भाव को छोड़कर श्री भगवान की पूजा करते हैं वह उत्कृष्ट हैं। भगवान के चित्त तथा कर्मो को समाहित करने वाले कर्ताविहीन एकत्व भाव से देखने वाले साधक को श्रेष्ठ मुझसे कोई प्रतीत नही होता है। भगवान कपिल ने श्रेष्ठता का क्रम भी इसके पूर्व वर्णित किया है जिसमें सर्वश्रेष्ठता का

अंतिम क्रम भगवान ने समर्पण करने वालों का है।

जब साधक समस्त कर्मो का श्री भगवान में अर्पण करने लगता है तो वह अध्यात्म चित्त हो जाता है। उसके चित्त में अध्यात्म आ जाता है। अंतःकरण चतुष्ट्य एक अंश चित्त है जिससे चिंतन का कार्य होता है। ईश्वर, जीव प्रकृति से सम्बंधित विषय को अध्यात्म कहा जाता है। स्वभाव अर्थात् जीवात्मा को भी अध्यात्म कहते हैं। जब साधक अपने समस्त कर्मो को भगवान को समर्पित कर देता है तो वह स्वतः ही ईश्वर जीव प्रकृति आदि के विषय में चिंतन करने लगता है। ईश्वर क्या है ? उसकी स्थिति क्या है ? जीवात्मा क्या है ? उसका क्या प्रभाव है ? प्रकृति क्या है ? उससे त्रिगुणों की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस सम्बंध में विचार चलता है। ऐसे साधक के सांसारिक विषय विलुप्त हो जाते हैं। वह संसार के बारे में उससे सम्बंधित विषयों के बारे में, उसके प्रभाव तथा भोगों के बारे में वह विचार नहीं करता। उसके चिंतन की दिशा सर्वथा परिवर्तित हो जाती है। इसी को अध्यात्म चित्त होना कहते हैं। श्री भगवान कहते हैं कि मेरे में समस्त कर्मो का अर्पण करें और अध्यात्म चित्त होकर तीन स्थितियों को प्राप्त करे। 1– आशारहित हो जायें 2– ममतारहित हो जाऐं और सांसारिक ज्वर से रहित हो जाए। **अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतःज्वरः** । अध्यात्म चित्त के बारे में उपरोक्त प्रकार से कुछ वर्णन किया गया। अब तीन स्थितियों के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत है।

1– निराशी :–

श्री भगवान के आश्रय में जब साधक आ जाता है तो वह भगवान के सहारे हो जाता है। यह तथ्य उसी प्रकार है जिस प्रकार हम किसी धनवान व्यक्ति से मित्रता कर लेते हैं तथा कतिपय कारणवश उससे मित्रता छोड़कर उससे सैकड़ों गुना धनवान व्यक्ति से मित्रता हो जाती है तो हमें एक दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है। हम अपनी स्थिति को अधिक उत्कृष्ट समझते हैं। क्योंकि हमारा आधार मजबूत हो गया। हमारी जो आशायें पूर्व वाले मित्र से थी उससे अधिक आशायें वर्तमान धनवान मित्र से पूरी हो जायेंगी। इसी प्रकार वह परमात्मा सर्वशक्तिमान है, बलशाली और सर्व सुविधा सम्पन्न परम ऐश्वर्यवान है। उससे मित्रता हो जाने पर उससे सम्बन्ध जुड़ जाने से हमारा संसार का आश्रय छूट जाता है। उससे कोई आशा नहीं रहती है। भगवान की एक दृष्टि में ही हमारी समस्त समस्याऐं हल हो जाती हैं। इस कारण साधक संसार के प्रति आशाहीन हो जाता है। श्री भगवान ने

इसीलिए कहा कि निराशी हो जाओ। श्री भगवान के कथन का यही आधार है।

2– निर्ममः :–

मनुष्य का जिन व्यक्तियों, वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। उनसे उसे या तो सुख मिलता है या दुःख मिलता है। सुख मिलने से व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति राग हो जाता है और दुःख मिलने से द्वेष हो जाता है। यही ममता का कारण है। हमें उन वस्तुओं और व्यक्तियों से पृथक् नहीं होना चाहिए। इसी को बंधन कहा जाता है। यह बंधन बहुत प्रबल होता है। जिस प्रकार एक पशु रस्सी से बांध दिया जाता है उसी रस्सी से बंधकर वह चेष्टा कर पाता है वह उससे बाहर नहीं निकल पाता। ममतारूपी रस्सी मनुष्य के बंधन का कारण है। आधार है, हेतु है। मनुष्य अपने परिवार से, सगे सम्बंधियों से जिससे उसे सुख प्राप्त होने की संभावना रहती है या सुख प्राप्त होता है उससे ममता करने लगता है स्नेह करता है और यह ममतारूपी दोष शीघ्र समाप्त नहीं होता है। जीवनपर्यन्त रहता है। यहां तक कि लोग पालतू पशु पक्षियों से भी स्नेहवश ममता करने लगते हैं। श्रीमद् भागवत में एक ऋषि की एक हिरन के बच्चे से प्रेम की कथा आती है। यह ममतापूर्ण प्रसंग है। ऋषि को मृत्यु के उपरान्त मुक्ति प्राप्त नहीं हुई क्योंकि उसे हिरन से बंधन हो गया था ममता हो गयी थी। श्री भगवान ने इसी ममता को समाप्त करने के लिए निर्ममः पद का प्रयोग किया है।

भगवान कहते हैं ममतारहित हो जा। ममता बंधन का कारण है। इसी कारण श्री भगवान उसके छुटकारे हेतु कहते हैं। वैसे तो ममता रहती है प्रत्येक व्यक्ति में उसका निवास होता है। साधक वास्तविकता जान लेता है। इस जगत में अपना कोई नही है। हमारे जितने जन्म पूर्व में हुए हैं उन सबमें सम्बंध है। सम्बंधित लोगों से स्नेह रहा है। ममता मृत्यु के उपरान्त समाप्त हो जाती है। इसी कारण श्री भगवान ने मृत्यु के पूर्व ही ममता समाप्त करने के लिए कहा और **निर्ममः** पद का प्रयोग किया।

3– विगतज्वरः :–

जब साधक संसार से आशारहित हो जाता है, ममतारहित हो जाता है तो उसे शान्ति प्राप्त होती है। यदि आपकी संसार से आसक्ति है आशा है, ममता है। तो आशा की पूर्ति न होने पर ममता से अपेक्षा पूरी न होने पर एक प्रकार की उद्विग्नता उत्पन्न होती है।

मनुष्य क्षुब्ध हो जाता है। यह एक सामान्य तथ्य है। संसार में आशा से अपेक्षा होती है। ममता से सुखासक्ति होकर झूठी आकांक्षा रहती है। इससे जब बाधा होती है तो मन में उद्विग्नता का भाव उत्पन्न होता है। क्षुब्धता आती है। श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है कि संसार से आशाविहीन हो जाऐं। तब ममता विहीनता हो जाए तो यह उदिग्नता का, क्षुब्धता का जो ज्वर है वह समाप्त हो जाएगा। इसी को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने विगतज्वरः पद का प्रयोग किया है।

4– युध्यस्व :–

अर्जुन युद्ध भूमि में खड़ा है। आज का मनुष्य संसार में कर्तव्य कर्म के आचरण में खड़ा है। युद्ध भूमि में युद्ध करना यथेष्ट है और संसार में कर्तव्य पालन करना यथेष्ट है। भगवान ने कर्तव्य पालन का नियम बताया कि संसार से आशारहित हो जाए। ममता रहित होकर कर्तव्य कर्म का पालन करें। इस कार्य से आपकी उद्विग्नता नहीं आयेगी। शून्यता और क्षुब्धता नहीं होगी।

श्री भगवान ने कर्तव्य पालन का नियम बना दिया है। संसार से आशा रहित हों। ममता रहित हो। आशाहीनता ममताहीनता स्वतः आ जायेगी। तब आप उद्विग्न, खिन्न और क्षुब्ध नहीं होंगे। श्री भगवान ने जो व्यवस्था दी है इसका पालन होना चाहिए। यही कल्याणकारक कार्य है। इसी को दृष्टिगत् रखकर श्री भगवान ने कहा **ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः अर्थात्** जो मेरे इस उपरोक्त मार्ग का अनुकरण करते हैं। भगवान का मत है। संसार से आशाहीन होना ममताहीन हो जाना, वैसे तो श्री भगवान का यह मत असंगत प्रतीत होता है पर इसका अर्थ गूढ़ है। यह जगत आशा पर ही आधारित है। हम प्रत्येक कार्य का क्रियान्वयन आशा के आधार पर ही करते हैं। आशा को दृष्टिगत् रखकर कार्य करते हैं। हम अपने बेटे का भरण पोषण दो तथ्यों को दृष्टि में रखकर करते हैं। एक तो उससे ममता होती है और दूसरे उससे भविष्य की आशा होती है कि वह हमें वृद्धावस्था में आश्रय देगा। यदि वह हमें वृद्धावस्था में छोड़ देता है और हमारी इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं करता है तो हमारी ममता भी खंडित हो जाती है और आशा की पूर्ति न होने से हमारे मन में चिंता आ जाती है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ही भगवान ने कहा कि जो संसार से आशारहित होकर ममतारहित होकर मेरे मत का अनुकरण करते हैं ऐसे मनुष्यों में खिन्नता और क्षुब्धता नहीं आती। इसका परिणाम क्या होता है ? इस कथन के

उत्तर में श्री भगवान ने इस श्लोक का उत्तरार्ध अंश प्रकट किया है। **श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः** अर्थात् ऐसा श्रद्धा वाला और दोष दृष्टि से रहित मनुष्य समस्त कर्मो से मुक्त हो जाता है।

श्री भगवान की आज्ञा को शास्त्र की आज्ञा मानना चाहिए। भगवान की आज्ञा में और शास्त्र की आज्ञा में अंतर नहीं होगा। भगवान की आज्ञा शास्त्र की आज्ञा से उत्कृष्ट मानी जाती है। श्री भगवान ने एक स्थल पर शास्त्र की आज्ञा को विशेष कहा और शास्त्र की आज्ञा मानने का आदेश दिया–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

जो मनुष्य शास्त्रों की विधि का परित्याग करके स्वेच्छाचारिता से व्यवहार करते हैं उन्हें तीन वस्तुऐं प्राप्त नहीं होती है। 1– सिद्धि प्राप्त नहीं होती है 2– सुख प्राप्त नहीं होता है 3– परमगति प्राप्त नहीं होती है।

मनुष्य को शास्त्र की विधि का ज्ञान होना इस कारण आवश्यक है। शास्त्रों में क्या वर्णित है ? इसे जानना और उसे जानकर उसका आचरण करना उचित है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, सिद्धि चाहता है यह इस लोक के विषय हैं तथा परम सुख परलोक का विषय है। मनुष्य अंततः आकांक्षा करता है। सुख और सिद्धि तभी प्राप्त होगी जब हम शास्त्र विधि के अनुसार आचरण करेंगे यह निश्चित है, जो शास्त्र विधि को त्याग देता है तथा जो मन में आये वैसा करता है उसे न तो सुख मिलता है और सिद्धि तो कतई नहीं मिलती है। परन्तु ऐसे मनुष्य को परम सिद्धि की कल्पना नहीं करनी चाहिए। यह स्पष्ट है। ऐसा श्री भगवान का मत है।

प्रत्येक प्राणी भोजन से जीवित रहते हैं अन्न जीवन का आधार है। हमें भोजन कब करना है ? कैसे करना है ? क्या करना है ? किस समय करना है ? यह सबका सब आयुर्वेद में वर्णित है। कौन सी वस्तु किस समय ग्रहण करनी चाहिए ? और किसका निषेध है। यह नियम जानकर समझकर जो मनुष्य भोजन करता है वह सामान्यतः अस्वस्थ नहीं होता। उसमें रुग्णता नहीं आती। परन्तु जो नियमों को नहीं जानता। नियमों का अतिक्रमण करता है वह रुग्ण हो जाता है रोगी रहता है अंततः उसकी मृत्यु हो जाती है और वह

विनिष्ट हो जाता है यह सब नियम है। आपने कई लोगों के जीवन के बारे में सुना होगा कि वह संयमित नहीं रहते। इस कारण शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अधिक मदिरा ग्रहण करना मृत्यु का कारण हो जाता है। अंततः अधिक मदिरापान करने वाले की मृत्यु शीघ्र हो जाती है। यह इसलिए है क्योंकि उसने नियमों का पालन नहीं किया है। इस प्रकार सभी मनुष्यों के लिए नियमों का पालन करना अनिवार्य है। जो नियमों का पालन नहीं करते वह अंततः विनिष्ट हो जाते हैं। मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अधिक मदिरा ग्रहण करना मृत्यु का कारण है। इसी प्रकार जो मनुष्य नियमों का पालन नहीं करते अर्थात् शास्त्र की आज्ञा नहीं मानते उनका विनिष्ट होना निश्चित है। हम सभी ने भोजन के प्रभाव को देखा होगा। भोजन से तत्काल क्षुधा की निवृत्ति हो जाती है तथा गरिष्ठ और सुपाच्य भोजन का भी तत्काल प्रभाव होता है। उसे भी हम शरीर पर देख सकते हैं। इस कारण भोजन के अनुपान तथा उसकी मात्रा का प्रभाव शरीर पर निश्चित रूप से पड़ता है, जो मनुष्य आयुर्वेद के नियमों का ऋतु की अनुकूलता प्रतिकूलता का आचरण करता है। आयुर्वेद के नियमों का पालन करता है वह सुखपूर्वक अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है और जो पालन नहीं करता है। उसकी मृत्यु शीघ्र हो जाती है अर्थात् वह नष्ट हो जाता है।

इस जगत में दो प्रकार के मनुष्य हैं। एक तो भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हैं और दूसरे भगवान के गुणों की आलोचना करते हैं। मनुष्य जब कठिनाईयों से घिर जाता है तो भी दो प्रकार का व्यवहार करता है। एक तो भगवान को बुरा भला कहता है और दूसरा भगवान की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। जो भगवान की आलोचना करता है और भगवान के गुणों में दोष दृष्टि रखता है उसे ही **अभ्यसूया** कहते हैं। गुणों में भी दोषों को खोजना दोष दृष्टि है। श्री भगवान में तो गुण ही गुण हैं। इस कारण उनकी आलोचना करना सर्वथा वर्जित है फिर भी जो आलोचना करते हैं उन्हें विनिष्ट हुआ समझिए। ऐसा श्री भगवान का मत है। श्री भगवान ने 31वें और 32वें श्लोक में एक **अनसूयन्तः** और दूसरे **अभ्यसूयन्तः** पदों का प्रयोग किया है। भगवान में जो दोष दृष्टि नहीं रखता है। वह **अनसूयन्तः** और भगवान में जो दोष दृष्टि रखता है वह **अभ्यसूयन्तः** है। इस जीवन के पूर्व भी हमारा जीवन था और इस जीवन के पश्चात् भी रहेगा यह निश्चित है। जीवन के पहले जीवन में भी भगवान की व्यवस्था को मानने को हम बाध्य थे तथा मृत्यु के उपरान्त भी भगवान की व्यवस्था को मानने को बाध्य होंगे। सभी कुछ भगवान के ही आश्रय में है।

भगवान किसी को सुख दुःख नहीं देता। सुख दुःख हमारे कर्मो के फलस्वरूप ही मिलते हैं शुभ कर्मो का फल सुख होता है और अशुभ कर्मो का फल अशुभ अर्थात् दुःख होता है। यह नियम है। इस कारण भगवान के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। उनके प्रति दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिए। ऐसा विचार विशिष्ट विचार है।

श्री भगवान ने पहले यह कहा कि जो हमारे मत का अनुकरण करते हैं वह कर्मो से मुक्त हो जाते हैं। कर्म बंधन से मुक्ति पा जाते हैं। हम जब संसार से आशारहित हो जायेंगे तो ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जो हमें आशा प्रदान करे। आशा के अनुरूप कार्य न होने से हम उदिग्न होते हैं। खिन्न होते हैं इस खिन्नता में शास्त्र के अनुकूल कार्य नहीं कर पाते हैं। इसी कारण से हमें बंधन होता है। ममता तो वैसे भी बंधन का हेतु है। इसके प्रतिकूल आचरण से कर्मबंधन से मुक्ति हो जाती है। यह श्री भगवान का कथन है। **श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः** का यही अर्थ है।

संत मनुष्यों का जो यह विचार है कि जो भगवान के मत का अनुकरण नहीं करते वे कितने ही ऐश्वर्यवान हों धन, पद प्रतिष्ठा वाले हों उनको अंततः हारना पड़ता है। जैसे एक शिशु को मां अपनी गोद में रखती है तो शिशु के अनुकूल बार–बार उसकी आवश्यकता के अनुसार व्यवस्था देती है। गोद में सुलाती है। समय से दुग्धपान कराती है। पूरी की पूरी दृष्टि उस बालक पर रहती है। शिशु के ऊंच नीच का ध्यान रखती है वही बालक जब बड़ा हो जाता है तो मां का आश्रय छोड़ देता है और अपने अनुसार बरतता है क्योंकि मां की सहायता की उसे आवश्यकता नहीं है। मां भी ऐसे बालक को नहीं देखती है न ही उसका ध्यान रखती है। शिशु अवस्था में बालक मां पर आधारित था। इस कारण मां उसका ध्यान रखती थी और उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था करती थी। बड़ा होने पर यदि वह मां की बात मानता है तो उसका जीवन सुखमय रहता है और यदि वह मां के आदेशों निर्देशों का पालन नहीं करता है तो दुःखी रहता है और वह अंततः नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार परमपिता परमात्मा के आदेशों के अनुकूल जो नहीं चलता है। वह नष्ट हो जाता है। उसे अंततः नष्ट होना ही पड़ता है।

इस प्रकरण में आशारहित होने का, ममता रहित होने का और उदिग्न न होने का प्रकरण विशेष है। इस कारण भगवान कहते हैं कि संसार से आशा नहीं रखनी, ममता नहीं रखनी और यदि रखेंगे तो परेशान होंगे और ऐसे व्यक्ति को ही श्री भगवान ने मूर्ख कहा

और यह कहा कि ऐसे मूर्ख व्यक्ति को नष्ट हुआ समझो। ज्ञान के प्रतिकूल जो आचरण है अज्ञान का जो व्यवहार है उससे कभी सुख प्राप्त नही होता। संसार से जो आशा रखते है। वह ममता के कारण रखते हैं और ऐसे व्यक्ति ही मूर्ख हैं। उनको **नष्टानचेतसः** अर्थात् नष्ट हुआ समझना चाहिए। भगवान के मार्ग का अनुसरण करने वाला कभी नष्ट नहीं होता।

श्री भगवान ने दोनों श्लोकों में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो मेरे मत को मानते हैं वे श्रद्धावान दोष दृष्टि से रहित होकर कर्म बंधन से मुक्त हो जाते हैं और जो मुझमें दोष दृष्टि रखते हैं मेरे मत के अनुसार व्यवहार नहीं करते हैं उन्हें समस्त ज्ञान से विमूढ़ समझो और उन्हें नष्ट हुआ मानों। श्री भगवान ने इस प्रकरण के पश्चात् सामान्य तथा विशिष्ट साधक की व्याख्या करके इन्द्रिय तथा इन्द्रिय विषयों से पृथक् रहने की बात कही है तथा स्वधर्म का पालन करने को कहा है।

मूल श्लोक संख्या– तैतीस, चौतीस, पैतीस।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तर्योन वशमागच्छेत्तै ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

पदच्छेद :–

सदृशम्, चेष्टते, स्वस्याः, प्रकृतेः, ज्ञानवान्,अपि,

प्रकृतिम्, यान्ति, भूतानि, निग्रहः, किम्, करिष्यति।।

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ,

तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ।।

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्,

स्वधर्मे, निधनम्, श्रेयः, परधर्मः, भयावहः।।

भावार्थ :– समस्त प्राणी अपनी प्रकृति के अनुकूल चेष्टा करते हैं। साधक भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है इसमें निग्रह क्या हुआ ? अर्थात् नहीं हुआ ? क्योंकि इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषयों में जो राग द्वेष स्थित है साधक को उसके वश में नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे साधना पथ में शत्रु के समान हैं। इसी कारण भली प्रकार से आचरित अपना धर्म उत्कृष्ट है, अपने धर्म में मृत्यु श्रेयस्कारी है पर अन्य का धर्म भयकारी है।

व्याख्या :– प्रत्येक मनुष्य की अपनी पृथक्–पृथक् प्रकृति होती है। सात्त्विक मनुष्य प्रातः स्नान आदि से निवृत होकर भगवान के पूजा पाठ की ओर उन्मुख होता है। अध्ययनशील रहकर शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ कर देता है। कृषक अपने खेतों की ओर चल देता है। उद्यमी अपने व्यवसाय में लग जाता है और वह यह विचार करता है कि कैसे व्यवसाय में उन्नति हो ? श्रमिक अपने श्रम की खोज में चल देता है। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति पृथक् प्रकार की होती है। जहां तक विचार करो प्रकृति की पृथकता विभिन्नता आपको प्राप्त हो जायेगी। यहां तक कि करोड़ों लाखों लोगों की प्रकृति पृथक् पृथक् होती है और प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करता है। यह प्रकृति की विलक्षणता है जो मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार कार्य करवाती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल व्यवहार करता है। अर्थात् प्रकृति ही उसे नचाती है। इस कारण प्रकृति शब्द की व्याख्या आवश्यक है।

एक तो भगवान की रचानात्मक शक्ति के रूप में प्रकृति शब्द का उल्लेख आता है **मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते स चराचरम्** अर्थात् भगवान की अध्यक्षता में प्रकृति इस विशाल ब्रह्मांड को रचती है। **प्रकृति स्वाधिष्ठाय संभवामि आत्ममायया** अपनी प्रकृति को अधीन करके श्री भगवान अपनी माया से प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उनका प्रकटीकरण हो जाता है। भगवान की प्रकृति भगवान के अधीन रहकर इस ब्रह्मांड का निर्माण करती है। प्रकृति के द्वारा ही ब्रह्मांड का सृजन किया जाता है, रचना की जाती है। ब्रह्मांड उसी के द्वारा आकार प्राप्त करता है। प्रकृति का दूसरा कार्य भगवान के प्रकटीकरण उनके प्रादुर्भाव

में सहयोग करना है। प्रकृति के सहयोग से ही श्री भगवान प्रकट हो पाते हैं। अब आप प्रकृति की दुरूहता, उसकी शक्ति, उसके महत्व और सत्ता को समझ गये होंगे। मनीषीजन प्रकृति के कार्य से उसकी शक्ति का सहज अनुमान कर लेते हैं।

यह प्रकृति भी मनुष्य में होती है। जिसके अधीन मनुष्य कार्य करता है। सारी चेष्टाऐं उसी के अधीन चलती है। इसीलिए श्री भगवान ने यह कहा–

ईश्वरः सर्वभूतानां हद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। 18/61।।

श्री भगवान सभी प्राणियों के हृदय में रहते हैं। वह अपनी माया के द्वारा सभी की देह में आरूढ़ होकर उसे यंत्रवत् चलाते हैं। श्री भगवान समस्त प्राणियों के हृदय में रहते हैं। शरीर एक यंत्र है जो श्री भगवान की माया से चलता फिरता है। जिस प्रकार एक यंत्र कार्य करता है चलता है, उसी प्रकार शरीर एक यंत्र की तरह से कार्य करता है। यह तथ्य श्री भगवान ने कहा, मनुष्य की जो प्रकृति होती है उसी के अनुसार वह चेष्टा करता है। यहां पर एक तथ्य है जो आपकी संज्ञानता में लाना आवश्यक है। माया शरीर रूपी यंत्र को चलाती है और यह यंत्र अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। माया इस शरीर रूपी यंत्र में गतिशील यंत्र की तरह से है। शरीर में प्रकृति जिस गति से कार्य करना चाहती है वैसा ही मनुष्य करता है। इस कारण माया तथा मनुष्य की प्रकृति दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य की प्रकृति कर्म के सम्पादन में विशेष महत्वपूर्ण है। जैसे किसी वाहन में इंजन कार्य करता है तो वाहन में गति होती है। वैसी ही स्थिति इस प्रकरण में समझनी चाहिए। मनुष्य की गति कैसी होगी ? उसकी चेष्टा का क्या स्वरूप होगा ? यह मनुष्य की प्रकृति निश्चित करती है। यदि शरीर की गति शास्त्रानुकूल नहीं है तो शरीर शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए हमें अपनी प्रकृति को सही रूप से समझना चाहिए और उसका सही सही ज्ञान करना चाहिए।

मनुष्य की प्रकृति तीन प्रकार की होती है। जिसे सात्त्विक, राजस्व, तामस कहा जाता है। सात्त्विक प्रकृति शुभ कर्मो की ओर मनुष्य को उन्मुख करती है। राजसी प्रकृति मनुष्य को सांसारिक भोगों की प्राप्ति में लगा देती है जिससे मनुष्य कर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है तथा तामसी प्रवृत्ति मनुष्य को असामाजिक कार्यो में तथा दुष्कर्मो में प्रवृत्त कर

देती है जिससे मनुष्य स्वतः अंधकार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। यह एक सामान्य व्यक्ति की स्थिति है और वह इस प्रकार सांसारिक कार्यो में घूमा करता है। **प्रकृतिं यान्ति भूतानि** अर्थात् समस्त प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। समस्त प्राणियों में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशु पक्षी भी है। प्रत्येक पशु पक्षी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। प्रत्येक प्राणी यह जानता है कि हमारा भोजन क्या है ? और वह हमें किस प्रकार प्राप्त होगा ? आपने छिपकली को कीड़े मकोड़े पकड़ते हुए देखा होगा। छिपकली चुपचाप दीवाल पर चिपकी रहती है और जैसे ही कोई कीड़ा उसके निकट प्रतीत होता है छिपकली के शरीर में हलचल आरम्भ हो जाती है वह जानती है कि यह कीड़ा ही हमारा आहार है। छिपकली उसे पकड़ने की चेष्टा करती है। छिपकली को यह ज्ञान रहता है कि किस प्रकार हमें दौड़कर इस कीड़े रूपी भोजन को पकड़ना है। वह उसी वेग से दौड़ती है तथा कीड़े को पकड़ लेती है। कीड़ा उसी प्रकार छटपटाता है जिस प्रकार एक मनुष्य अपनी जान बचाने के लिए छटपटाता है। अंततः छिपकली कीड़े को मार डालती है और खा जाती है। भगवान की प्रकृति ने छिपकली में यह प्रकृति उत्पन्न की है कि वह अपने आहार को पहचान कर उसे पकड़कर खा लेती है। छिपकली की कीड़ा पकड़ने की चेष्टा उसकी प्रकृति के आधार पर होती है। यह प्रकृति उत्पत्ति का कारण प्रकृति ही है। **प्रकृतिं यान्ति भूतानि** का यह एक छोटा उदाहरण है।

गाय एक शाकाहारी पशु है वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना आहार लेती है। उसे यह ज्ञात है कि हमें क्या भोजन करना है ? खेत में छोड़े जाने पर वह घास खाती है वह स्वेच्छा से घास को पहचान कर उसे ग्रहण कर लेती है। वनस्पतियां तो खेत में बहुत सी होती है परन्तु उसे किस वनस्पति को ग्रहण करना है वह गाय जानती है। यह गाय की प्रकृति है। शेर मांसाहारी होता है। वह घास आदि वनस्पति ग्रहण नहीं करता है। शाकाहार उसकी प्रकृति नहीं है। शेर अपने भोजन की व्यवस्था के लिए मांस के प्रबन्ध के लिए अन्य वन्य जन्तुओं का शिकार करता है। शिकार दीखते ही वह उस पर टूट पड़ता है। वह जानता है कि उसका शिकार क्या है ? उसे किस प्रकार पकड़ना है ? एक ही झपट्टे में वह शिकार पकड़ लेता है। यह सब चेष्टा है जो उसकी प्रकृति के अनुसार होती रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। बकरी बबूल के कांटों के बीच पत्तियां तोड़ लेती है और वह कांटों को छोड़ देती है। पत्तियां ग्रहण करना उसकी प्रकृति में है। कांटों को छोड़ना भी उसकी प्रकृति में है। इसीलिए श्री

भगवान कहते हैं **प्रकृतिं यान्ति भूतानि** अर्थात् समस्त प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकरण में **प्रकृतिं यान्ति भूतानि** के पूर्व श्री भगवान ने **सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेर्ज्ञानवानपि** अर्थात् ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। श्री भगवान के इस कथन से **प्रकृतिं यान्ति भूतानि** का विशेष अर्थ मनुष्यों के लिए ही प्रतीत होता है। मनुष्य की प्रकृति के कई आधार होते हैं। जिनमें पूर्व जन्म के कर्मो के आधार पर प्राप्त हुआ जन्म, जन्म स्थान और परिवार, परिस्थितियां, परिवार का परिवेश तथा वातावरण आदि सम्मिलित होता है। मनुष्य की शिक्षा तथा सामाजिक परिवेश यह सब मिलकर मनुष्य की प्रकृति को उत्पन्न करते हैं। उसकी रचना करते हैं। सामान्यतः यह सब सृजन भगवान की व्यवस्था के अनुकूल होता रहता है। इसमें मनुष्य अपने प्रयास से अपनी प्रकृति परिवर्तित कर सकता है। दुराचारी व्यक्ति सदाचारी हो सकता है। इसमें स्वाध्याय विशेष है। मनीषी कहते हैं इमसें श्री भगवान की कृपा होती है और कुछ कहते हैं कि मनुष्य का भाग्य मनुष्य की प्रकृति को परिवर्तित कर देता है। श्री भगवान इस तथ्य को उद्घाटित करते हैं कि यदि दुष्कर्मी मनुष्य भी श्री भगवान का अनन्य भजन करने लगे तो वह शीघ्र ही साधु हो जाता है–

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। 9/31।।

दुराचारी दुष्कर्मी मनुष्य भगवान का अनन्य भाव से भजन करता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्ति होता है। श्री भगवान कहते हैं कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

यह प्रकृति परिवर्तन है, जो भक्त में हो जाता है। यह परिवर्तन भगवान की प्रेरणा से भी हो सकता है और मनुष्य के स्वाध्याय से भी हो सकता है पर प्रेरणा ईश्वर की ही रहती है। ऐसा मनीषीजन कहते हैं। कोई घटना किसी की प्रकृति को परिवर्तित करने का साधन बन जाती है। घटना हो जाती है तो मनुष्य दुष्कर्मी से सत्कर्मी हो जाता है। दुष्कर्मी की प्रकृति परिवर्तित न हुई तो मनुष्य का विनाश अवश्यसंभावी है वह नारकीय योनियो में गमन करता है और अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। ज्ञानवान अपनी प्रकृति के अनुसार

चेष्टा करता है। ज्ञानवान अर्थात् भगवान के साक्षात्कार में लगा हुआ व्यक्ति तथा सिद्ध अर्थात् भगवान का साक्षात्कार किये हुआ व्यक्ति दोनों ही अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते रहते हैं। साधक की चेष्टा सिद्ध बनने की भी होती है। वह अपने को किसी न किसी प्रकार सत्कर्मो में संलग्न रखता है। इससे तत्त्व प्राप्ति होती है। सिद्धि की चेष्टा में दो स्थितियां है, दो चेष्टाऐं होती है। एक तो साधक को संशय रहित सिद्धि प्राप्ति का सैद्धान्तिक ज्ञान करना पड़ता है और दूसरे उस सैद्धान्तिक ज्ञान को प्रयोगात्मक स्तर तक उतारना पडता है। पहले सैद्धान्तिक ज्ञान होता है और उस सैद्धान्तिक ज्ञान को प्रयोगात्मक रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा होती है। इस स्थल पर दो श्लोक प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो सैद्धान्तिक ज्ञान भी प्रकट करते हैं और उस पर चलकर कोई भी व्यक्ति परमात्मा की अनुभूति कर सकता है–

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यसंशयम्।। 8/7।।

इस कारण समस्त समय में अर्थात् क्षण प्रतिक्षण पलपतिपल भगवान का स्मरण करें और कर्तव्य कर्म का पालन करें। भगवान में मन तथा बुद्धि का अर्पण कर देने वाला ज्ञानवान साधक संशयरहित होकर भगवान को प्राप्त कर लेता है।

मययेव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। 12/8।।

श्री भगवान ने कहा कि मेरे में मन को लगा दो। बुद्धि का मेरे में निवेश कर दो ऐसा करने से तू मेरे में ही निवास करेगा। यह तथ्य संशयरहित है।

यह सब एक तो सैद्धान्तिक बात है। जिसको ज्ञानवान साधक जानने की चेष्टा अपनी प्रकृति के अनुसार ही करता है। वह स्वतः प्रयास करता है कि हमें सिद्धि प्राप्ति का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त हो जाये। उसकी प्रकृति उसे पुनः पुनः उद्वेलित करती है। सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसकी चेष्टा उसे प्रयोगात्मक स्वरूप देने की होती है। जो सिद्धि के लिए आवश्यक होता है। यह सब प्रकृति के आधार पर चलता है। ज्ञानवान अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। यह चेष्टा तो ज्ञानवान साधक की है। सिद्ध

मनुष्य भी सिद्धि के उपरान्त चेष्टा करता है। यद्यपि उसका कुछ करने से और न करने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसकी अर्थात् सिद्ध पुरूष की प्रकृति उससे कर्म करवाती है वह अपनी प्रकृति के आधार पर कर्म करता है। शरीर यात्रा के संचालन की प्रक्रियाऐं चलती हैं वह चलती रहती है। वह शरीर रहने तक समाप्त नहीं होती है। भगवद् प्राप्त सिद्ध की सारी चेष्टाऐं भगवान में होती रहती है। वह भगवान को ही सब कुछ मानता है। भगवान ही उसके सब कुछ होते हैं। अन्य कोई नहीं होता। समस्त कामनाऐं तथा संकल्प समाप्त हो जाते हैं। उसका अस्तित्त्व नहीं रहता जो कुछ मिल जाए उसी में वह प्रसन्न रहता है। यह भी सिद्ध की उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा है।

श्री भगवान ने अंततः यह कहा **निग्रहः किं करिष्यति** अर्थात् इसमें निग्रह क्या करेगा ? भगवान का कथन है कि प्रकृति के अनुकूल चेष्टा तो होगी ही इसमें कोई हठ नहीं कर सकता। छिपकली कीड़े पकड़ने का कार्य करेगी। गाय अपनी प्रकृति के अनुसार घास को प्राप्त करेगी। शेर अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन की व्यवस्था हेतु चेष्टा करेगा। सामान्य मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल कार्य करेंगे। ज्ञानवान भी सिद्धि हेतु प्रयास करेगा। सिद्ध अपने शरीर निर्वाह हेतु स्वतः प्रयास करेगा। यह सब प्रकृति के अधीन स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इसे हम रोकना चाहेंगे तो रूकेगा नहीं स्वतः होगा। जिस प्रकार प्रकृति ब्रह्मांड की रचना का कार्य स्वतः करती रहती है। रूकती नहीं है। किस स्थान पर क्या निर्माण करना है ? वह जानती है। वह अपनी योजना के अनुरूप कार्य किया करती है। प्रकृति को यह ज्ञात है कि ब्रह्मांड में कौन सा ग्रह किस स्थिति में रहेगा? पृथ्वी कहां रहेगी ? सूर्य और चन्द्रमा कहां रहेंगे ? कितना गुरूत्वाकर्षण रहेगा ? जिससे ग्रहों में सामंजस्यता बनी रहेगी। यह सबका सब प्रकृति जानती है और वह करती रहती है। उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति जैसी होती है ? जो भी होती है उसी के अनुसार वह कार्य करता रहता है। उसमें किसी का हठ नहीं चलता। निग्रह नहीं चलता। यह भगवान के कथन का स्पष्ट अभिप्राय है।

श्री भगवान ने आगे कहा **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ** इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के अर्थो में जो राग द्वेष है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें इन्द्रिय और इन्द्रिय अर्थो को समझना पड़ेगा। प्रत्येक मनुष्य में कुल 5 ज्ञानेन्द्रियां और 5 कर्मेन्द्रियां होती है। 5 ज्ञानेन्द्रियों को कर्ण, नेत्र, रसना, त्वचा, नासिका कहते हैं। पांच कर्मेन्द्रियों को हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा तथा वाक् कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय हैं। वैसे ही कर्मेन्द्रियों के

विषय होते हैं। जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध कहा जाता है। विशेष कर इस स्थल पर इन्द्रिय शब्द से ज्ञानेन्द्रियों का बोध होता है। परन्तु कर्मेन्द्रियों की संलिप्तता से अस्वीकार नहीं हो सकता है। कर्मेन्द्रियों के विषय विशेष हैं, जो मनुष्य के हित के मार्ग में कल्याण के पथ पर विशेष बाधक हैं। सुन्दर और सुहावनी वस्तुओं को तथा व्यक्तियों को देखने में सुखद अनुभूति होती है। वह चक्षु तथा उसके विषय रूप का राग है। कुरूप, विकृत वस्तुओं को देखने से जो खिन्नता होती है, वह चक्षु तथा उसके विषय रूप का द्वेष है। सुखद आनन्दप्रद भोजन अपनी प्रकृति के अनुसार ग्रहण करने पर जो आनन्द होता है वह रसनेन्द्रिय तथा उसके विषय रस का राग है। स्वादविहीन, अप्रिय भोजन को ग्रहण करने के पश्चात् मन में जो खिन्नता आ जाती है वह रसनेन्द्रिय तथा उसके विषय रस का द्वेष है। मधुर संगीत, मनोहारी गीत सुनने से कर्ण नामक इन्द्रिय में जो आनन्द तथा सुख की अनुभूति होती है वह कर्ण इन्द्रिय तथा उसके विषय शब्द का राग कहलाता है। कर्कश, असंगत, अस्पष्ट समझ से परे संगीत सुनने से जो भाव उत्पन्न होता है वह कर्ण इन्द्रिय का और उसके विषय शब्द का द्वेष है। नरम, सुखद वस्तु के स्पर्श से त्वचा को जो आनन्द की अनुभूति होती है वह त्वचा तथा उसके विषय स्पर्श का राग कहलाता है। कठोर तथा कठिन वस्तु को त्वचा से स्पर्श होने पर जो कष्ट होता है वह त्वचा और उसके विषय स्पर्श का द्वेष कहलाता है। इत्र आदि तथा पुष्पों की सुगन्ध से वातावरण में जो सुगन्ध फैल जाती है और उससे जो आनन्द प्राप्त होता है वह नासिका तथा उसके विषय गंध का राग कहा जाता है। दुर्गन्धयुक्त वस्तु के द्वारा जो नासिका को और उसके विषय को दुःख मिलता है उसे नासिका और उसके विषय गंध का द्वेष कहा जाता है। कर्मेन्द्रियों तथा उसमें होने वाले आनन्द की अनुकूलता और सुख राग कहलाता है तथा जो दुःख है वह द्वेष कहलाता है। श्री भगवान के द्वारा कहे गये **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ** शब्दों का यही अर्थ है।

जब आप शरीर की क्रियाओं का सूक्ष्मता से परीक्षण करेंगे तो इन्द्रिय और उनके विषयों के उलझाव में हमारा पर्याप्त समय और वर्षो की अवधि बीत जाती है। प्रत्येक मनुष्य सुस्वाद भोजन चाहता है। अच्छे स्थान पर रहना चाहता है। अच्छी परिस्थितियों में रहने का आकांक्षी होता है। सुख चाहता है। मधुर गीत सुनने की आकांक्षा करता है। सुन्दर वस्तुऐं देखना चाहता है। यह सबका सब हम सुख प्राप्ति के लिए करते हैं। इसमें हमें सुख की अनुभूति होती है। आनन्द का आभास होता है। इसी को आध्यात्मिक भाषा में राग कहा

जाता है। मनुष्य जीवनपर्यन्त इसी राग में फंसा रहता है। इस राग ने मनुष्य को अपने में समेट रखा है। यह अनुकूलता है और इसके विपरीत जब मनुष्य इन्द्रिय विषयों में प्रतिकूलता का आभास करता है तो वह द्वेष नामक दोष के अधीन हो जाता है। किसी कारणवश हमें सुस्वाद भोजन न मिले और योग्य परिस्थितियां न हो तो हमें दुःख होता है। गर्मी के महीने में कड़ी धूप में रहना पड़ता है। यह प्रतिकूलता है। जिससे हमें द्वेष भाव मिलता है। श्री भगवान ने इन्द्रिय और इन्द्रिय विषयों में जो राग द्वेष स्थित है ऐसा पूवार्ध श्लोक में कहा है। राग और द्वेष में हमें स्थित नहीं रहना चाहिए। इस तथ्य के प्रकटीकरण हेतु इस श्लोक का उत्तरार्ध भाग कहा है।

श्री भगवान कहते हैं **तर्योन वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ** अर्थात् इन्द्रिय और इन्द्रिय विषयों में जो राग द्वेष स्थित है उनके वश में साधक को नहीं होना चाहिए। क्योंकि ये कल्याण के मार्ग में शत्रु के समान हैं। साधन पथ अर्थात् भगवान की प्राप्ति का कार्य। इसमें मूलतः प्रमुखता से शत्रुवत् स्थिति राग द्वेष ही है। मनुष्य जब साधना आरम्भ करता है तो सांसारिकता में जो आनन्द है वह प्रमुख बाधा के रूप में उपस्थित रहता है। हम जिस सांसारिक आनन्द का अनुभव कर चुके है वह हमारी स्मृति में रहता है और हमसे विलग नहीं होता। हमें जो सुख प्राप्त हो चुका है। वह हम पुनः प्राप्त करना चाहते हैं। ये जो पुनः प्राप्त करने की इच्छा है यही हमारे श्रेय के मार्ग में बाधक है। हमारी स्मृति में जो आनन्द की सुखद अनुभूतियां भरी पड़ी हैं वे स्मृतियां पुनः पुनः हमारे मन में प्रकट हो जाती हैं तथा समाप्त नहीं होती है। ऐसी स्थिति में हम उनको पुनः प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसी को राग कहा जाता है। प्राप्त होने पर उनमें संलग्न हो जाते हैं। इसी को आसक्ति कहते हैं और यदि वे प्राप्त न हों तो जिस कारण प्राप्त नहीं हुए है उनसे द्वेष हो जाता है। प्रतिकूल भाव हो जाता है। यह राग और द्वेष दोनों स्थितियां साधना के मार्ग में बाधक रहती हैं। जब तक यह स्थितियां समाप्त नहीं रहती तब तक हमें तत्त्व की अनुभूति नहीं होती।

साधक को राग तथा द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। जब तक आनन्द की अनुभूति की स्मृति रहती है तब तक मनुष्य अपने श्रेय के पथ पर आरूढ़ नहीं हो सकता। उसे पुनः पुनः रागरूपी द्वेष श्रेय साधन से विलग करता रहता है। उसी प्रकार द्वेष की स्थिति है। जब तक अंतःकरण में द्वेष रहता है तब तक भी साधक अपने श्रेय का मार्ग खोज नहीं पाता। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है। इन्द्रिय और इन्द्रिय के

विषयों में जो राग द्वेष की स्थिति है उसका परित्याग पूरी तरह से साधक को करने का प्रयास करना चाहिए। यदि राग, द्वेष से हम मुक्त नहीं हो पाते हैं तो हमारी साधना फलीफूत नहीं होती क्योंकि हम उसके वशीभूत रहते हैं।

एक ग्वाला अपना जीवन यापन करने के लिए प्रातः जागता है गाय भैंसों की सेवा करता है उन्हें चारा पानी देकर उनका दूध दुहता है और उसे बेंचकर अपना तथा अपने परिवार का पालन करता है। श्रम करके गायों की सेवा करना उसका धर्म है। इसी को स्वधर्म कहते हैं। इस स्वधर्म में किसी अन्य व्यक्ति को लगा देगा तो गायों की सेवा ठीक रूप से नहीं होगी। वह जिस तन्मयता से अपने धर्म का पालन कर रहा था वह विनिष्ट हो जायेगा। इसी को भगवान कहा है। **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात** अर्थात् स्वयं का अपना धर्म कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय प्रदान करने वाला है।

एक श्रमिक प्रातः उठकर नित्य कर्म से निवृत होकर अपने श्रम के स्थान पर जाता है तथा वहां सायंकाल तक श्रम करता है श्रम के पश्चात् उसे जो पारिश्रमिक प्राप्त होता है उससे वह अपने परिवार का भरण पोषण करता है इसी में वह व उसका परिवार प्रसन्न रहता है। श्रमिक का यही स्वधर्म है जो उसे पालन करना चाहिए। उसके धर्म को अन्य कोई व्यापारी नेता धनाढ्य व्यक्ति पालन नहीं कर सकता और यदि पालन करना चाहेगा तो वह ठीक से नहीं कर सकेगा। श्रमिक का स्वधर्म उसके लिए उचित है। वह उसे कर भी रहा है। व्यापारी उसे नहीं कर पायेगा कोई धनाढ्य व्यक्ति भी नहीं कर पायेगा। क्योंकि उनके पास श्रमिक से अच्छी स्थिति है श्रमिक का स्वधर्म उसके द्वारा ही ठीक से पालन किया जा पाना संभव है।

एक राजनेता शासन की व्यवस्था, नीति बनाता है। उसके लिए उसे चिंतन करना पड़ता है। किस प्रकार से नीति तय करें ? सृजित करें और समस्त जनता हेतु कल्याणप्रद हो। उसे भी श्रम करना पड़ता है। शासन की भी नीति का निर्धारण करना पड़ता है। एक कम पढ़ा लिखा व्यक्ति उस कार्य को ठीक प्रकार से नहीं कर सकेगा। उसकी जैसी योग्यता नहीं होती। राजनेता का धर्म अच्छा प्रतीत होता है। क्योंकि उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा सरकार से प्राप्त होती है। उसका कार्य अच्छा लगता है। आरामपद प्रतीत होता है। कम पढ़ा लिखा व्यक्ति उसे देखकर ललचाता है कि हमें भी वैसा कार्य प्राप्त हो जाता तो कितना अच्छा होता। उसे राजनेता का धर्म अच्छा लगता है परन्तु उसका पालन एक

श्रमिक की क्षमता से बाहर है। प्रायः नेता की सुविधाऐं अच्छी हैं। इस कारण कम पढ़े लिखे व्यक्ति का उधर आकर्षण है। कभी–कभी सुविधाऐं देखकर उसका अपने श्रमरूपी धर्म के पालन से मन भागता है। वह राजनेता के धर्म का आचरण करने की इच्छा रखता है। परन्तु वैसा आचरण वह कर नहीं सकेगा। इसलिए श्री भगवान कहते हैं **स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः** अर्थात् स्वधर्म में निधन भी श्रेयस्कारी है। परधर्म भय देने वाला है।

राजनेता के धर्म में उत्कृष्टता तो है परन्तु वह कम पढ़े लिखे अयोग्य व्यक्तियों के लिए भयावह है। क्योंकि कम पढ़ा लिखा अयोग्य व्यक्ति उसका ठीक प्रकार से निर्वहन नहीं कर सकेगा। इस प्रकार हमारे लिए जो स्वधर्म है उसका हमें पालन भली प्रकार से करना चाहिए। पूर्व में तो वर्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की स्थापना हुई थी उसी के अनुसार उसके धर्म निर्धारित थे। शम, दम, तप, क्षमाभाव, मनवाणी की सरलता, ज्ञान विज्ञान, आस्तिक भाव, ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म थे। शौर्य, तेज, धैर्य, युद्ध में रण कौशल युद्ध से विरत न होना, आस्तिक भाव, क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म थे। खेती गायों का पालन, व्यापार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म थे और सभी वर्णो की सेवा करना शूद्र के स्वाभाविक कर्म थे। इसी को स्वधर्म भी कहा जा सकता है। परन्तु वस्तुतः हम जो भी कार्य कर रहे हैं। वह पूरी लगन तन्मयता, ईमानदारी से करे। इसी का नाम स्वधर्म है। जो दूसरे व्यक्ति कर रहे हैं, उसे उन्हें करने दें। हम दूसरों के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। मात्र अपने स्वधर्म का पालन करें और ऐसा करने से यदि हमारी मृत्यु भी हो जाती है तो श्री भगवान का आश्वासन है कि वह श्रेयस्कारी अर्थात् हमारे लिए कल्याणप्रद होगी। निश्चित ही हमारा परलोक संभेलगा।

अर्जुन युद्ध स्थल में खड़ा है युद्ध में प्रवृत्ति हो रही है। इस समय उसका धर्म युद्ध में अपने शौर्य का प्रदर्शन करके युद्ध जीत लेना है। यही उसका स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन में अर्थात् युद्ध में मृत्यु भी हो जाये तो वह भी कल्याणकारक है। ऐसा श्री भगवान का कथन है। दूसरे अध्याय में श्री भगवान ने कहा था **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्** अर्थात् हे अर्जुन ! यदि तुम मार दिये गये तो स्वर्ग प्राप्त कर लोगे और यदि युद्ध में जीत गये तो संसार के सम्राट बनकर राज्य का सुख भोगोगे। अर्थात् दोनों ओर से लाभ ही लाभ है। **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** का यही अर्थ है। स्वधर्म के पालन में यदि मनुष्य की मृत्यु हो जाये तो निश्चित ही उसका कल्याण होता है। यह श्री भगवान का

आश्वासन अर्जुन के लिए भी है और समग्र मानव जाति के लिए भी है।

सामान्य मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है। यदि मृत्यु हो गयी तो क्या होगा ? श्री भगवान ने इसके लिए मनुष्य को आश्वस्त किया है कि वह स्वधर्म का पालन करे और स्वधर्म का पालन करने से यदि मृत्यु हो जाती है तो वह श्रेयस्कारी होती है इससे हमारा कल्याण हो सकता है। इसलिए मनुष्य को अभीष्ट है कि वह अपने स्वधर्म का अर्थात् कर्तव्य कर्म का अनुपालन करे और अपने धर्म को भली प्रकार समझकर आचरण में लगा रहे। दूसरे का कर्तव्य कर्म यदि हमें अच्छा प्रतीत भी होता है तो भी उसका आचरण हमारे लिए ठीक नहीं है। क्योंकि वह दूसरे का कर्तव्य कर्म है। हमारा अपना नहीं है। हमारे अपने कर्तव्य कर्म के पालन से ही हमारा कल्याण हो सकता है। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

अर्जुन के मन में अनेक शंकायें हैं उसकी शंका स्वधर्म के आचरण के संदर्भ में थी उसका श्री भगवान ने निवारण किया। अब उसके मन में एक यह शंका प्रकट हो गयी कि मनुष्य न चाहकर भी पाप का आचरण करता है। वह क्यों करता है ? इसी तथ्य के प्रकटीकरण के लिए अग्रिम प्रश्न अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत किया गया।

मूल श्लोक संख्या–छत्तीस।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

पदच्छेद :–

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम्, पापम्, चरति, पूरुषः,

अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय, बलात्, इव, नियोजितः।।

भावार्थ :– मनुष्य की इच्छा नहीं है फिर भी वह बलात् के समान नियोजित होकर किससे प्रेरणा प्राप्त करके पाप का आचरण करता है ?

व्याख्या :– अर्जुन के मन में पाप को लेकर जो शंका है उसी के समाधान के लिए उसने श्री भगवान से उपरोक्त प्रश्न किया है। इस श्लोक में अर्जुन ने दो भाव प्रकट किये हैं। एक तो मनुष्य की इच्छा नहीं होती है फिर भी वह बलात् क्यों पाप में लग जाता है ? दूसरे किसकी प्रेरणा से ऐसा होता है। आपने सामान्य लोगों को यह कहते सुना होगा कि भगवान जो चाहता है वैसा कार्य हम करते हैं। उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। उसकी इच्छा न हो तो हम कोई कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। यह सब विचार सामान्य व्यक्ति के मन में रहते हैं। सामान्य व्यक्ति का यह मानना रहता है कि दुष्कर्मो की प्रेरणा श्री भगवान से मिलती है तथा सत्कर्मो की प्रेरणा भी श्री भगवान ही देता है। हम जो कुछ करते हैं उसमें भगवान की इच्छा रहती है। हम जो कुछ करते हैं या करवाते हैं वह उसकी प्रेरणा से ही होता है। यह विचार ठीक नहीं है। भगवान ने हमें बुद्धि प्रदान की है। बुद्धि की शक्ति को विवेक कहा जाता है। विवेक से हम यह पहचानते हैं कि क्या करना उचित है ? क्या करना उचित नहीं है ? कार्य के सम्पादन का दायित्व हमारा होता है।

हमारे समक्ष दो मार्ग हैं। हम वस्तुतः दोराहे पर खड़े हैं। एक मार्ग मुक्ति की ओर जाता है और दूसरा मार्ग हमारे जन्मों के पुनः पुनः ग्रहण करने की ओर जाता है। हमें अपने विवेक से एक मार्ग का चयन करना होता है। हम अपनी बुद्धि से मार्ग चुनते हैं। सांसारिक कार्यो का जो भी सम्पादन है हमें जन्म की पुनरावृत्ति की ओर ले जाता है और भगवान के अनन्य प्रेम का जो मार्ग है वह हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। भगवान में स्नेह करके भगवान की प्रियता का कार्य आरम्भ करना हमें कठिन और दुष्तर प्रतीत होता है पर उसका आत्यंतिक परिणाम सुखद होता है। सांसारिक भोगों का कार्य पहले तो सुखद प्रतीत होता है परन्तु उसका परिणाम दुःखद है। हमें अपनी बुद्धि से दोनों में से एक का चयन करना पड़ता है। क्योंकि श्री भगवान न तो किसी के शुभ कर्मो को और न ही किसी के अशुभ कर्मो को ग्रहण करते हैं तथा साथ ही न तो शुभ कर्मो के परिणाम को ग्रहण करते हैं और न ही अशुभ कर्मो के परिणाम को ग्रहण करते हैं। हम जो शुभ अशुभ करते हैं उसके परिणाम के हम सभी स्वयं भोक्ता है। परमात्मा उसका भोक्ता नही है। इसलिए हमें उस मार्ग का चयन करना चाहिए जो मुक्ति की ओर जाता है।

हम किसी भी दुष्कर्म के परिणाम को जानते हैं। दुष्कर्म करने के पूर्व ही हमें दुष्कर्म न करने के लिए कोई रोकता है। लोग उसे अर्न्तात्मा की आवाज कहते हैं। आप भी उसे

कोई संज्ञा दे सकते हैं। दुष्कर्मो के क्रियान्वयन के पूर्व हमें कोई मना करता है यह सत्य है क्योंकि हमारी बुद्धि उसे स्वीकार नहीं करती। अर्जुन का प्रश्न यहां यह है कि किसकी प्रेरणा से किसकी शक्ति से जबरदस्ती मनुष्य पाप का आचरण करता है ? वह चाहता नहीं है। परन्तु किसकी प्रेरणा रहती है ? दुष्कर्मो के सम्पादन में पाप के आचरण में यह अर्जुन का प्रश्न है। यहां पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि पापाचरण के सम्पादन में पापाचरण के सम्पादन की प्रेरणा में श्री भगवान की कोई भूमिका नहीं है। श्री भगवान द्वारा कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं होती है। किसकी प्रेरणा होती है ? और कैसे मनुष्य पाप का आचरण करता है ? इसका उत्तर श्री भगवान अगले श्लोकों में प्रकट करते हैं।

परमार्थ के मार्ग पर साधन पथ पर चलने वाले प्रत्येक साधक को इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि उससे कोई निकृष्ट कार्य न हो। यदि वह एक ही तथ्य विचार ले कि हमसे किसी का अहित न हो तो भी वह पर्याप्त सीमा तक दुष्कर्मो से बचाव कर सकता है। दुष्कर्मो का सम्पादन स्वार्थ को ध्यान में रखकर दूसरों को कष्ट देने के लिए किये जाते हैं। हमें सुख मिल जाये, दूसरों को कितना भी दुःख हो इसकी हम परवाह नहीं करते तो पापाचरण आरम्भ हो जाता है। अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों को गंभीर से गंभीर कष्ट देने की इच्छा करते हैं इस सबसे बड़ी भूल हमारी है।

श्री भगवान ने अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में अग्रिम तीन श्लोक कहे हैं जो ये स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य पाप का आचरण क्यों करता है ? किससे प्रेरित हुआ करता है। इस कारण अग्रिम तीन श्लोक महत्वपूर्ण हैं, जो श्री भगवान द्वारा स्पष्ट रूप से कहे गये हैं।

मूल श्लोक संख्या–सैतीस, अड़तीस व उनतालिस।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।

पदच्छेद :–

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजोगुणसमुदभवः,

महाशनः, महापाप्मा, विद्धि, एनम्, इह वैरिणम्।।

धूमेन, आव्रियते, वह्निः, यथा, आदर्शः, मलेन च,

यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः, तथा, तेन, इदम्, आवृतम्।।

आवृतम्, ज्ञानम्, एतेन, ज्ञानिनः, नित्यवैरिणा,

कामरूपेण, कौन्तेय, दुष्पूरेण, अनलेन, च।।

भावार्थ :– यह कामना तथा क्रोध जिसका उद्भव रजोगुण से होता है। यह महाअशन तथा महापापी हैं। इसको ही सब कुछ समझ। जिस प्रकार धुऐं से अग्नि आवृत हो जाती है झिल्ली से गर्भ ढका रहता है। ऐसे उक्त कामना तथा क्रोध से ज्ञान आवृत हो जाता है। अग्नि के समान अतृप्त रहने वाला ज्ञानियों के कामना रूप नित्य शत्रु द्वारा ज्ञान आवृत है।

व्याख्या :– श्री भगवान ने अर्जुन के द्वारा पूछे गए पूर्व प्रश्न के उत्तर में उपरोक्त तीन श्लोक कहे है और कहा **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः** यह कामना और क्रोध जिसकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है। त्रिगुणों में एक रजोगुण है उससे कामना और क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। रजोगुण के बढ़ जाने पर क्या परिणाम होता है ? इस तथ्य को श्री भगवान ने 14वें अध्याय में निरूपित किया है–

लोभः प्रवृतिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरर्षभ।। 14/12।।

मनुष्य शरीर में जब रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो लोभ, प्रवृत्ति, कर्मो का आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा ये वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। रजोगुण के बढ़ने पर जो पांच वृत्तियां बढ़ जाती है उनका विवरण निम्न प्रकार है–

1– लोभ :– सांसारिक वस्तुऐं तथा स्थितियां जो प्राप्त हैं उसकी वृद्धि की कामना तथा जो नहीं मिला हुआ है उसकी प्राप्ति का विचार करना और उसकी प्राप्ति हेतु चेष्टा करने के भाव का नाम लोभ है। यह दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। लोभ को कामना का ही एक स्वरूप मानना चाहिए।

2– प्रवृत्ति :– सांसारिक वस्तुऐं मिलती रहें और स्थितियां प्राप्त होती रहें इसके प्रयत्न को प्रवत्ति कहा जाता है।

3– कर्मो का आरम्भ :– कामना की पूर्ति हेतु कर्म के सम्पादन का संकल्प करना अथवा उसको क्रियान्वित करने की चेष्टा करना कर्मो के आरम्भ के रूप में समझना चाहिए। अप्राप्त की प्राप्ति हेतु कर्मो का आरम्भ किया जाता है।

4– अशान्ति :– कामना की पूर्ति हेतु जो प्रयास होता है। उस पूर्ति में बाधा पड़ने पर अंतःकरण में जो हलचल होती है जिससे मन उद्विग्न हो जाता है। इसी को अशान्ति कहते हैं।

5– स्पृहा :– सांसारिक सुख हेतु जो वस्तुऐं हमें उपलब्ध हैं और जो हमें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। उनकी कमी का अनुभव मनुष्य को होता है। यह एक आभास है। सांसारिक वस्तुओं की कमी के आभास का नाम स्पृहा है। यदि सांसारिक वस्तुओं की कमी का आभास न हो तो मनुष्य अनेक प्रकार की सांसारिक चेष्टाऐं नहीं करेगा।

मनुष्य का जीवन कामना पर ही आधारित है। कामनाऐं असीमित और असंख्य हैं प्रत्येक व्यक्ति कामना करता है। बाल्यावस्था से ही वह कामनाऐं करना आरम्भ करता है। बाल्यावस्था में जो कामनाऐं होती हैं वह बुद्धिपरक नहीं होती हैं। बालक ललचायी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखता है और उसकी प्राप्ति की कामना करने लगता है। उसमें यह ज्ञान नहीं होता है कि अमुक वस्तु हमारे लिये ठीक हैं उपयुक्त हैं अथवा नहीं है। वह वस्तु की गुणवत्ता पर कामना नहीं करता है। वह प्रत्येक वस्तु को पाने की कामना उसे देखकर करता है। एक बालक को मेले में या बाजार में आप ले जाये तो वह जो वस्तु देखेगा जो

खिलौना देखेगा प्रत्येक की कामना करने लगेगा। यह भी मिल जायें वह भी मिल जाये सब कुछ मिल जाए। क्योंकि बालक के पास बुद्धि का अभाव रहता है। इस कारण वह ऐसी चेष्टा कर रहा है। वह सब कुछ चाहता है। बालक का संरक्षक उसे जो कुछ दिला पाता है वह उसे दिलाता है। इस प्रकार कामना बाल्यावस्था से ही मनुष्य के साथ रहती है।

आज का मानव भी बालकों की तरह से चेष्टा करने लगा है। वह जो अच्छी वस्तु देखता है उसकी प्राप्ति की चेष्टा करता है। वह आकर्षक वस्तुओं को देखकर उसको पाना चाहता है उसका उपभोग करना चाहता है। उसका प्रत्येक सांसारिक भोग के प्रति आकर्षण रहता है। जिस स्थिति में वह है उस स्थिति से अच्छी स्थिति में रहने का वह आकांक्षी होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर को सुधारने में प्रयत्नशील होता है और अपने स्तर को सुधारने का प्रयास कोई अनैतिक कार्य नहीं है। जब मनुष्य अपने स्तर को सुधारने के प्रयास में अनैतिक कार्य करने लगता है तो उसकी कामनाऐं विकृत हो जाती है निकृष्ट हो जाती हैं। इससे पाप का आचरण आरम्भ होता है। पाप की ओर उद्धत मनुष्य को अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए कुछ भी करना पड़े वह करता है। वह यह विचार नहीं करता कि हम जो कर रहे हैं वह खेत में बीज डालने के समान कर्म है, जो कल प्रस्फुटित होगा तथा हमारे कष्ट का कारण बन जायेगा। कामनाऐं करना असामाजिक कर्म नहीं है। कामनाओं की असंख्य धाराओं में बहकर दूसरों को कष्ट पहुंचाकर दूसरों के अधिकार का हनन करके जो कार्य होता है, वह पापाचरण का हेतु बन जाता है।

श्री भगवान ने सर्वप्रथम **काम एष** कहकर पाप को मूल कामनाओं के हेतु में विशेषता प्रदान की है। मनुष्य जब बालकों की तरह से सांसारिक वस्तुओं की ओर आकृष्ट रहता है तथा युवावस्था और उससे आगे वृद्धावस्था में उसकी भूख बढ़ जाती है। बाल्यावस्था की कामनाऐं सीमित हैं। बालक अपने मन बहलाव के लिए मात्र खिलौनों की मांग करता है। उसे जो दीखता है वह इसकी चाहना करता है। खिलौनों में ही उसका मन बहल जाता है। अनेक प्रकार के खिलौने उसके मन बहलाव का कारण बन जाते हैं, परन्तु जैसे जैसे युवावस्था की ओर मनुष्य बढ़ता है उसकी चेतना, संवेदनशीलता, सांसारिकता में वृद्धि होती जाती है। वह संसार की तमाम वस्तुओं से मोहित हो जाता है और उन्हें पाना चाहता है तथा उसका उपभोग करना चाहता है। श्री भगवान की त्रिगुणीमयी माया बड़ी प्रबल है। उसने नाना प्रकार की वस्तुऐं बना करके मनुष्य का मन मोह लिया है। मनुष्य ने अपने विवेक से भोगों के प्रकारों तथा भोग भोगने के प्रकारों में असीमित वृद्धि कर ली है। यह

वृद्धि इतनी अधिक हो गयी है कि आज का मनुष्य उसमें डूब गया है। कामनाऐं समुद्रवत् होकर उसके समक्ष खड़ी हैं।

कामनाओं के हजारों लाखों रूप हैं। हम आपके समक्ष रसना नाम की इन्द्रिय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इससे आप अन्य भोगों के प्रारूप पर भी सहजता से विचार कर सकेंगे। क्योंकि भगवद्गीता की व्याख्या की एक मर्यादा है और मर्यादा में रहकर ही उसकी व्याख्या करनी चाहिए। भगवान के द्वारा कहे गए शब्दों की पूर्ण व्याख्या संभव नहीं है, परन्तु वह पूर्ण मर्यादित होनी चाहिए। ऐसा हमारा विचार है। वर्तमान संसार में असंख्य प्रकार के व्यंजन हैं। सम्पूर्ण संसार में यदि हम व्यंजनों की गिनती करें तो यह असंभव तथ्य है। शाकाहारी और मांसाहारी व्यंजनों का एक असंख्य प्रकार हमारे समक्ष प्रस्तुत है। आज का मानव इन्हीं नाना प्रकार के व्यंजनों के स्वाद में खोया हुआ है। ये स्वादरूपी कामना में पूरी तरह से डूबा हुआ है। शाकाहार में, मांसाहार में वह रस खोजता है। विभिन्न प्रकार के व्यंजन खा–खा कर उसकी व्याख्या करता है। अमुक व्यंजन बहुत सुन्दर है। स्वादिष्ट है उसकी कोई तुलना नहीं है। अच्छे व्यंजनों को पहचान कर वह उन्हें बार–बार ग्रहण करना चाहता है। यह रसना नामक इन्द्रिय के विषय की संक्षिप्त व्याख्या है। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के विषय के सम्बन्ध में हमें विचार करना चाहिए। अनेक प्रकार की कामनाऐं इन्हीं इन्द्रिय विषयों में समाहित रहती है जो मनुष्य को जीवन पर्यन्त डुबाये रखती हैं।

श्री भगवान के ये शब्द **काम एष** की प्रबलता आप समझ गए होंगे कि कामनाऐं ही मनुष्य के पाप के आचरण का प्रमुख कारण हैं और यह असंख्य प्रकार की हैं। इस प्रकार पाप का आचरण अंसख्य प्रकार का हो जाता है। पाप के आचरण में भगवान ने क्रोध को दूसरा कारण स्वीकार किया है। क्रोध की उत्पत्ति के विषय में श्री भगवान ने दूसरे अध्याय के 62वें श्लोक में प्रसंगवश व्याख्या प्रस्तुत की थी और क्रोध को विषयों के ध्यान का कारण माना था। श्री भगवान द्वारा क्रोध के सम्बन्ध में दूसरे अध्याय में प्रस्तुत किये गये प्रसंग का यथावत् अवलोकन कीजिए–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्स्तेषूपजायते।

संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63।।

विषयों में ध्यान करने वाले पुरुष की विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना की पूर्ति न होने पर या कामना की पूर्ति में अवरोध आने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध उत्पन्न होने पर सम्मोह हो जाता है। सम्मोह से मनुष्य की स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृति के भ्रमित होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है।

श्री भगवान ने पापाचरण के कारण में दूसरा हेतु क्रोध माना है। **क्रोध एष** कहकर उस ओर संकेत किया है। इस तथ्य को भगवान ने दूसरे अध्याय में ही स्पष्ट कर दिया था। **कामात्क्रोधोऽभिजायते** कहकर क्रोध की उत्पत्ति का कारण बताया था। कामना की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है तथा क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है। श्री भगवान ने **क्रोध एष** ये क्रोध पाप के मूल में है ऐसा कहकर क्रोध को पापाचरण का हेतु कहा है तथा का **कामात्क्रोधोऽभिजायते** कहकर स्पष्ट किया है कि कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। हमने जो कामना की उसमें कोई बाधा आ गयी तो क्रोध का उद्भव हो जाता है। कामना करने वाला व्यक्ति उसकी पूर्ति का प्रयास करता है। यह मनसा वाचा कर्मणा तीनों प्रकार से होती है। हमने अपने मन में किसी कामना का विचार किया और हमारे सम्मुख इस कामना के प्रतिकूल परिस्थितियां प्रतीत हुई तो हमें अनायास ही क्रोध का आभास होता है। ऐसा मानसिक क्रोध स्पष्ट होता है। प्रतीत होता है। कभी कभी हम मानसिक कामनाओं की पूर्ति में बाधा का विचार कर मन ही मन बहुत क्रोध करते हैं। मन में अनायास ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध का हमने अनुभव किया होगा। मानसिक क्रोध के उपरान्त हम वाचिक क्रोध को स्पष्ट रूप से देखते हैं। हम जब अपनी किसी कामना को लेकर अपने भाव प्रकट करते हैं तो कोई उसके प्रतिकूल भाव प्रकट कर देता है तब हमें क्रोध आ जाता है। कामना की पूर्ति में यह दूसरी बाधा है। कामना की पूर्ति तो दूर है और न ही कामना का भोग स्पष्ट हो रहा है। परन्तु मानसिक रूप से ही कामना उत्पन्न हो जाती है तथा क्रोध भी उत्पन्न हो रहा है तथा बातों में ही कामना पूर्ति के प्रति आशंका उत्पन्न हो रही है। यह वाचिक क्रोध है। कर्मणा क्रोध की उत्पत्ति के बारे में हम सहज रूप से जानते हैं। जब कोई हमारी

कामनाओं की पूर्ति में बाधा डालता है और बाधा को क्रियान्वित करने में कोई कठिनाई होती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। श्री भगवान ने कामना और क्रोध को पाप के आचरण का हेतु कहा है। यह दोनों ही रजोगुण से उद्भवित हैं। कामना और क्रोध क्रमिक हैं। पहले कामना होती है तदोपरान्त कामना में बाधा से क्रोध की उत्पत्ति होती है और मनुष्य पाप के आचरण हेतु उद्धत हो जाता है। पापाचरण की ओर उन्मुख होता है। इस कारण यदि हमें पाप के आचरण से बचना है तो कामना ओर क्रोध का त्याग करना ही पड़ेगा। कामनाऐं करे अपने जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं की और उन्हें सीमित कर दें। किसी कामना में बाधा आने पर क्रोध न करें तथा प्रथमता जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं के संग्रह में उनके उपभोग में बाधाऐं कम आती हैं। हमें संयमित भोजन करना है। सीमीत वस्तु और निवास चाहिए तो इस प्रकार की कामनाओं में बाधाऐं कम आती है। वह तो भगवान अपने भक्त को स्वतः ही उपलब्ध करा देते हैं। इस कारण कामनाऐं सीमिति रहेंगी तो सीमित कामनाओं में बाधा कम आती है और इस कारण क्रोध भी उत्पन्न होता है।

श्री भगवान ने 47वें श्लोक के उत्तरार्ध में कहा **महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्** कामना तथा क्रोध महाअशन तथा महापापी हैं। इस कारण इनको ही इस सम्बन्ध में पापी समझ। हम सभी ने बाल्यावस्था से आज तक कितना भोजन कर लिया उसकी कोई सीमा नहीं है पर क्षुधा शान्त नहीं हुई। हम नित्य प्रति भोजन करते हैं और वह नित्य प्रति भस्म हो जाता है। इस छोटे से पेट में एक बड़ी मात्रा में अनाज समा गया। पर वह छोटा सा पेट भर नहीं पाया और जीवनपर्यन्त भर भी नहीं पायेगा। सदैव खाली रहता है। प्रातः उठकर हम शौच आदि से निवृत्त हो जाते हैं तो स्वतः स्वाभाविक रूप से कुछ खाने की इच्छा बलवती होती है और रात तक समयानुसार रहती है समाप्त नहीं होती है। बहुत कुछ खाने के पश्चात् इच्छा का बना रहना महाअशन कहलाता है। इस शब्द को श्री भगवान ने कामना के लिए प्रयुक्त किया है। कामना की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। कामनाऐं कभी समाप्त नहीं होती। एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी कामना का प्रादुर्भाव होता रहता है। असीमित तथा अनेक कामनाओं की पूर्ति कभी नहीं हो पाती। जीवनपर्यन्त मृत्युकाल तक कामनाओं की श्रृंखला चलती रहती है। कामनाओं की श्रृंखला का समाप्त न होना ही महाअशन है। जिस प्रकार से भोजन करने की क्रिया समाप्त नहीं होती क्योंकि क्षुधा पूर्णरूपेण से कभी नहीं मिटती वह प्रकट होती रहती है।

कभी मीठा खाने की इच्छा करती है कभी खट्टा और नमकीन खाने की इच्छा करती है। और हम पेट की क्षुधा को समाप्त करने का प्रयास करते हैं परन्तु वह समाप्त नहीं होती। यही महाअशन है। उसका समाप्त होना असंभव है। भूख समाप्त नहीं हो सकती। पेट भर नहीं सकता। इसी प्रकार कामनाऐं भी समाप्त नहीं हो सकती। नित नई कामनाओं का जन्म स्वतः होता रहता है। उसका समाधान नहीं होता है। इस कारण कामनाऐं भी महाअशन है। क्षुधा की तरह से कभी समाप्त नहीं होती। भगवान ने कामनाओं के लिए महाअशन शब्द प्रयुक्त किया है और वह शब्द विशिष्ट भाव लिये हुए है।

महाअशन के साथ श्री भगवान ने कामना ओर क्रोध को महापापी कहा है। पापी शब्द के साथ महा लगाकर पापी को और विशिष्ट कर दिया है। मनुष्य जब दुष्कर्म और आसामाजिक कर्म करने लगता है तो उसे पापी कहा जाता है। दुष्कर्मी मनुष्य को उचित अनुचित का सामाजिक आसामाजिक उंच नीच का ज्ञान नहीं रह जाता है उसके मन में जो आता है वह करता है समाज में इससे बड़ी विकृति आ जाती है। दुष्कर्मी मनुष्यों की सर्वत्र आलोचना होती है यह दुष्कर्म होता क्यों है ? इसके पीछे विकृत कामनाऐं ही होती हैं। एक दुष्कर्मी व्यक्ति धन के लिए किसी की हत्या कर सकता है किसी को लूट सकता है नाना प्रकार के दुष्कर्म कर सकता है। परन्तु गहनता से विचार करें तो कामना ही उसके मूल में है। इस कारण श्री भगवान कहते हैं कि कामना महापापी है। एक दुष्कर्मी व्यक्ति किसी की हत्या करना चाह रहा हो और उस पर कोई अन्य उसमें अवरोध बने तो प्रबल क्रोध का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार अवरोध करने वाले व्यक्ति की ही हत्या हो सकती है। इसका कारण है कि वह हत्या में बाधक बना हुआ है। इसीलिए भगवान क्रोध को ही महापापी कहते हैं। क्रोध के कारण बहुत से काम बिगड़ जाते हैं। हम सभी ने इसका आभास किया होगा। क्रोध ही पाप का मूल है ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। इस कारण भगवान इसे महापापी कहते हैं।

मनुष्य स्वरूपता ज्ञानी है। इसी प्रकार अग्नि स्वरूपता प्रकाशवान है। जब वह प्रज्ज्वलित होती है तो उसमें चमक होती है। अर्थात् वह चमकती है। इससे ही प्रकाश प्रतीत होता है। वैसे ही मनुष्य स्वरूपता ज्ञानी है। बालक जब उत्पन्न होकर शिशु अवस्था को प्राप्त करता है तब उसमें तेज रहता है। वह स्वतः ही प्रतीत होता है क्योंकि उसमें सांसारिकता के अज्ञान को नहीं चखा है। वह अज्ञान से आवृत नहीं हुआ है। उसी प्रकार अग्नि जब तक प्रकाशित रहती है जब तक उसे धुंआ नहीं घेरता है। जब अग्नि को धुंआ

घेर लेता है तो उसका प्रज्ज्वलित रूप घट जाता है। धुंआं अग्नि के प्रज्ज्वलित स्वरूप की प्रतीती में बाधक है। यह हम सब जानते हैं। श्री भगवान इसीलिए कहते हैं **धूमेनाव्रियते वहिनः** अर्थात् जिस प्रकार धुऐं से अग्नि आवृत हो जाती है। भगवान के यह शब्द अग्नि की चमक को मध्यम करने के कारण को स्पष्ट करते हैं। अग्नि की चमक में धुआ बाधक है ऐसा भाव है।

शीशे में अर्थात् दर्पण में चमक होती है। शीशे में दो गुण हैं। पारदर्शिता तथा प्रतिविम्बता का यह दोनों गुण जब नष्ट हो जाते हैं यदि शीशे पर धूल आ जाये। धूल आने पर शीशा अपना पारदर्शी होने का गुण खो देता है तथा उसमें स्पष्ट प्रतिविम्ब भी देखा जा पाना संभव नहीं होता है। यद्यपि दर्पण कहकर श्री भगवान ने प्रतिविम्ब देखने वाले गुण की ओर संकेत किया है। दर्पण पर जितनी अधिक धूल होगी उतना ही प्रतिविम्ब अस्पष्ट दिखेगा। अधिक धूल जम जाने पर प्रतिविम्ब बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है। उसी प्रकार जितनी अधिक कामनाऐं हो जायेंगी तो ज्ञान उतना अधिक आवृत हो जायेगा। कम कामनाऐं होने पर ज्ञान कम प्रभावित होगा। कामनाओं की अंसख्य तथा, कामना की असीमितता के कारण ज्ञान पूरी तरह से ढक जाता है। यह स्थिति स्पष्ट करने हेतु श्री भगवान ने **यथादर्शो मलेन च** कहकर भगवान ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार दर्पण से मल से आवृत हो जाता है तो उसकी चमक गायब हो जाती है और उसमे प्रतिविम्ब की प्रतीती का गुण भी समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार कामना से ज्ञान आवृत हो जाता है अर्थात् ढक जाता है।

श्री भगवान ने अंतिम उदाहरण देकर यह कहा **यथोल्बेनावृतो** अर्थात् जिस प्रकार झिल्ली में गर्भ दबा रहता है। श्री भगवान ने इसे भी कामना को स्पष्ट करने के लिए वर्णित किया है। श्रीमदभागवत् में गर्भ की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक प्रसंग में यह प्रकरण वर्णित किया गया है। गर्भ के सप्तम माह के प्रारम्भ हो जाने पर गर्भ में बोध की उपलब्धि हो जाती है। गर्भ उदर में उपस्थित विष्ठा के कीड़ों के समान गति करता है। सात प्रकार की धातुओं से बद्ध प्राणी हाथ जोड़ कर श्री भगवान से कातर भाव से प्रार्थना करता है। जीव समर्थ होकर भी इस स्थिति में असमर्थ हो जाता है। यह असमर्थता जीव को गर्भ की झिल्ली के कारण आवरण के हेतु से होती है। यहां पर जीव जैसे विशिष्ट तत्त्व को आवरित कर दिया जाता है उसे उसके विशिष्ट स्वरूप से आवृत कर दिया गया है। धूल धुंआ तथा आवरण यह कामना के स्वरूप में व्याख्यापित है। अग्नि दर्पण तथा गर्भ

को वास्तविक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

मनुष्य में सामान्यतः ज्ञान रहता है। सामान्य व्यक्ति में कम रहता है तथा जो ज्ञानार्जन का प्रयास करके साधक हो जाते हैं उनमे ज्ञान विशेष हो जाता है। एक सामान्य व्यक्ति तथा ज्ञानी साधक भी कामनाओं के कारण ही अपने ज्ञान को आवृत कर लेता है उसका ज्ञान ढक जाता है। आपने आज के परिवेश में ज्ञानीजनों और संतों पर ऐसे आरोप लगते देखे होंगे जो अत्यंत आसामाजिक हैं। आरोप चाहें सत्य हों अथवा नहीं इस प्रश्न की व्याख्या नहीं है। पर आरोपों के मूल में अधिकांशतः कामनाऐं ही होती हैं, जो साधक हैं वे अपनी कामनाओं को नियंत्रित कर लेते हैं तथा सिद्धि की ओर बढ़ जाते हैं। विद्वान या साधक जब कामनाओं के भंवर जाल में फंसता है तो उसका ज्ञान स्वतः विलुप्त होने लगता है क्योंकि उसकी मन बुद्धि कामनाओं से आवृत हो जाती है। ज्ञान कामनाओं का शत्रु है। कामनाऐं ज्ञान की शत्रु है। यह नियम है। सिद्धान्त है। इस कारण भगवान ने कहा कि कामनाओं से ज्ञान ढक जाता है।

अग्नि का प्रमुख कार्य है वस्तुओं को भस्म कर देना। प्रज्ज्वलित अग्नि में जो कुछ भी डाल दिया जाता है वह भस्म हो जाता है। आप ने होलिका दहन में देखा होगा कि जितनी लकड़िया तथा जलने हेतु वनस्पति का विशाल भंडार हम एकत्र करते हैं वह कुछ समय में ही जलकर भस्म हो जाता है। बड़े जंगल अग्नि की चपेट में आते हैं तो भस्म हो जाते हैं। राख अवशेष रहती है। यज्ञ की अग्नि में हवि, घृत आदि भस्म हो जाता है। क्योंकि अग्नि में सब कुछ भस्म करने की शक्ति है। लंका दहन का प्रकरण त्रेतायुग में घटित हुआ और उसमें सोने की लंका भस्म हो गयी। अग्नि कभी भी भस्म करने वाले कार्य से अघाती नहीं है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **दुष्पूरेणानलेन च** अर्थात् कभी अग्नि तृप्त नहीं होती। इसी प्रकार कामना की स्थिति है। वह कभी तृप्त नहीं होती। शास्त्रों में आता है कि त्रैलोकी का राज्य पाकर भी मनुष्य तृप्त नहीं होता। यह कथन स्पष्ट करता है कि कामनाऐं अग्नि के समान हैं जो कभी तृप्त नहीं हो सकती हैं। कामनाओं के करने से उनकी पूर्ति की व्यवस्था से उन्हें तृप्त किया जा पाना संभव नहीं है। कामनाओं को जितना तृप्त करने का प्रयास करोगे वह उतनी ही अधिक प्रज्ज्वलित होंगी। जिस प्रकार ईंधन मिलने पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है और उग्र रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार कामनाओं के साधन मिल जाने पर कामनाऐं तृप्त नहीं होती और वे विकट रूप ले लेती

है। अग्नि के समान कामनाओं की पूर्ति से कामनाओं को तृप्त किया जा पाना संभव नहीं है। जिस प्रकार अग्नि को यदि समाप्त करना है तो उसमें ईंधन डालना बंद करना पड़ता है उसी प्रकार यदि कामनाओं को तृप्त करना है तो कामना को करने का कार्य समाप्त करना पड़ेगा। कामनाऐं समाप्त करनी होगी। ईंधन न पाये हुए अग्नि की तरह से कामनाऐं समाप्त हो जायेंगी।

आपने यदि बड़े बड़े धन पतियों से वार्ता की होगी तो उन्हें यह कहते हुए पाया होगा कि पैसे की बहुत कमी है। धन नहीं है। बहुत कुछ होकर भी वह यह कहते हैं कि धन नहीं है। यह कामना रूपी दोष है। जिस प्रकार अग्नि ईंधन से नहीं अघाती है उसी प्रकार धनी धन से नहीं अघाता है। यह कामना का प्रतिरूप है और धन प्राप्त करना है। जितना है उसमें संतुष्टि का न होना कामना है। हम जिस स्थिति में रह रहे हैं उससे बहुत उच्च स्थिति की कामना और उसके लिए आसामाजिक कार्य की कामना का विकृत रूप है। भगवान ने कामनाओं के त्याग को बहुत विशिष्ट कहा है तथा कामनाओं का सर्वथा त्याग मनुष्य को सिद्ध बना देता है, स्थिरप्रज्ञ बना देता है और परम शान्ति प्रदान करता है–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहकारः स शान्तिमधिच्छति।। 2/71।।

समस्त कामनाओं का परित्याग करके साधक जब स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित व्यवहार करता है तब वह साधक शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

समस्त कामनाओं के त्याग से तीन स्थितियां आ जाती है। 1– स्पृहा विहीनता की 2– ममता विहीनता की तथा 3– अहंकार से निवृत्ति की। इसका अभिप्राय यह है कि कामनाओं का परित्याग साधक को सिद्धि की ओर ले जाता है। जब कामना अवशेष नहीं रहती तो किसी वस्तु को प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। ऐसे साधक को कुछ पाना अवशेष नहीं रह जाता। जब कामना नहीं है संसार से, समाज से, परिवार से तो ममता का स्वतः नाश हो जाता है। कामनाओं के त्याग से संचय की गयी वस्तु सामर्थ्य, ऐश्वर्य, धन, पद के प्रति अहंकार नहीं रहता वह स्वतः ही समाप्त हो जाता है। अब आप कामनाओं के त्याग के महत्व को समझ गये होंगे। इसके त्याग से परिणाम को स्पष्ट करते

हुए श्री भगवान कह रहे हैं कि स्पृहाविहीन हो जाने पर, ममतारहित हो जाने पर, अहंकार से निवृत्त हो जाने पर शान्ति प्राप्त हो जाती है। जिसकी हमको खोज है कि शान्ति कहा मिलेगी ? कैसे मिलेगी ? इसके मूल में कामनाओं के त्याग का तत्त्व है।

कामना को भगवान ने नित्य बैरी कहा है। कामना नित्यबैरी है। नित्य शत्रु है। **नित्यवैरिणा** नित्यबैरी कामनाओं से ज्ञान ढक जाता है। मनुष्य जब कामनाओं के वशीभूत हो जाता है तो वह प्रत्येक समय कामनाओं की पूर्ति की चेष्टा में ही लगा रहता है। उसका सम्पूर्ण ज्ञान कामनाओं की पूर्ति में लग जाता है। एक कामना की पूर्ति के पश्चात् दूसरी कामना की पूर्ति में अपने ज्ञान का अर्पण करता है। दूसरी कामना की पूर्ति के पश्चात् तीसरी कामना की पूर्ति में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य क्रमिक कार्य करता है। ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति कामना की पूर्ति में लग जाती है। उसकी बुद्धि की शक्ति कामना से आवृत हो जाती है। यह नित्य रहता है। कामना में तृप्तता न आने से मनुष्य का सद्विवेक नष्ट हुआ करता है और ज्ञान आवृत हो जाता है। ऐसा श्री भगवान का कथन है।

रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम तथा उसकी पूर्ति में बाधा से उत्पन्न होने वाला क्रोध ही कभी न अघाने वाला महापापी है। जिस प्रकार धुऐं से अग्नि की चमक आवृत हो जाती है। धूल आदि मल से शीशा आवृत हो जाता है तथा झिल्ली से जीव का अस्तित्त्व आवृत रहता है उसी प्रकार कामना और क्रोध से ज्ञान आवृत हो जाता है। अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती उसी प्रकार कामना भी कभी भी तृप्त नहीं होती। वह ज्ञान की नित्य ही शत्रु है तथा ज्ञान को आवृत करने का मुख्य कारण है। वे कामना और क्रोध रहते कहां है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसके निराकरण हेतु श्री भगवान अग्रिम श्लोक कह रहे हैं जो विशिष्ट हैं।

मूल श्लोक संख्या– चालीस व इकतालिस।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।

पदच्छेद :–

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धि, अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते,

एतैः, विमोहयति, एषः, ज्ञानम्, आवृत्य, देहिनम्।।

तस्मात्, त्वम्, इन्द्रियाणि,आदौ, नियम्य, भरतर्षभ,

पाप्मानम्, प्रजहि, हि, एनम्, ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।

भावार्थ :– इस कामना का निवास मन बुद्धि तथा तथा इन्द्रियां कहलाती हैं। कामना मन बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान को आवृत करके शरीरधारी को मोहित करती हैं। इस कारण हे अर्जुन! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियों को संयमित करके ज्ञान तथा विज्ञान के विनाशक महान पापी कामना को निश्चित ही समाप्त कर दो।

व्याख्या :– हम जब किसी वस्तु को देखते हैं उसके बारे में सुनते हैं तो उस वस्तु के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बिना देखे तथा सुने हुए किसी वस्तु के बारे में जिज्ञासा नहीं होती है। हम वैसे तो बहुत सी वस्तुऐं देखते हैं तथा बहुत के बारे में सुनते हैं पर प्रत्येक वस्तु के बारे में, व्यक्ति के बारे में हमें जिज्ञासा नहीं होती है। मन जानता है कि हमें किस वस्तु के बारे में जिज्ञासा करनी है तथा बुद्धि यह जानती है कि मन ने जिस वस्तु को ग्रहण किया है उसके बारे में जिज्ञासा करने की स्वीकृति प्रदान की जाए अथवा न की जाए। यह सब कार्य स्वतः ही संचालित हुआ करता है। जैसे हमारी आंख से कोई लुभावनी वस्तु देखी जाती है तो मन से उसे प्राप्त करने की हम इच्छा करते हैं। इसी बीच बुद्धि ने यह कहा कि ये वस्तु हमारे लिए ठीक नहीं है। ठीक न ठहराने का कार्य बुद्धि का है। उसने यदि उस वस्तु को ठीक नहीं ठहराया है तो इन्द्रियां और मन की सामर्थ्य नहीं है कि इसे स्वीकृति प्रदान करें। बुद्धि ही विनिश्चय करती है तब उस लुभावनी वस्तु की प्राप्ति का विचार बनता है। बुद्धि द्वारा अस्वीकृत की गयी लुभावनी वस्तु को इन्द्रिय तथा मन स्वीकार करने हेतु प्रयास करते रहते हैं। इस तथ्य को एक उदाहरण के माध्यम से हम समझाना चाहते हैं। एक बालक अपने माता पिता के साथ बाजार जा रहा है। बालक इन्द्रिय रूप में है मन माता के रूप में है और बुद्धि के रूप में पिता है। बालक ने कोई लुभावनी वस्तु देखी। जिसे प्राप्त करने के लिए माता से कहा तो माता ने अपनी स्वीकृति

दे दी तथा उसने पिता से उस वस्तु को दिलाने के लिए कहा परन्तु पिता उस वस्तु की अच्छाई बुराई के बारे में जानता है। उसने वस्तु दिलाने से मना कर दिया। बालक रोता है मां भी प्रयास करती है परन्तु पिता का अंतिम निर्णय है। बालक अर्थात् इन्द्रियां माता अर्थात् मन तो चाह रहे हैं पर पिता अर्थात् बुद्धि इसको नकारती है तो बालक उस लुभावनी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता हैं। यदि बालक ने रो रो कर माता पर दबाव डाला और इसे मना लिया तो माता भी पिता पर दबाव डालती है और अंततः वह वस्तु पिता को खरीदनी ही पड़ती है। लुभावनी वस्तु में जो कुछ लाभ हानि है वह पुत्र भी भोगता है, माता भी भोगती है तथा पिता को भी भुगतना पड़ता है। मान लीजिए कि वह लुभावनी वस्तु जो खरीदी गयी थी वह रास्ते में ही टूट फूट गयी तो बालक भी दुःखी होता है और मां भी दुःखी होती है क्योंकि उसने प्रयास किया और पिता का धन खर्च हुआ। इस कारण वह भी दुःखी होता है। इसी प्रकार कामना का सम्बन्ध तीनों इन्द्रिय, मन बुद्धि से है और तीनों के स्थान पर कामनाऐं रहती है।

श्री भगवान इसीलिए कह रहे हैं **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते** कामनाओं के रहने का स्थान इन्द्रियां हैं। कामनाऐं मन में भी रहती हैं। कामनाऐं बुद्धि में भी रहती हैं अर्थात् कामना का निवास स्थान मन बुद्धि और इन्द्रियां हैं। हम जब किसी घर में रहते हैं तो उसमें आते हैं, जाते हैं, और ठहरते हैं। यह तीनों क्रियाऐं होती हैं। रहने में तीन क्रियाऐं हैं। घर में ठहरने की और घर से बाहर जाने की और घर में आने की। भगवान ने कहा कि कामनाऐं इन्द्रियां मन तथा बुद्धि में रहती है। कामना इन्द्रिय में आयी क्योंकि पहले आने की क्रिया होती है फिर कामना ने इन्द्रियों में ठहराव किया यह दूसरी क्रिया हो गयी। तत्पश्चात् कामना पूर्ति के उपरान्त वह बाहर चली गयी। यह तीसरी क्रिया हो गयी। कामनाऐं इन्द्रिय में आती है। मन में भी आती हैं। बुद्धि में भी आती है। कुछ कामनाऐं मन में पहले आती हैं लेकिन वह इन्द्रियों में आयीं होंगी या बुद्धि की कल्पना में रही होंगी। यह सिद्धान्त है जो भोग हमने पूर्व में भोगे हैं। उससे हमारा संसर्ग हुआ है। वह स्मृति में संचित रहती हैं, मन में जब कभी उनका स्मरण आता है तो समस्त भोगी गयी स्मृतियां एक एक करके प्रकट होने लगती हैं। चित्रपट अर्थात् सिनेमा की तरह से चलती है। मन उसे देखा करता है और आनन्दित हुआ करता है। यह पूर्व की अर्थात् अतीत की कामनाऐं जो पुनः स्मृति में आ जाती हैं, मन उनसे आनन्दित होता रहता है। बुद्धि भी उसमें तन्मय हो जाती है और वह मन को मानसिक भोग भोगने की स्वीकृति

प्रदान करती हैं। क्योंकि बुद्धि जानती है कि मन क्या कार्य कर रहा है ? बुद्धि मन को जानने वाली है। मन की गतिविधि को जानने वाली है। जिस प्रकार एक छोटा बालक है। वह माता की दृष्टि में रहता है और माता उस पर दृष्टि रखती हैं। कभी–कभी वह कहीं छिपकर माता की दृष्टि से गायब हो जाता है तब माता उसे तुरन्त खोजती है कि बालक कहां है ? ऐसी ही स्थिति मन तथा बुद्धि की है। मन चालाक पुत्र है। माता ज्ञानवान बुद्धि के रूप में है। कामनाऐं आती हैं, रूकती हैं या नहीं रूकती हैं। भगवान कहते हैं कि कामनाओं का निवास स्थान इन्द्रिय मन तथा बुद्धि हैं। इन्द्रियों में देखकर अनुभव करके कामनाऐं रूकती हैं। मन में बुद्धि के माध्यम से स्वतः मन में आती हैं और स्मृति से भी मन में आ जाती हैं। यह कामनाऐं रूकती हैं रुकी रह सकती हैं अर्थात् वास कर सकती हैं। बुद्धि में इन्द्रियों के माध्यम से मन से होती हुई बुद्धि में रुक जाती है। जैसे हम कोई अति मधुर गीत सुन रहे हैं तो हमारी श्रवण इन्द्रिय पहले उसे ग्रहण करती है। मन भी उसमें रम जाता है और मन के साथ निश्चयात्मक बुद्धि भी रूक जाती है। इस स्थिति में तीनों में कामना का वास हो रहा है। इन्द्रिय, मन का, बुद्धि का तारतम्य है, क्रमिक स्थितियां हैं। सैद्धान्तिक रूप से कामनाओं के ठहराव के स्थान हैं। भगवान का यह कथन है कि कामनाऐं इन्द्रिय मन तथा बुद्धि में ठहर जाती हैं। यह कथन महत्वपूर्ण है। इस कथन को हमें अपने शरीर में देखना चाहिए। प्रयोगात्मक रूप से परखना चाहिए। हमें कामनाओं के आने और ठहरने तथा जाने पर दृष्टि रखनी चाहिए। साधना के क्रम में जानना पड़ता है कि हमारी साधना का छिद्र कहां पर है ? और कामनाऐं हमें कैसे प्रभावित कर रही हैं ? इसी को रोकने और विजय प्राप्त करने का नाम साधना है। साधना की उत्कृष्टता में यह सब स्वतः हो जाता है। साधक कामनाओं को रोक देता है। यही साधक की विशिष्टता है।

कामनाऐं जब इन्द्रिय मन बुद्धि में आ जाती हैं। तो ज्ञान आवृत हो जाता है। ढक जाता है, प्रत्येक इन्द्रिय मन तथा बुद्धि एक काल में एक ही कार्य कर सकते हैं। कामनाऐं जब इन्द्रिय मन बुद्धि में आती हैं तो तीनों शक्तियां कामनाओं में व्यस्त हो जाती हैं। कामनाओं के उपभोग में व्यस्त हो जाती हैं। कामनाओं का क्रम है एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् इस क्रम से जब आती है तो ज्ञान स्वतः आवृत हो जाता है। एक काल में कामनाओं का चिंतन होगा अथवा ज्ञान का। एक तथ्य ज्ञान को आवृत करने वाला है। इन्द्रिय मन बुद्धि में कामनाऐं हैं तो ज्ञान स्वतः समाप्त हो जाता है। भगवान ज्ञान के आवृत होने को कहते हैं। **एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्** अर्थात् इनके द्वारा ज्ञान

आवृत हो जाता है और देहधारी मोहित हो जाता है। जब मनुष्य का ज्ञान अर्थात् सद्विवेक ढक जाता है तो मनुष्य का मोहित होना स्वाभाविक है।

कामनाओं से मनुष्य का ज्ञान जब आवृत हो जाता है तो मनुष्य मोहित हो जाता है और वह मोहे हुए के समान आचरण करता है। किसी भी वस्तु को हम जब देखते हैं या उसके बारे में सुनते हैं। यदि वह वस्तु हमारी इन्द्रियों तथा मन बुद्धि में प्राप्त करने की इच्छा है तो हम उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना आरम्भ कर देते हैं। यह क्रम चलता रहता है। समाप्त नही होता है, पुनः पुनः वस्तुओं को देखना उनकी प्राप्ति की इच्छा कामना करना है। इससे हमारा ज्ञान तो आवृत हो ही जाता है। साथ ही हमारा उस वस्तु के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए श्री भगवान कहते हैं **एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्** अर्थात् इन्द्रियां मन बुद्धि में कामनाओं का वास हो जाने पर ज्ञान आवृत हो जाता है और हम मोहित हो जाते हैं।

श्री भगवान ने इस क्रमिक प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। पहले कामनाऐं इन्द्रिय मन बुद्धि में आ जाती हैं और वहां अपना वास स्थान मान लेती हैं। कामनाओं के आने तथा मन बुद्धि इन्द्रियों में ठहरने से हमारा जो वास्तविक ज्ञान है अर्थात् हमें जो कर्तव्य अकर्तव्य का उचित अनुचित का बोध कराता है वह ढक जाता है ज्ञान के आवृत होने से हम मोहित होकर मनमाना आचरण करने लगते हैं। यह कामनाओं की प्रबलता है जो हमें ऐसा करने को उद्वेलित करती हैं, बाध्य करती हैं। कामनाओं की प्रेरणा से यह सब कार्य होता है। कामनाओं की प्रबलता तथा हमें बाध्य करने की उनकी शक्ति इस श्लोक में स्पष्ट होती है। इस प्रक्रिया का अपने शरीर पर हम व्यवहारिक प्रयोग करें देखे कि जो कामनाऐं हमारी इन्द्रियों तथा मन बुद्धि में आ रही हैं। बसी हुई हैं, घर कर गई हैं उनसे हमारा ज्ञान किस प्रकार ढक जाता है ? हमारी विवेक शक्ति किस प्रकार से क्षत विक्षत हो जाती है ? हम कामनाओं से घिरे हुए किस प्रकार से ऐसा आचरण करने लगते हैं ? जो हमें नहीं करने चाहिए। यह कामनाओं की प्रबलता है। जिस प्रकार हम गरिष्ठ भोजन करते हैं तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर देखते हैं। विष का प्रभाव भी सम्पूर्ण शरीर पर देखा जाता है। उसी प्रकार हमारी कामनाओं से सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है। हम ऐसे ऐसे कार्यो की ओर उन्मुख हो जाते हैं जो हमें कदापि नहीं करने चाहिए।

श्री भगवान ने आगे कहा **तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य** अर्थात् सर्वप्रथम इन्द्रियों

को संयमित करें। इससे पूर्व के श्लोक में भी श्री भगवान ने यह कहा था कि इन्द्रिय मन तथा बुद्धि कामना के वास स्थान कहे जाते हैं। परन्तु इन्द्रियों के संयमन उनको नियंत्रित करने से कामना नियंत्रित होती है। भगवान इस स्थल पर ऐसा कह रहे हैं कि कामनाऐं प्रथमताः इन्द्रियों में आती हैं। हमारी आंखे सुन्दर वस्तु को देखकर उसको प्राप्त करने की कामना करती हैं। यदि हम सुन्दर वस्तु को देखने का कार्य समाप्त कर दें तो यह नेत्र नामक इन्द्रिय का संयमन हो जायेगा। जब हमारी आंखे देखेंगी नहीं तो उसको पाने की कामना उत्पन्न भी नहीं होगी। जब किसी लुभावनी वस्तु को एक बार देखते हैं तो वहां मन चला जाता है। बुद्धि भी उस लुभावनी वस्तु को देखने का तथ्य संज्ञान में लेती है। मन उसे देखने की पुनः इच्छा करता है। बुद्धि उसकी स्वीकृति देती है तो नेत्र उसे पुनः देखते हैं और यह देखने का क्रम चल पड़ता है। कभी कभी हम इस लुभावनी वस्तु को देखने के कार्य में इतना तन्मय हो जाते हैं कि नेत्र अपना कार्य करते हैं मन तथा बुद्धि ही उनमें एकाकार सी हो जाती है। यह लुभावनी वस्तु को देखने का कार्य सतत चलने पर उसके प्रति हमारी कामनाऐं उत्पन्न होती हैं। यह कार्य मन तथा बुद्धि बड़ी बुद्धिमत्ता से करते हैं। भगवान कहते हैं नेत्रेन्द्रिय को संयमित करें किसी लुभावनी वस्तु पर दृष्टि पड़ते ही अपनी दृष्टि पुनः उस स्थान पर न ले जाये और मन को बुद्धि के माध्यम से संयमित कर दें। बुद्धि दृढ़तापूर्वक कहे कि नहीं उस आकर्षक वस्तु को नहीं देखना है। बुद्धि की यह कठोरता ही शीघ्र ही बलवती होती है। नेत्रेन्द्रिय भी संयमित हो जाती है। मन तथा बुद्धि संयमित हो जाते हैं।

आज के समाज में यह तथ्य प्रचलित है कि आंखे देखने के लिए बनी हैं। उनसे हम कुछ भी देखे। कुछ भी देखना हमें कामनाओं के संजाल में डालता है। कुछ भी देखकर हम नेत्रेन्द्रिय को देखने की छूट ही नहीं देते हैं वरन् अपने मन में कामनाओं का भंडार भर लेते हैं। तरह तरह की पृथक्–पृथक् प्रकार की कामनाऐं जन्मती हैं। मन तथा बुद्धि कामनाओं का जाल बुन देते हैं। इस प्रकार एक बीमारी का एक कीटाणु शरीर में अनेक कीटाणु उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार किसी आकर्षक वस्तु को पुनः पुनः देखने से इतनी कामनाऐं जन्म ले लेती हैं कि हम स्वतः ही कामनाओं के जाल में पूरी तरह से उलझ जाते हैं उससे हम निकल नहीं पाते हैं। यह उलझाव बढ़ता जाता है। इस कारण यह विचार कि आंखे देखने के लिए बनायी गयी है। ठीक नहीं है। इससे हमें पर्याप्त हानि है। हमें नैतिक रूप से अपने साधन की लाभकारी वस्तुऐं ही देखनी चाहिए।

नेत्रेन्द्रिय के पश्चात् रसना नामक इन्द्रिय की ओर दृष्टि करें तो पायेंगे कि हम अनियमित रूप से भोजन करते हैं। जब अधिक सुस्वादु भोजन करने लगते हैं तो हमारी कामनाऐं प्रभावित होती है। एक के पश्चात् एक भोग पर भी हमारी दृष्टि जाती है। भगवद्गीता तथा अन्य शास्त्र युक्त भोजन की आज्ञा देते हैं। युक्त आहार, युक्तविहार और कर्मो में युक्त चेष्टा हमें सांसारिक भोगों से बचाती है। ऐसी स्थिति में हमारा भोजन परमित हो जाता है, जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी में संतुष्ट रहने वाला सीमित भोजन ग्रहण करने वाला, निर्जन स्थान में रहने वाला, शान्तमैत्री, करुणायुक्त आत्मवान होना चाहिए। ऐसा श्रीमद्भागवत् में वर्णन आता है। रसनेन्द्रिय को संयमित करके हम इन्द्रियों को संयमित करने का कार्य करते हैं। अनावश्यक भोजन करना उसकी अभिलाषा करना, कामनाओं को उत्पन्न करना है। क्योंकि हमारे भोजन पर ही हमारी शारीरिक स्थिति आधारित है। एक तो परमित भोजन करना तथा सात्त्विक भोजन करना हमारी शक्ति को बस में करने का एक भाग है। श्री भगवान ने तीन प्रकार के भोजन का उल्लेख किया है। ये तीन प्रकार के भोजन क्रमशः निम्न प्रकार हैं।

1– सात्त्विक भोजन :– आयु की वृद्धि वाले, सत्त्व की वृद्धि वाले, बल और आरोग्य देने वाले, सुख तथा प्रसन्नता को प्रदान करने वाले, स्थिरता देने वाले, हृदय को शक्ति प्रदान करने वाले रसयुक्त चिकने पदार्थ सात्त्विक भोजन हैं।

2– राजसी भोजन :– अत्यंत कडुवा, अत्यंत खट्टा, अत्यंत नमकीन, अत्यंत गरम, अत्यंत रूखा, दाह उत्पन्न करने वाले भोजन राजसी होते हैं, जिनसे दुःख, शोक, और रोग उत्पन्न होता है।

3– तामसी भोजन :– रसो से रहित, सड़ा हुआ प्रतीत होने वाला, दुर्गन्ध युक्त, बासी, झूठा, अपवित्र, मांस आदि तामसी भोजन है उनके सेवन से मनुष्य दुष्कर्मो में लग जाता है।

श्री भगवान ने कहा **तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य** अर्थात् पहले तुम इन्द्रियों को वश में करो। अपनी नेत्रेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय की क्रियाविधि को देखो। इसी प्रकार त्वचा, नासिका, श्रवर्णेन्द्रिय का भी विषय समझना चाहिए। भगवान शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत किया है और विषयों की दुरुहता को परिभाषित किया है और यह कहा अपने अपने गुणों के अनुसार पांच प्रकार के विषयों में मात्र एक में बंधा हुआ हिरण, हाथी, पंतिगा, मछली तथा भौरा अंततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है फिर पांच विषयों में फंसा हुआ

मनुष्य किस प्रकार से अपना बचाव कर सकता है ?

मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के फंसाव में तो फंस जाता है इसमें हमारी ज्ञानेन्द्रियां ही प्रमुख हैं। भगवान ने इसी कारण इन्द्रियों को संयमित करने के लिए कहा है। हमारा विशेष कार्य यह है कि हम इन्द्रियों की कार्यविधि को गहराई से देखें। प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य को सूक्ष्मता से देखें तथा यह जानने का प्रयास करें कि वह इन्द्रिय हमें किस प्रकार से कामनाओं की ओर बलात् खींचती है। हम भी बलात् उसी की ओर खिंचते हैं और अपने को उसमें संलग्न कर लेते हैं। इस संलग्नता की क्रिया पर दृष्टि रखे। संलग्नता के पूर्व भी हम अपने को उस विषय से पृथक् कर ले् यह कोई सहज कार्य नहीं है। निरन्तर हमें दृष्टि करनी पड़ती है तभी भगवान के शब्दों **तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य** को हम समझ सकते हैं तथा उसके व्यवहारिक रूप को जानकर उसको नियंत्रित कर सकते हैं।

श्री भगवान ने 41वें श्लोक के उत्तरार्ध भाग में यह कहा **पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्** अर्थात् ज्ञान तथा विज्ञान के विनाशक महान पापी काम को निश्चित ही समाप्त करें। कामना से ज्ञान तथा विज्ञान का विनाश हो जाता है तथा यह महापापी है। साधक जिसके सहारे साधना के पथ पर चलता है उसे ज्ञान कहते हैं तथा ज्ञान के सहारे ही परमात्मा की अनुभूति होती है। इस अनुभूति को विज्ञान कहा जाता है। कामना ज्ञान तथा विज्ञान दोनों को नष्ट कर देता है। इस प्रकरण को हमें समझना पड़ेगा। कामना किस प्रकार से साधक को अनुभूति के मार्ग से पृथक् कर देती है यह समझना आवश्यक है। यह व्यवहारिक तथ्य है और इसका एक प्रयोगात्मक स्वरूप है।

यदि हम स्वच्छ जल में कोई रंग घोलते हैं तो हमारा जल उस रंग का प्रतीत होता है। जिस जिस रंग को जल में घोला जाता है। वैसा ही जल प्रतीत होता है। यदि हम लाल रंग को जल में घोल दें तो हमें जल लाल प्रतीत होगा और हम बता सकेंगे कि लाल रंग घोला गया है। यदि हम काले रंग को जल में घोल दें तो हम बता सकेंगे कि जल में काला रंग घोला गया है। रंग का प्रकार हम सभी जल का प्रकार देखकर जान लेते हैं। यदि हम स्वच्छ जल में पांच प्रकार के रंग घोल दें तो जल का रंग पूरी तरह से अस्पष्ट हो जायेगा और हम यह नहीं बता पायेंगे कि कौन सा रंग घोला गया है तथा किस किस प्रकार के रंग घोले गये है। जल पूरी तरह से दूषित हो जायेगा। इसी प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय हैं और पृथक् पृथक् प्रकार की कामनाऐं हैं। हमारे अंतःकरण को

पूरी तरह से प्रदूषित कर देती हैं। हम इतना प्रदूषित हो जाते हैं कि हम अपना वास्तविक स्वरूप ही धूमिल कर बैठते हैं।

कामनाओं के प्रदूषण में हमारा ज्ञान जिसमें हम साधना पथ खोजते हैं वह धूमिल हो जाता है और साधना पथ की ओर हम नहीं बढ़ पाते हैं। ज्ञान पर पांच प्रकार की कामनाओं का प्रभाव पड़ता है तो ज्ञान नष्ट हो जाता है अथवा इसको इस प्रकार कहें कि ज्ञान धूमिल हो जाता है। हमें स्पष्टता की प्रतीती नहीं होती है। साधना पथ धूमिल हो जाने से परमात्मा की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं। जिस प्रकार बादलों के प्रकोप से सूर्य ढक जाता है उसी प्रकार कामनाओं के प्रकोप से ज्ञान ढक जाता है। परमात्मा के आभास का क्रम भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कामनाऐं ज्ञान तथा विज्ञान की विनाशक हैं।

श्री भगवान ने कामनाओं को समाप्त करने का आदेश दिया है। समस्त प्रकार की कामनाऐं निश्चित ही समाप्त करें। क्योंकि यह महापापी है। महापापी कहने का अभिप्राय है कि हमारे ज्ञान तथा विज्ञान का विनाश जिससे होता है वह महापापी ही होगा। हमारा कल्याण का मार्ग जिससे अवरूद्ध हो जाये वह निश्चित ही पाप पूर्ण कार्य है। कामनाओं को मारने का कार्य साधक को स्वयं करना पड़ता है। साधक या सामान्य व्यक्ति में यही अन्तर रहता है। साधक कामनाओं को खोज खोज कर उन्हें मारता रहता है और सामान्य व्यक्ति उनमें उलझा रहता है। कामनाओं को मारने का प्रयास ही ज्ञान की प्राप्ति का आरम्भ है। जितनी कामनाऐं कम होती जायेंगी उतना आपका ज्ञान प्रखर होता जायेगा। सूर्यवत् बढ़ता जायेगा। कामनाओं के समापन से स्वतः ज्ञान का प्राकट्य होता है। साधना पथ पर आगे चलने का आश्रय मिलता है। परमात्मा की अनुभूति होती है। इस कारण साधक को कामनाओं के समापन का कार्य करना चाहिए। अपनी शक्ति भर प्रयत्न करके कामनाओं समाप्त करने का प्रयास करना ही अभीष्ट है।

कामना की प्रबलता तथा कामनाओं की प्रखरता और उसके प्रभाव की व्याख्या में श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक कहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–बयालिस व तैतालिस।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।

पदच्छेद :–

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः,

मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः।।

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना,

जहि, शत्रुम्, महाबाहो, कामरूपम्, दुरासदम्।।

भावार्थ :– इन्द्रियों को पर कहा जाता है। मन इन्द्रियों से परे है। मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे वह कामना है। इस प्रकार कामना को बुद्धि से परे समझकर स्वयं को स्वयं के वश में करके इस कामना रूपी शत्रु का हनन कर दें।

व्याख्या :– एक सामान्य व्यक्ति इन्द्रियों, स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर, प्राण, मन बुद्धि जीवात्मा के बारे में नहीं जानता है। वह स्थूल शरीर को देखकर उसी के साथ व्यवहार करता है। वह शरीर को देख रहा है। इसी कारण उस शरीर को मानता है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे के शरीर मनुष्य को देखता है। संसार को देखता है। इस कारण शरीर और संसार से व्यवहार करता है और यह समग्र सांसारिक व्यवहार इसी कारण चलता है। शरीर की भी मृत्यु होती है। उसका अंत होता है। संसार भी समय के साथ परिवर्तित हो जाता है। स्थूल शरीर के अतिरिक्त अधिकांश मनुष्य कुछ जानने के इच्छुक नहीं होते। अधिकतर मनुष्य प्रातः जागते हैं। शौच आदि से निवृत्त होकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करते है और दिन भर संसार में प्रवृत्त रहकर रात्रि में भोजन करके सो जाते हैं। एक पशु भी कुछ इसी प्रकार से व्यवहार करता है। इसलिए एक सामान्य व्यक्ति और पशु में विशेष अंतर प्रतीत नहीं होता। अधिकांश मनुष्यों का व्यवहार इस जगत में पशुवत् ही रहता है।

आपने कई बार मांस के एक टुकड़े की छीना झपटी में कई कुत्तों को आपस में लड़ते हुए देखा होगा। मांस का एक टुकड़ा है, प्रत्येक कुत्ता उसे पाना चाहता है और वह पूरा प्रयत्न भी करता है। अपनी शक्तिभर मांस के टुकड़े को पाने का प्रयास करता है।

इसे आप पशु प्रतियोगिता भी कह सकते हैं। मांस के टुकड़े कुछ अधिक हों तो कई कुत्ते उन्हें पाना चाहते हैं एक से अधिक पाना चाहते हैं और उसी के लिए संघर्ष करते हैं। आज के मानव की भी कुछ ऐसी ही स्थित है। वह प्रतियोगिता में अधिक सांसारिक वस्तुऐं पाने का इच्छुक है। अनेक सांसारिक वस्तुऐं एकत्र कर समाज में अलग दीखने तथा पहचान बनाने की चेष्टा करता है और इसी के लिए संघर्ष करता है। यह संघर्ष जीवन पर्यन्त रहता है। वह दूसरों से सांसारिक भोग की वस्तुओं को झपटना चाहता है। यह वैसी ही स्थिति है जैसी पूर्व में वर्णित की गयी है।

श्री भगवान कहते हैं कि कामनाऐं प्रबल हैं। सबसे अधिक प्रबल हैं, प्रखर हैं, प्रभावशील हैं। इसी की व्याख्या में श्री भगवान ने **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः** कहा है। अर्थात् इस शरीर से इन्द्रियां प्रबल हैं और इन्द्रियों से भी मन श्रेष्ठ है। साधारणतः शरीर जो दीखता है वैसा साधारण नहीं है। सामान्य से दिखने वाले शरीर की अपनी उत्कृष्ट विशेषताऐं हैं। श्री भगवान ने इसमें इन्द्रियों को विशेषता प्रदान की है। इन्द्रियों का प्रमुख कार्य है कि बाह्य संसार में जो कुछ हो रहा है उसमें जो हलचल हो रही है उसे ग्रहण करे तथा ग्रहण करके उसे मन और बुद्धि की संज्ञानता में ले आये। स्थूल शरीर यह कार्य नहीं कर सकता। मन बुद्धि के बिना इन्द्रियों की भी कल्पनाशीलता के सहारे हम सभी सांसारिक स्थिति का अनुमान लगा लेते हैं। भगवान ने इसी कारण इन्द्रियों को स्थूल शरीर से श्रेष्ठ कहा है। इन्द्रियां चूंकि सूक्ष्म शरीर का अंश हैं। भगवान शंकराचार्य ने स्थूल और सूक्ष्म शरीर की व्याख्या करते हुए कहा–

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्।

पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः।। 89।।

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च

प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।

बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी

पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः।। 98।।

भावार्थ :– त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा तथा अस्थियों का संजाल एवं मल तथा मूत्र से पूर्ण यह स्थूल शरीर निकृष्ट है। वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां, श्रोत, चक्षु, त्वचा, रसना, कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पांच प्राण। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि ये पांच महाभूत। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ये चार अंतःकरण, अविद्या, काम तथा कर्म का समूह लिंग या सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

श्री भगवान ने आगे कहा कि **मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः** अर्थात् मन से परे बुद्धि है। बुद्धि से परे कामना है। स्थूल शरीर से इन्द्रियां और इन्द्रियों से परे मन है। भगवान ने श्रेष्ठता का जो क्रम वर्णित किया है उसमें निम्न क्रम हैं–

➡ स्थूल शरीर → इन्द्रियां → मन → बुद्धि → कामनाऐं।

इन्द्रियां जो विषय वस्तु ग्रहण करती हैं उसे मन तत्काल जान लेता है। मन की संज्ञानता के कारण ही वह श्रेष्ठ है। हमने यदि किसी वस्तु को देखा तो इस दर्शन में मन हमारा साथ देता है। पहले इन्द्रियां देखती है। तत्पश्चात् मन की संज्ञानता तत्काल उसे अपने में ले लेती है। इन्द्रियों के बिना भी मन मानसिक रूप से स्मृति में आये हुए भोगों को भोगकर आनन्दित हो जाता है। मन यदि साथ न दे तो इन्द्रियां अकेले किसी विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। पहले इन्द्रियां विषय को पकड़ती हैं तत्पश्चात् मन का आश्रय लेकर वह उसे ग्रहण करती हैं। इन्द्रियां मन के आदेशों का पालन भी करती हैं। इस कारण मन इन्द्रियों का स्वामी है और इन्द्रियां उसकी सहचरी हैं। स्वामीपने तथा सहचरी भाव से भी मन श्रेष्ठ है। इन्द्रियों की अपेक्षा मन बहुत गतिशील हैं, द्रुतगामी है। इस कारण भी मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। मन तथा बुद्धि अंतःकरण चतुष्ट्य का भाग माना जाता है। मन विचारों, संकल्पों को उत्पन्न करने वाला है। विचार तथा संकल्प जो भी उत्पन्न होते हैं उन पर बुद्धि की दृष्टि रहती है। मन द्वारा उपजाये गये विचारों को बुद्धि परीक्षण करती है। यह परीक्षण तथा निरीक्षण का कार्य भी अत्यंत तीव्र गति से होता है। मन के विचारों संकल्पों का निरीक्षण करने के कारण बुद्धि श्रेष्ठ है। मन से विशिष्ट है यदि कोई विचार होता है तो बुद्धि उसे तत्काल जान जाती है और उसके प्रति नकारात्मक या सकारात्मक भाव प्रकट करती है। एक संयमित व्यक्ति का मन बुद्धि के नियंत्रण में रहता है तथा असंयमित मनुष्य की बुद्धि मन के साथ एकाकार होकर मन के अनुरूप कार्य करती है चूंकि बुद्धि मन को नियंत्रित कर सकती है। इसलिए श्री भगवान ने बुद्धि को मन से श्रेष्ठ कहा है।

इन्द्रियों के सहारे के बिना भी मन में विचार आते हैं। श्री भगवान ने मन को मानव शरीर में विशिष्टता प्रदान की है। पर उसे नियंत्रित करने के लिए बुद्धि को सृजित किया है। यदि बुद्धि न होती तो मन नियंत्रित न हो पाता। मन वैसे भी नियंत्रित नहीं रहता है। अपने प्रमथनशील और चंचल प्रभाव के कारण द्रुत गति से चलता रहता है। जो विचार आते है वह सबके सब मन में ही आते रहते हैं। मन अत्यंत कल्पनाशील भी है। कल्पना करके भी विचार ले आता है तथा तत्काल विचारों का उत्पादक है। इस प्रकार कोई बड़ा यंत्र बहुत तेजी से कुछ वस्तुऐं उत्पन्न करता है और बिना अवरोध के कार्य करता है उसी प्रकार मन भी विचारों को बहुत तेजी से उत्पादित करता है। जागृत अवस्था के विचारों का उत्पादन बहुत द्रुत गति से होता है। हजारों विचारों का उत्पादक मन उसी प्रकार से असंख्य विचारों को तेजी से उत्पादित करता है। परन्तु वह बुद्धि द्वारा संयमित होने के कारण बुद्धि से निकृष्ट है और बुद्धि उससे श्रेष्ठ हैं। **मनसस्तु परा बुद्धिर्यो** का यही अर्थ है। श्री भगवान के कथन का यह अभिप्राय है कि बुद्धि मन से श्रेष्ठ है ं

इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि से कामनायें श्रेष्ठ हैं। कामनाओं की प्रबलता का आप स्वयं अवलोकन करें। जब इन्द्रियां किसी वस्तु को देखकर उसकी प्राप्ति की कामना करती हैं तो मन और बुद्धि की सहमति प्राप्त कर ली जाती है। इन्द्रियां मन तथा बुद्धि, कामनाओं की पूर्ति हेतु कार्य करने लगते हैं। स्थूल शरीर से कामना की प्राप्ति के प्रयास को क्रियान्वित किया जाता है। स्थूल शरीर पूरी लगन से कार्य करता है। ऐसा प्रतीत होता है। कामनाऐं अपनी प्रबलता को दिखाकर स्थूल शरीर सहित इन्द्रियों तथा मन तथा बुद्धि को संचालित कर रही हैं। मनुष्य जिसके निर्देश पर कार्य करता है वह स्वामी कहलाता है। कामनाओं के निर्देश पर स्थूल शरीर इन्द्रियां, मन बुद्धि कार्य करने लगते हैं। इसलिए कामनाओं की श्रेष्ठता स्थापित हो जाती है। कामनाओं को इसी कारण श्रेष्ठ कहा जाता है।

आज के शहरों में व्यस्तता, आपाधापी देखने योग्य है। प्रत्येक मनुष्य व्यस्त है। शहरों में व्यस्तता की स्थिति विशेष है। अब आप यह विचार करे कि मनुष्य व्यस्त क्यों है? प्रातः से रात्रि तक किस कारण अनेक प्रकार की चेष्टायें किया करता है ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिलेगा कि वह किसी भी प्रकार भी कामनाओं की पूर्ति में व्यस्त है। कामनाऐं चाहें छोटी हो अथवा बड़ी हों वह मनुष्य को व्यस्त रखती हैं। मनुष्य का स्थूल शरीर, इन्द्रियां, मन बुद्धि तेजी से पूरी तरह से कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है। यह कामनाओं की प्रबलता है। कामनाऐं जब उपजती हैं तो हम उनकी पूर्ति में लग जाते हैं और जब तक वह पूरी नहीं होती है तब तक हम सभी अथक प्रयास करते हैं। यहां तक कि इस प्रयास में नैतिकता और अनैतिकता का ध्यान नहीं रखा जाता है। आज के समय

में लोगों के अनेक अनैतिक व्यवसाय, कामनाओं की प्रबलता के कारण ही स्थापित हो गये हैं। लोगों को उत्पीड़ित करके, भय उत्पन्न करके, धन और प्रतिष्ठा की पूर्ति की जा रही है। यह सब कामनाओं की प्रबलता ही है। कामनाऐं बुद्धि से भी प्रबल हैं **परतस्तु सः** का अर्थ यही है।

श्री भगवान ने आगे कहा **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा** अर्थात् कामना को बुद्धि से श्रेष्ठ समझकर। आपने देखा होगा कि मनुष्य कड़ी धूप में भयंकर सर्दी, गर्मी और बरसात में भी कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रयत्न करता है किसी स्थान पर कोई वस्तु यदि बिना धन के मिलने लगे तो भीड़ एकत्र हो जाती हैं। कितनी भीड़ एकत्र होगी ? उसका अनुमान लगाना कठिन होगा। किसी आश्रम की ओर से कुछ गरीब असहाय लोगों को कोई सहायता दी जाती है तो वहां इतनी भीड़ एकत्र हो जाती है कि आपाधापी में दुर्घटनाऐं हो जाती हैं। यह कामनाओं की प्रबलता ही है जो बुद्धि पर नियंत्रण करके मनुष्य को काम में लगा देती हैं। मनुष्य को यह ज्ञान नहीं रहता है कि हमारा स्थूल शरीर जिसमें भगवान का अंश है वह श्रेष्ठ है तथा इस शरीर में ही इन्द्रियां मन बुद्धि जैसी विशिष्ट वस्तुऐं रखी गयी हैं। अपने अमूल्य शरीर को तुच्छ कामनाओं के संजाल में व्यस्त कर देना कामनाओं की प्रबलता का स्पष्ट प्रमाण है। श्री भगवान इसी तथ्य को समझाने के लिए **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा** कह रहे हैं अर्थात् इस तथ्य को भली प्रकार जान और समझ लें कि कामनाऐं बुद्धि से भी श्रेष्ठ हैं।

एक बहुत धनवान व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था में भी अनेक प्रकार की योजनाओं के संजाल बनाता है। उसके अधीन बहुत से कर्मचारी कार्य करते हैं वह अनेक परियोजनाओं पर कार्य करता है तथा नयी परियोजनाओं को जन्म देने की बात सोचता है। वह निश्चित जानता है कि उसका जीवन कुछ दिनों का है। फिर भी वह नवीन परियोजनाओं की स्थापना का मोह त्याग नहीं पाता। क्योंकि आर्थिक साम्राज्य खड़ा करने की उसकी कामनाऐं इतनी प्रबल हैं कि वे उसे वृद्धावस्था में भी शान्त नहीं रहने देती। निरन्तर कर्म में लगाये रहती हैं। भगवान कहते हैं कि आप इन्हीं कामनाओं की प्रबलता को समझे क्योंकि कामनाऐं बुद्धि से भी अत्यंत प्रखर और प्रभावशाली हैं। श्री भगवान ने इन शब्दों से साधक की ओर संकेत किया है कि कामनाओं की प्रबलता को समझकर और उन्हें बुद्धि से भी प्रखर माने।

श्री भगवान ने आगे कहा **संस्तभ्यात्मानमात्मना** स्वयं को स्वयं के वश में करके। भगवान कहते हैं कि नयी कामनाऐं करना छोड़िऐ। हमने बालकपन से वृद्धावस्था तक

असंख्य कामनाऐं की हैं उनका परिणाम क्या हुआ है ? कामनाओं के संजाल में हम जैसे रहे यह हम सभी जानते हैं। हमने बहुत प्रयत्न से पर्याप्त सम्पत्ति और ऐश्वर्य एकत्र कर लिया हो पर हमने जो भी एकत्र किया है वह सबका सब हमारे साथ जाने वाला नहीं है। यहीं रहने वाला है। हमारे पूर्वजों ने जो कामनाऐं की थी उसके फलस्वरूप उन्होंने जो कुछ एकत्र कर पाया था वह यहीं रह गया। वह अपनी एकत्र की गयी वस्तुओं सम्पत्ति धन आदि को साथ नहीं ले जा पाये। हम भी नहीं ले जा पायेंगे। हमने कामनाओं के वशीभूत होकर आज तक जो भी एकत्र किया है वह सब अंततः हमारे काम नहीं आयेगा। इस कारण हमे स्वयं को स्वयं के वश में करना है परन्तु हम कामनाओं के वश में हो जाते है। इस कारण कामनाओं का परित्याग करके स्वयं को संयमित करना पड़ेगा। हम चाहेंगे तो कामनाऐं उत्पन्न हो सकेंगी और नहीं चाहेंगे तो कामनाऐं समाप्त हो जायेंगी। मनुष्य की आवश्यकताऐं असीमित हैं। साधक उन आवश्यकताओं को सीमित करता जाता है। सामान्यतः प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर बहुत सी वस्तुओं को एकत्र करने की आकांक्षा करता है और यह आकांक्षा दिन प्रतिदिन बलवती होती जाती है। हमारा कामनाओं से नियंत्रण समाप्त हो जाता है। यह स्वयं को कामनाओं के जाल में उलझाना है।

साधक के लिए श्री भगवान निर्देश देते हैं कि अपने को अपने वश में कर लें। सामान्य व्यक्ति भी यदि साधना के पथ पर चलना चाहता है तो वह भी अपनी कामनाओं को नियंत्रित कर ले। अब हमें कुछ नहीं चाहिए जो कुछ है वह पर्याप्त है। उसी से जीवन की यात्रा तथा शरीर की यात्रा तय करनी है तो यह **संस्तभ्यात्मानमात्मना** कहा जाएगा।

प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है। वस्त्र पहनता है, आवास भी रखता है। चाहें वह धनी व्यक्ति हो या सामान्य श्रेणी का हो। यदि हम यह विचार कर लें कि जो स्थिति हमारी है वह ठीक ही है तो हमारी शरीर यात्रा ठीक से चला करती है और नवीन कामनाऐं नहीं उपजती है। नयी कामनाओं का उत्पन्न न होना, विचार में न आना, नई कामनाओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना **संस्तभ्यात्मानमात्मना** कहा जाता है। भगवान के कथन का यही अभिप्राय है।

श्री भगवान ने अन्त में कहा **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्** अर्थात् कामना के स्वरूप में प्रकट दुष्तर शत्रु को समाप्त करे। श्री भगवान ने इन शब्दों से मनुष्य को आदेशित किया है कि कामनाओं को शत्रुवत् समझकर उन्हें मारें। इस आदेश पर जब हम विचार करेंगे तो पायेंगे कि हम साधन पथ पर आरूढ़ होना चाहते हैं तो हमें यह देखना पड़ेगा कि हमारी अनिवार्य आवश्यकताऐं क्या है ? उन आवश्यकताओं को दृष्टिगत्

रखकर ही हम व्यवहार करें। जैसे आज कई महानुभावों ने असंख्य वस्त्र एकत्र कर रखे हैं और असंख्य जीवन की विलासतापूर्ण वस्तुऐं एकत्र कर ली हैं। इससे हम कामनाओं को बढ़ावा देते हैं। ऐसी स्थिति में हमें एकत्रित की गयी विलासिता की वस्तुओं को उपभोग करने का समय ही नहीं मिलता। हम निरन्तर उसमें संलग्न हो जाते हैं। यह कामनाओं का विकृत स्वरूप है। श्री भगवान ने ऐसी ही कामनाओं को मारने का उपदेश दिया है। जीवन में अनिवार्य आवश्यकताओं का चुनाव हम स्वयं कर सकते हैं। हमारे लिए क्या वस्तुऐं अनिवार्य हैं ? हम उनका चयन कर लें तो कामनाऐं स्वतः ही नियंत्रित होने लगती हैं। धीरे–धीरे यह प्रक्रिया बढ़ती है। वस्तुऐं कम होती हैं। नयी वस्तुऐं नहीं लायी जाती हैं तो कामनायें स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। अपने आप पर नियंत्रण करने का यही उपाय है। उत्तम साधन यही है कि जो हमें अनुपयोगी वस्तु प्रतीत हो उसको हम तत्काल समाप्त करें। यही कामना के नियंत्रण का उपाय है। इससे धीरे–धीरे समस्त कामनायें समाप्त हो जाती है।

श्री भगवान ने अपने को संयमित करके कामनाओं को मारने हेतु आदेश दिया है। भगवान के आश्रय से ही तत्काल शीघ्रातिशीघ्र कामनाओं का समापन होता है। संसार में प्रियता से कामनाऐं बढ़ती हैं। अर्थात् अध्यात्म के प्रति लगाव होने से कामनाऐं कम होती जाती है। यह भी एक उपाय है। कामनाओं के मारने का, कामनाओं को संयमित करने का। सीमित करने का कार्य साधक को स्वतः करना पड़ता है। साधक जब उत्कृष्टता की ओर बढ़ जाता है उसका सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह और लगाव समाप्त हो जाता है। वह संसार से सम्बन्ध नहीं चाहता है। संसार से सम्बन्ध न चाहने से उसकी कामनाऐं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। संसार के प्रति मोह समाप्त हो जाये तो जानना चाहिए कि कामनाओं का परित्याग हो रहा है।

श्री भगवान के इस आदेश का प्रत्येक व्यक्ति को, विशेष कर साधकों को पालन करने का प्रयास करना चाहिए। काम क्रोध ही पापके मूल हैं। इसलिए हमें कामना तथा क्रोध और उसकी उत्पत्ति के कारणों का त्याग करने का प्रयास करना चाहिए और इस कार्य में हमे निरन्तर लगे रहना चाहिए। यही श्री भगवान के शब्दों का भाव है।

ऊँ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽयायः।।

ऊँ तत्सत् इन परमात्मा के नामों से श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद ब्रह्मविद्या तथा योग शास्त्र के कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय की व्याख्या 'गीताज्ञान' के चौथे खण्ड के रूप में समाप्त हुई।